विवेक के रंग

सम्पादक

डॉ० देवीशंकर अवस्थी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–२२१

सम्पादक एवं नियामक :

लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No. 221

VIVEK KE RANG

(Book Reviews)

Edited by

Dr. DEVISHANKAR AVASTHI

Bharatiya Jnanpith

Publication

First Edition 1965

Price Rs. 7.00

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रकाशन

प्रधान कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

विक्रय केन्द्र

३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण १९६५

मूल्य ७.००

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-५

गुरुवर
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
को

क्रम

एक प्रामाणिक अनुभूति और

बृहत्तर माध्यमकी खोज

यथार्थकी पहचान

• अनुभवका अपनापन

रंग और व्यक्ति

विवेक के
रंग

भूमिका लिखनेमें मुझे बेहद आलस लगता है। परिणाम है कि पिछले साल-भर से प्रस्तुत संकलनकी पाण्डुलिपि लगभग तैयार पड़ी है, पर तकाज़ोंके बावजूद प्रकाशनार्थ नहीं दी जा सकी — भूमिका लिखनी थी न! पर इस आलस्यसे एक बड़ा भय सामने आया — हिन्दी-प्रकाशनोंकी गतिके कारण हर महीने अच्छी किताबें मिलनेकी तो आशा ही की जा सकती है पर पुस्तक-समीक्षाएँ तो अकसर मिल जाती हैं। अतएव इस प्रकारके संकलनमें निरन्तर जोड़-तोड़, घटा-बढ़ीकी समस्या उठने लगती है। मैंने स्वयं कमसे कम पन्द्रह समीक्षाएँ इन दिनों इस संकलनमें जोड़ी या घटायी हैं। इस निरन्तर परिष्कार-प्रक्रियासे घबराकर ही इस पुस्तक-समीक्षा-संकलनकी भूमिका लिखनेका आलस तोड़ सका। यह परिष्कार भी पिछले वर्ष ही नहीं हुआ है — पिछले चार वर्षसे इस संकलनपर काम करता आ रहा हूँ। बीच-बीचमें चयनमें ही बदलाव नहीं हुए, स्वयं सम्पादकको भी स्थान बदलना पड़ा। थीसिस, कानपुरसे दिल्लीकी उखाड़-पछाड़, तमाम पेशेगत व्यस्तताओं, संकलनकी उपयोगिता सम्बन्धी संकल्पों-विकल्पों आदिके मध्य काम अटकता-भटकता बढ़ता रहा। जून १९६१ में इस संकलनका जो ढाँचा सामने आया था उसे बहुत-कुछ बदलना पड़ा है। तबसे अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें सामने आयी हैं और अनेक गणनीय समीक्षाएँ। इनको जोड़ते-घटाते हुए सोचा था कि भूमिका पचास पृष्ठसे कम क्या होगी; पर अब लिखने बैठा हूँ तो बहुत लम्बी भूमिका लिखनेका न साहस है और न समय। शायद ज़्यादा लम्बी भूमिकाका औचित्य भी

मनमें शेष नहीं रहा। आखिर हिन्दी-आलोचनाके इतिहास या मानदण्डों-पर एक शोध-निबन्ध-जैसा भारी-भरकम दस्तावेज़ पेश करना कहाँतक उपयुक्त होगा? बहरहाल, अब जो भूमिका है वह सचमुच ही इस संकलनकी भूमिका है—यानी कि जिस भूमिपर रखकर संकलनकी प्रकृति या विशिष्टताका नज़दीकी परिचय प्राप्त किया जा सके।

समसामयिक लेखनकी चर्चा अधिकांशतः पुस्तक-समीक्षाके स्तम्भों तक ही सीमित रहती है। और इन समीक्षाओंमें अकसर महत्त्वपूर्ण समस्याएँ ही नहीं उठायी जातीं, आलोचना-पद्धतिके बदलावके आरम्भिक लक्षण भी दिखाई पड़ते हैं। ये दो ऐसे तथ्य थे जिन्होंने इस संकलनके लिए प्रेरित किया। ऐसा प्रतीत हुआ कि समकालीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंकी गणनीय समीक्षाएँ यदि एक स्थानपर संकलित की जायें तो नवलेखनका एक संश्लिष्ट चित्र ही सामने नहीं आयेगा, आलोचनाके नये विवेक या पद्धतिको भी अधिक संकेन्द्रित ढंगसे देखा जा सकेगा।

इन दोनों बातोंमें जहाँतक पहलीका प्रश्न है, कहा जा सकता है कि आलोचनात्मक लेख भी बराबर लिखे जाते हैं। इस तथ्यको मैं अस्वीकार नहीं करता। [और यदि सुविधा मिली तो पिछले १५ वर्षोंके ऐसे निबन्धोंके संकलन-सम्पादनकी भी चेष्टा करूँगा।] परन्तु फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस प्रकारके लेखोंका एक बड़ा अंश ऐसा होता है जिनमें कि घूम-फिरकर कुछेक कवियोंके कुछेक संग्रहोंकी कुछेक कविताओं या वक्तव्योंकी उद्धरणोंकी परम्परा चलती रहती है। उदाहरणके लिए 'नयी कविता'पर लिखे गये अधिकांश लेखोंमें 'सप्तकों'के ही कुछ कवियों और इन सप्तकोंमें संकलित कविताओं या वक्तव्योंपर ही फ़तवे दिये जाते रहे हैं। अधिकांश लोगोंने यह देखनेका कष्ट नहीं उठाया कि सप्तकोंके बाहर भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण रचनाशीलताके दर्शन होते हैं तथा 'सप्तकों'में आये कवियोंकी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ 'सप्तकों'से अतिरिक्त भी संकलित हैं। इस कारण यह कहनेमें मुझे कोई हिचक

नहीं है कि समसामयिक लेखन-चर्चा और विमर्शका ज़्यादा सही प्रति-निधित्व पुस्तक-समीक्षाओंके संकलनमें देखा जा सकता है। लेखन और समीक्षण दोनोंका ही बहुरंगी-बहुवर्णी व्यक्तित्व इस संकलनमें मिल सकता है। यहाँतक कि तमाम विवादों-प्रवादोंकी अनुगूँज भी इनमें विद्यमान है।

जहाँतक दूसरी बात, पुस्तक-समीक्षाओंकी गणनीयता या महत्ताका सम्बन्ध है, इस तथ्यसे इनकार नहीं किया जा सकता कि पुस्तक-समीक्षाओं-का स्तर हिन्दीमें, सामान्य रूपसे, अगम्भीर है और उसके प्रति असन्तोषका एक तीखा स्वर हमेशा सुननेको मिलता रहता है। पर यही बात कमोबेश क्या कविताओं, कहानियों, उपन्यासों या नाटकोंके ऊपर नहीं लागू होती? कृति साहित्यके नामपर पेश किया गया कितना साहित्य खाद बन जाता है, इसका अनुमान लगाना बहुत कठिन नहीं है। पर इस कूड़के ढेरके बीचसे ऐसी रचनाएँ ऊपर आ जाती हैं जो पूरे युगकी रचनात्मक आकांक्षाको सार्थकता एवं सिद्धि दे देती हैं। इसी प्रकार समकालीनता-बोध और समसामयिक लेखनका जीवन्त सम्पर्क नयी आलोचनात्मक प्रज्ञाको जन्म देता है तथा अगम्भीर समीक्षाओंके बीच गम्भीर और गणनीय समीक्षा-क्रियाको सामने ले आता है। आलोचनाकी यह भयंकर खामी होगी कि वह तमाम समसामयिक लेखनसे कटा रहे। यह बात मैं बराबर कहता रहा हूँ कि समकालीनता-बोधसे रहित आलो-चनाको आलोचना नहीं कहा जा सकता—शोध, पाण्डित्य या कुछ और भले ही कह लिया जाये। आलोचनाका पहला दायित्व नवलेखनके प्रति ही है। आलोचक-वर्गका उदय जिस सांस्कृतिक प्रक्रियाका अंग है उसमें उसे समसामयिक साहित्यकी दुरूहता एवं मूल्य-चिन्ता दोनों ही से उलझना पड़ता है। इस बीच हिन्दीकी एकेडेमिक आलोचनापर जो आक्षेप होते रहे हैं (और ऐसी आलोचनाएँ लिखनेवाले केवल विश्वविद्यालयोंमें ही सीमित नहीं हैं—स्वतन्त्र लेखकोंमें भी इस कोटिकी कमी नहीं है।)

वे इसलिए नहीं हुए कि वे 'एकेडेमिक' हैं, बल्कि इसलिए कि वे समसामयिक जीवन और साहित्य दोनोंके नजदीकी बोधसे शून्य हैं। इस दुष्चक्रमें पहली फाँक पुस्तक-समीक्षाओंके स्तम्भोंमें ही दिखाई पड़ी है। इस महत्त्वपूर्ण 'क्रिटिकल ऐक्टिविटी'को एक केन्द्रमें लानेसे इस दुष्चक्रको तोड़नेमें सहायता मिल सकती है—यह आशा अनुचित न मानी जायेगी। रचनाशीलताके बदलावके साथ ही आलोचनाके मानदण्ड और पद्धतियोंमें भी परिवर्तन होता है—यह बार-बार दोहरायी और कही जानेवाली बात है। पर आश्चर्य होता है कि तमाम आचार्यगण इसी तथ्यको भुला देते हैं और परिणामस्वरूप उनका लेखन या तो पाण्डित्यधर्मी (पिडैण्टिक) बनकर रह जाता है या ठेठ जड। बहरहाल, हर युगकी आलोचनात्मक समझ अपने युगके साहित्यसे अनुकूलित और अनुशासित होती है और उसे अनुकूलित करती भी है। एक ही पीढ़ी या समयकी प्रमुख चेतना-संवेदना एक और अखण्डित होती है—व्यक्त चाहे वह कवितामें हो, कहानीमें हो या आलोचनामें। इस अनुकूलन-अनुशासनकी प्रक्रियाके अन्तर्गत ही हर युग पुरानी कृतियोंका नये सिरेसे आकलन करनेके लिए बाध्य होता है। इसे ही हम आलोचनाका दूसरा मुख्य दायित्व—पुनर्मूल्यांकन—कह सकते हैं। वस्तुत: आलोचना—व्यावहारिक आलोचना—के साथ, इसी कारण 'शाश्वत' विशेषणका प्रयोग और भी अधिक कठिन है। जहाँतक पुराने क्लैसिक मानदण्डों या साहित्य-सिद्धान्तोंका प्रश्न है, उनकी भी स्थिति क्लैसिक कृतियों-जैसी ही होती है। जिन सिद्धान्तोंमें इतना लचीलापन होता है कि उनकी युगानुरूप पुनर्व्याख्या की जा सके, उनके स्वीकार कर लिये जानेकी सम्भावना सबसे अधिक होती है। अँगरेजीमें 'न्यू क्रिटिक्स' ने लांगिनुस और कॉलरिजकी नयी व्याख्याएँ कीं तथा शिकागोके 'नियो-एरिस्टोटेलियन्स' ने अरस्तूके अनुकरण-सिद्धान्तको आधुनिक साहित्यके लिए प्रसंगानुकूल बनानेकी चेष्टा की। स्वयं हिन्दीमें आचार्य रामचन्द्र शुक्लने रस-सिद्धान्तकी जो पुनर्व्याख्या की थी उसके पीछे समसामयिक जीवन

और साहित्यके गहरे आग्रह थे। भावयोगको ज्ञानयोग और कर्मयोगके समकक्ष मानना, प्रकृति-चित्रणका गहरा आग्रह, 'आदिम रूप-व्यापारों' के उद्‌घाटनपर ज़ोर, कवि-कर्मका महत्त्व आदि उनके काव्य-सिद्धान्त सीधे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियोंसे परिचालित थे। यह संयोग मात्र नहीं है कि भारतीय काव्य-चिन्तन-परम्परामें 'कल्पना' (जो कि स्वच्छन्दतावाद-की प्रेरक शक्ति मानी जाती है) पर शुक्लजी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने जमकर विचार किया है। रीतिकालकी तमाम रूढ़ियोंके विरोध और अवमूल्यनमें शुक्लजी प्रसाद, पन्त और निरालाके साथ थे। जिस 'भक्ति-काल' को शुक्लजी इतना महत्त्व देते हैं उसीसे तमाम छायावादी कवि भी अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। यहाँतक कि रीतिकालके फुटकर खातेके भीतर रखे गये घनानन्दकी जिन कारणोंसे वे अतिशय प्रशंसा करते हैं वे कारण छायावादी काव्य-शैलीके हैं। डॉ० नामवर सिंहने शुक्लजीके साहित्य-सिद्धान्तोंकी रोमैण्टिक आधारभूमिको काफ़ी स्पष्ट किया है। शुक्लजीके बारेमें एक भ्रम है कि वे छायावादके निन्दक थे। वस्तुतः वे छायावादकी कृत्रिम रहस्यवादिता एवं कुण्ठाओंके निन्दक थे। कहना चाहूँगा कि छायावादी कवियोंकी जो आलोचना उन्होंने अपने इतिहासमें की है वह आज भी अव्यर्थ है। यों किसी भी कवि या काव्यान्दोलनकी समस्त क्षमताओं एवं अर्थस्तरोंका उद्‌घाटन एक साथ और एक ही व्यक्ति कभी नहीं करता। उसका उद्‌घाटन हर युग अपने अनुकूल करता रहता है—जैसे कि मुक्तिबोधने जब 'कामायनी' पर पुनर्विचार करते हुए उसका विश्लेषण फ़ैण्टेसी मानकर किया तो वस्तुतः उन्होंने उस महनीय कृतिको अपने सृजनके लिए प्रसंगानुकूल बनाया था। यों शुक्लजीके जो तथाकथित नैतिक आग्रह थे वे भी स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गान्धीके मिले-जुले प्रभावोंके अन्तर्गत अपने समकालीन जीवनसे ही लिये गये थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुरके प्रति व्यक्त उनके विचारोंमें यह तथ्य भलीभाँति देखा जा सकता है। मुझे तो यह भी लगता है कि शब्दावलीके भिन्न होनेके

बावजूद गान्धीजी और शुक्लजीके विचार रवीन्द्रके प्रति (तथा पाश्चात्य प्रभावोंके प्रति) बहुत-कुछ समानता रखते हैं ।

पुराने सिद्धान्तोंकी युगानुकूल व्याख्याका एक अत्यन्त विशिष्ट उदाहरण साधारणीकरणकी चर्चा है। संस्कृत काव्यशास्त्रमें साधारणीकरणका विवाद ऐसा प्रमुख प्रश्न नहीं है कि तमाम रस-सिद्धान्तका प्रतीक बन जाये। संस्कृत-काव्य-परम्परामें (या प्राकृत-अपभ्रंशमें भी) साधारणी-करणका प्रश्न मुख्य था भी नहीं। उस युगमें कवि और रसिककी बौद्धिक भूमि लगभग समान थी अतः सम्प्रेषणकी कठिनाइयाँ नहीं थीं। परन्तु धीरे-धीरे शिक्षाके प्रसार और ज्ञान-विज्ञानोंकी विशेषज्ञताके साथ-साथ यह भूमिका बदली है। साथ ही ब्रजसे खड़ी बोलीमें माध्यमका जो बदलाव होता है, वह भी सम्प्रेषणके लिए समस्याएँ उत्पन्न करता है। पश्चिमी विचारधाराओं, पश्चिमी साहित्यों आदिके सम्पर्कसे जो काव्य-दृष्टिका बदलाव हुआ, नये काव्यरूपोंका आविर्भाव हुआ, काव्य-विषयोंका फैलाव हुआ, उन सबने मिलकर सम्प्रेषणकी समस्याको काफ़ी जटिल बनाया। मुझे याद है कि छायावादकी एक परिभाषा, उसका मज़ाक़ उड़ाते हुए, यह भी रखी गयी थी कि जो समझमें न आवे वह ही छायावाद। पर यह केवल मज़ाक़ नहीं था—इसके साथ लगी सचाई थी कि छायावादी काव्यका एक बड़ा हिस्सा दुरूह और अस्पष्ट था तथा पाठकों तक उसके सम्प्रेषणमें कठिनाई होती थी। ऐसी स्थितिमें रस-सिद्धान्तकी चर्चा करते हुए 'साधारणीकरण' की ओर अत्यधिक ध्यान देना वस्तुतः अपने सम-कालीन साहित्यपर ही ध्यान देना था या उस साहित्यके परिदृश्यमें पुराने रस-सिद्धान्तको रखनेकी चेष्टा थी। यह अवश्य है कि 'आलम्बनत्व धर्म'-के जिस साधारणीकरणकी बात शुक्लजीने कही, वह सीधे राष्ट्रीय संग्राम-की सामाजिक प्रतिबद्धतासे सम्भूत थी—यानी कि सृजनात्मक स्तरपर जो प्रतिबद्धता प्रेमचन्दके साहित्यको जन्म दे रही थी वही शुक्लजीके साधारणी-करणको भी। पर इसे रोमैण्टिक काव्यशास्त्रकी आत्मपरक निष्ठाके लिए,

कवि-कर्मको महत्त्व देनेके लिए कविके निकट लानेकी आवश्यकता थी, और इस कार्यको पूरा किया डॉ० नगेन्द्रने यह कहकर कि "साधारणीकरण कविकी अनुभूतिका होता है।" कहना न होगा कि यह व्याख्या सीधे रोमैण्टिक काव्यशास्त्रसे उपजी है।

पर साधारणीकरणकी समस्या छायावादी काव्यके साथ समाप्त नहीं हो गयी। ऊपर जिन आधुनिक समस्याओंका ज़िक्र हम कर चुके हैं वे और अधिक तीखी बनकर सामने आयीं। विशेषीकरण और बढ़ा, 'भाषा एक रहते हुए भी मुहावरे अनेक हो गये' और फिर इनके साथ ही विकृत समाजशास्त्रके आग्रहोंके कारण यथार्थके नामपर साहित्यको जनताकी 'पॉप्युलर' अभिरुचिके साथ एकतान करनेकी कोशिश की गयी। परिणाम-स्वरूप अज्ञेयने शब्दार्थकी समस्याके साथ ही साधारणीकरणकी समस्याको भी उठाया, "......जो कवि एक क्षेत्रका सीमित सत्य (तथ्य नहीं सत्य : अर्थात् उस सीमित क्षेत्रमें जिस तथ्यसे रागात्मक सम्बन्ध है वह) उसी क्षेत्रमें नहीं, उससे बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके सामने बड़ी समस्या है। या तो वह यह प्रयत्न ही छोड़ दे, सीमित सत्यको सीमित क्षेत्रमें सीमित मुहावरेके माध्यमसे अभिव्यक्त करे—यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारणका क्षेत्र संकुचित कर दे—अर्थात् एक अन्तर्विरोधका आश्रय ले, या फिर बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचनेका आग्रह न छोड़े और इसलिए क्षेत्रके मुहावरेसे बँधा न रहकर उससे बाहर जाकर राह खोजनेकी जोखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरणके लिए ही एक संकुचित क्षेत्रका साधारण मुहावरा छोड़नेके लिए बाध्य होगा—अर्थात् एक दूसरे अन्तर्विरोध-की शरण लेगा।" इस लम्बे उद्धरणको देनेका तात्पर्य उस भूमिकासे परिचित कराना है जो तमाम समसामयिक लेखनके साथ जुड़ी है। इस बार अज्ञेयने साधारणीकरणको सीधे भाषासे—शब्दार्थके सहितत्वसे—ला जोड़ा। आश्रय, आलम्बन, कविकी अनुभूति या पाठकके आस्वादन आदिके स्थानपर सीधे माध्यमकी क्षमताओंकी खोजके साथ इस समस्याको ला

जोड़ना साधारणीकरणके लिए ही एक नया योगदान नहीं है—नयी कविताके काव्य-सिद्धान्तको स्पष्ट करनेका प्रयास भी है। इसी प्रकार मुक्तिबोध भी रचना-प्रक्रियाके तीन क्षणोंकी चर्चा करते हुए भाषा और भावके बीचके द्वन्द्वकी समस्याको उठाते हैं।

साहित्यिक सिद्धान्तोंकी अगर पुनर्व्याख्याके समान ही ऐतिहासिक सन्दर्भोंकी जाँच करके लेखकोंका जो पुनर्मूल्यांकन होता है उसके पीछे भी समकालीन दृष्टिका गहरा एहसास विद्यमान रहता है। रीतिकालके सम्बन्धमें शुक्लजी और छायावादी कवियोंकी विचारगत समानताका उल्लेख किया जा चुका है। स्वयं रीतिकालके केशवको शुक्लजीने जिस गढ़ेमें धकेला—वहाँसे बहुत-से शोधकर्ता अबतक बाँस लगाकर उन्हें ऊपर नहीं चढ़ा पाये हैं। यह इसीलिए नहीं हो सका कि केशवको अपने युगके लिए प्रसंगानुकूल नहीं बनाया जा सका। केशवके विविध छन्द-प्रयोगों, व्यंग्यक्षमताको देखकर अज्ञेयजी एक बार उनकी ओर उन्मुख हुए थे पर शायद केशवकी अनुभूति-क्षमताका अनुमान कर वे उपराम हो गये। रीतिकालको यदि कुछ मान्यता इस बीचमें मिली भी है तो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके प्रभावके तले ही उसे प्रतिष्ठित किया जा सका है और कहना न होगा कि सन् '४० के आस-पास मनोवैज्ञानिकताका जो दौरदौरा हुआ था, यह उसीका प्रभाव था। बिम्ब-सिद्धान्तकी अत्यधिक चर्चाने भी कुछ नये कवियोंको रीतिकालकी ओर उन्मुख किया। स्वयं डॉ० नगेन्द्रने देवमें जिन गुणोंकी महिमा देखनी चाही है वे रोमैण्टिक चेतनासे उद्भूत गुण हैं। शुक्लजीके बाद प्रगतिवादके साथ-साथ जो अधिक वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि प्राप्त हुई थी तथा विजयदेवनारायण साहीके शब्दोंमें 'जवानीका काव्य' (जिसमें मस्ती, फक्कड़पन, अनमनापन आदि मिले-जुले थे) आया था उसने तमाम सांस्कृतिक सन्दर्भोंका पुनर्मूल्यांकन किया और उस प्रक्रियामें लेखकों या प्रवृत्तियोंके ऐतिहासिक प्रतिष्ठापन (हिस्टॉरिकल प्लेसिंग्ज़) बदल गये। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी-द्वारा निर्गुण

सम्प्रदाय ही प्रतिष्ठित नहीं हुआ, मस्ती और फक्कड़पनके कवि कबीर श्रेष्ठतम कवियोंमें परिगणित किये जाने लगे। आदिकालके प्रति दृष्टिकोण बदल गया। तुलसीदासकी महिमा लोकमंगलके लिए ही नहीं 'समन्वय' के सांस्कृतिक प्रतीकके रूपमें भी बढ़ी। मतिराम-जैसे कवियोंकी पुनर्प्रतिष्ठा हुई—इसलिए कि उनमें पारिवारिक स्वर है तथा रीतिकालको आमुष्मिक काव्यकी एक पुरानी परम्पराका बल भी मिला। ऐतिहासिक पुनर्मूल्यांकन-की प्रक्रिया सबसे अधिक हजारीप्रसाद द्विवेदी-द्वारा सामने लायी गयी। यों पं० नन्ददुलारे वाजपेयीने द्विवेदीयुगीन कवियोंकी नयी व्याख्याएँ कीं और भारतेन्दु-युगको पुनर्प्रतिष्ठित करनेका श्रेय डॉ० रामविलास शर्माको है। छायावाद और छायावादोत्तर गीतिकाव्यके पुनर्मूल्यांकनके प्रयास 'नवलेखन' के युगमें भी हुए हैं पर सब मिलाकर नयी आलोचनाका यह पक्ष काफ़ी दुर्बल ही कहा जायेगा।

पर यह चर्चा तो प्राचीन साहित्य या प्राचीन काव्यशास्त्रकी हुई। आलोचनाका प्रमुख दायित्व समसामयिक साहित्यके प्रति है—यह पीछे कहा जा चुका है और इस दायित्वका निर्वाह सबसे पहले पुस्तक-समीक्षाओंके रूपमें दिखता है। लाला श्रीनिवासदासके 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटककी बालकृष्ण भट्ट और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' लिखित समीक्षाओंसे ही हिन्दीकी व्यावहारिक आलोचनाका सूत्रपात माना गया है। यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे सूचित होता है कि इस युगके साहित्यकी प्रकृति बदल गयी थी और उसके लिए यह नया साहित्य रूप 'पुस्तक-समीक्षा' सामने आया था। भट्ट या प्रेमघनकी इन समीक्षाओंसे लेकर आजतक, इनकी स्तर-सम्बन्धी घनघोर शिकायतोंके बावजूद, नये साहित्य-की चर्चाके माध्यमके रूपमें पुस्तक-समीक्षाकी एक पुष्ट परम्परा चली आयी है। मेरा विश्वास है कि भारतेन्दु-युगसे लेकर अबतककी पुस्तक-समीक्षा-ओंका संकलन यदि कोई तैयार कर सके तो हिन्दी-आलोचनाके विकासकी एक व्यवस्थित झाँकी देखी जा सकती है।

भारतेन्दु-युग आलोचनाके नामपर लगभग पुस्तक-समीक्षाओं तक ही सीमित था, द्विवेदी युगमें भी यह माध्यम मुख्य बना रहा। स्वयं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी बड़े तीखे 'रिव्यूअर' थे। छायावादी कवियोंमें 'निराला' ने तमाम पुस्तकोंकी 'रिव्यू' की थी; तथा प्रेमचन्द, जैनेन्द्र एवं अज्ञेय लिखित पुस्तक-समीक्षाओंका परिमाण भी कम नहीं है। 'गोदान'-के शहर और ग्राम-कथाके विन्यासको लेकर प्रेमचन्दपर बहुत-से आक्षेप किये गये हैं, पर अगस्त १९३६ के 'विशाल भारत' में 'गोदान' की समीक्षा करते हुए जैनेन्द्रने इसे 'वस्तुस्थितिकी अधिक निकटता' माना था। इसी प्रकार जैनेन्द्रके कहानी-संग्रह 'दो चिड़िया' की जनवरी, १९३५ के 'विशाल भारत' में रिव्यू करते हुए अज्ञेयने जो बातें कही थीं वे कहानी-समीक्षाकी दृष्टिसे आज भी महत्त्वपूर्ण हैं : "वे शब्दोंकी गरिमामें अपना भाव नहीं बाँध देते, वे एक वातावरण उत्पन्न कर देते हैं, एक संकेत कर देते हैं और बाकी पाठक स्वयं खोलता है और पाता है।" 'तथा' "जो लोग कहानी सिर्फ़ वक़्त बितानेके लिए नहीं पढ़ते, उन्हें यह संग्रह अवश्य पढ़ना चाहिए।" कहानीको एक गम्भीर दायित्व सौंपनेका प्रयास 'नयी कहानी' को परम्परासे प्राप्त दाय है। इसी प्रकार 'रूपाभ' में डॉ० रामविलास शर्माने कुछ बहुत अच्छी समीक्षाएँ लिखी थीं—इनमें 'अनामिका' की समीक्षामें निरालाकी दुरूहताकी चर्चा अत्यन्त आधुनिक लगती है। (हमें खेद है कि रामविलासजीके प्रकाशक 'किताब महल' इलाहाबादकी दुराग्रही शर्तोंके कारण 'बूँद और समुद्र' पर लिखी उनकी बहुत अच्छी समीक्षा इस संकलनमें शामिल नहीं की जा सकी।) 'प्रतीक' द्वैमासिकके प्रकाशनके साथ ही पुस्तक-समीक्षाको गम्भीरतापूर्वक और नियमित रूपसे लेनेकी घोषणा की गयी थी—जो हालाँकि घोषणाका नियमित रूपसे निर्वाह नहीं किया जा सका। सन् १९५० के आस-पास जब साहित्यिक रचनाशीलताका नया उन्मेष हुआ तो पुस्तक-समीक्षाओंका रूप भी बदला और उन्हें महत्त्व भी मिला। यह आकस्मिक संयोग नहीं

है कि सन् '५०-'५१ के आस-पास अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य घटित होते दिखते हैं। सन् '४९ ई० में 'हरी घास पर क्षण भर' प्रकाशित हुआ, सन् '५१ में 'दूसरा सप्तक' का प्रकाशन हुआ, १९५२ में 'नदीके द्वीप'-जैसा उपन्यास तथा 'कोणार्क'-जैसा काव्यात्मक नाटक प्रकाशित हुआ तथा मार्कण्डेयका कहानी-संग्रह १९५४ में आया। 'प्रतीक' द्वैमासिक इसी दौरानमें नयी सृजनात्मकताका वाहक और मंच बनता है और १९५१ में ही 'आलोचना'-जैसी पत्रिका प्रकाशित होती है जिसके प्रत्येक अंकका लगभग आधा भाग केवल पुस्तक-समीक्षाओंके लिए रहता था। 'प्रतीक' द्वैमासिकने जिन लम्बे पुस्तक-समीक्षा-लेखोंको प्रारम्भ किया था, उन्हें और अधिक महत्त्वके साथ 'आलोचना' ने आगे बढ़ाया। 'कल्पना' का प्रारम्भ भी इसी समयके आस-पास हुआ था और उसमें भी पुस्तक-समीक्षाका स्तम्भ उल्लेखनीय स्तम्भोंमें रहा है। 'कल्पना' में लगभग प्रत्येक अंकमें एक लम्बा पुस्तक-समीक्षा-लेख तथा कुछ अपेक्षाकृत छोटी पर गम्भीर स्तरीय समीक्षाएँ प्रकाशित होती थीं। किसी एक महत्त्वपूर्ण रचनापर एक साथ कई समीक्षाएँ 'प्रतीक', 'आलोचना', 'कल्पना' और 'कृति' में छपती रहीं। पुस्तक-समीक्षाओंके स्तर और महत्त्वकी दृष्टिसे 'कृति' का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'कृति' में यह स्तम्भ महत्त्वपूर्ण गद्यकृतियोंके साथ प्रकाशित होता था—पत्रिकाके अन्तमें केवल कर्तव्य-पालनवश नहीं; तथा चुनी हुई पुस्तकोंकी समीक्षाएँ ही इसमें दी जाती थीं। कहना न होगा कि इन समीक्षाओंके आधारपर समसामयिक लेखनके साहित्यशास्त्रकी रूपरेखा बनायी जा सकती है तथा हिन्दी-प्रदेशकी सृजनात्मकता और कलाभिरुचिके विकासको भी परिलक्षित किया जा सकता है। पुस्तक-समीक्षाओंके इस महत्त्वको देखते हुए ही यह संकलन निकालनेकी आयोजना की गयी।

काल-सीमाकी दृष्टिसे यह संकलन स्वाधीनताके बादसे १९६३ तककी रचनाओंकी समीक्षाको समेटता है। जिस अन्तिम समीक्षाको इस संकलनमें लिया गया है वह १९६३ ई० में प्रकाशित

कहानी संग्रह 'खोयी हुई दिशाएँ' की सितम्बर १९६४ में 'कल्पना' में प्रकाशित समीक्षा है। जहाँतक अन्तिम सीमा (रचनाकी दृष्टिसे १९६३ और समीक्षाकी दृष्टिसे सितम्बर, १९६४) का प्रश्न है उनका इसके अतिरिक्त कोई औचित्य नहीं है कि सम्पादकके लिए यह सीमा सुविधाजनक थी। उसे कहीं-न-कहीं एक रेखा खींचनी थी—प्रारम्भमें जब संकलनकी योजना (सितम्बर १९६० में) बनायी थी तब इसे १९६० तक ही सीमित रखनेका विचार था, पर धीरे-धीरे विलम्ब होता गया और कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण कृतियाँ भी इधर प्रकाशित हुईं, तथा १९६० तककी कृतियोंकी समीक्षाएँ भी, अतः यही उचित समझा गया कि इसे अधिकसे अधिक अद्यावधिक बनानेकी चेष्टा की जाये। इस चेष्टामें ऊपर कही गयी तिथियाँ सम्पादकको सुविधाजनक प्रतीत हुईं। परन्तु जहाँतक प्रारम्भिक सीमारेखा—स्वाधीनताके बाद—का प्रश्न है उसके बारेमें कुछ कहनेकी आवश्यकता है। स्वतन्त्रताके तत्काल बाद डॉ० रामविलास शर्माने आजादीके झूठेपनकी घोषणा की थी और यथार्थमें बदलावको अस्वीकार किया था, पर शीघ्र ही उन्हें अपने मतमें ईमानदारी-से परिवर्तन करना पड़ा। पर यह देखकर आश्चर्य हुआ कि तनिक आग्रह बदलकर यही मत अभी हालमें ही बड़े-बड़े लेखकों-अध्यापकोंने उपस्थित किया है। दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके तत्त्वावधानमें 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य' पर आयोजित एक परिसंवादको रिपोर्ट २७ जनवरी, १९६४ के 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुई है। चूँकि रिपोर्टका कोई प्रतिवाद प्रकाशित नहीं हुआ, अतः उसे सही मानना उचित ही होगा। इस रिपोर्टके अनुसार सर्वश्री बच्चन, जैनेन्द्रकुमार, भारतभूषण अग्रवाल, नरेन्द्र शर्मा और विजयेन्द्र स्नातकने स्वाधीनताको किसी प्रकारकी विभाजक रेखा या प्रभाव डालनेवाले तथ्यके रूपमें अस्वीकार किया है। (डॉ० नगेन्द्रने अपनेको किसी मतसे प्रतिबद्ध ही नहीं किया,—अध्यक्षके रूपमें उनकी सहमति क्या इसी विचारसे मानी जाये !) इन सारे लेखकों-

को स्वाधीनतासे जो भौतिक उपलब्धि हुई है, उसे अगर दरकिनार भी कर दिया जाये तब भी शिक्षा, उद्योग, सांस्कृतिक आदान-प्रदान (अन्त-प्रदेशीय और अन्तर्देशीय दोनों ही), प्रकाशन, राज्याश्रय, समाचार पत्र आदि ऐसे अनेक ज्वलन्त तथ्य हैं—क्या वे स्वतन्त्रताके बिना भी सम्भव होते ? समस्त भारतीय भाषाओंमे 'नवलेखन' का जो शक्तिशाली आन्दोलन हुआ है—वह क्या स्वतन्त्रताके बिना सम्भव था ? और जहाँ-तक इस तर्कका सम्बन्ध है कि स्वतन्त्रता मिलते ही तत्काल १९४७ मे 'कोई महत्त्वपूर्ण रचना हमे क्यों नहीं मिलती ?' हम केवल यही कहना पर्याप्त समझते हैं कि ऐसा करनेवाले रचनाकारकी रचना-प्रक्रियाको एकदम छिछला क़रार देना चाहते हैं और कहीं-न-कही तात्कालिकताके उस सिद्धान्तसे प्रभावित हैं जिसे प्रगतिवादकी हीनतर रचनाओंने उत्पन्न किया था। (एक दूसरी दलील यह भी दी जा सकती है कि जिन बडे लेखकोंकी संवेदना-क्षमता पथराने लगी थी उन्हें अगर स्वाधीनतासे उत्पन्न चेतना महत्त्वपूर्ण न लगे तो आश्चर्य न होना चाहिए।) १५ अगस्त, १९४७ को स्वाधीनताकी प्राप्ति एक तथ्य है पर उस तथ्यके विविध आयामोंका उद्घाटन और उसका रागात्मक सत्यमे परिवर्तन कुछ समयकी माँग करता है। थोड़ा-सा बल देकर कहना चाहूँगा कि हिन्दीके लेखकोंने इसके लिए अधिक समय नहीं लिया। हरी घास पर क्षण भर, दूसरा सप्तक, नदीके द्वीप, कोणार्क, प्रतीक (मासिक), कल्पना, आलोचना, जनपद आदिके प्रकाशन १९५० के इधर-उधर हुए हैं। यही नहीं जैनेन्द्र-जैसे लेखकोंने इसी समयके आस-पास विवर्त, व्यतीत, सुखदा-जैसे उपन्यास ताबड़तोड़ लिखे और छपाये। आलोच्य कालके सर्वाधिक प्रमुख रचनाकार अज्ञेयको यदि लिया जाये तो बात बहुत साफ़ हो जाती है : १९४६ ई० में प्रकाशित उनके काव्य-संग्रहका नाम था 'इत्यलम्' जो कि अपने आपमें एक प्रकारकी 'इति' को सूचित करता है पर १९४९ में प्रकाशित 'हरी घास पर क्षण भर' जिस उन्मुक्त सहजता और खुलेपनको सूचित करता

है, वह 'इत्यलम्' की अपेक्षाकृत कुण्ठित रचनाओंसे अलग-है। कहना न होगा कि 'हरी घास पर क्षण भर' नयी कविताका प्रथम संग्रह है। (ध्यान रहे बात केवल संग्रहीत रूपकी कही जा रही है।) और यह आकस्मिक संयोग नही है कि इसी संग्रहकी समीक्षामें डॉ० प्रभाकर माचवेने इसे 'प्रामाणिक अनुभूति'का काव्य बताते हुए कहा है कि कवि "भावुकता-का प्रदर्शन नहीं करता।" मैं कहना चाहूँगा कि आलोचनाके क्षेत्रमें यह नयी माँग थी और सीधे उस काव्यके सन्दर्भसे उपजी थी जो एक ओर छायावादकी भावुक प्रतिक्रियाओंका प्रत्याख्यान करता है और दूसरी ओर प्रगतिवादकी नारा-कविताओंका विरोध करके कविके अपने आन्तरिक अनुभवकी माँग करता है। कविकी ओरसे 'आत्मान्वेषण' की घोषणा और आलोचककी ओरसे 'प्रामाणिक अनुभूति' की माँग एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। यह माँग उस खरेपनकी माँग है जो कविके ईमानदार व्यक्तित्व (ऐसा व्यक्तित्व जो न छायावादीकी तरह स्फीत किया गया हो और न प्रगतिवादीकी तरह अनुकूलित) के जटिलतम स्तरों-का अनुभव होता है। 'दूसरा सप्तक' की समीक्षा करते हुए डॉ० प्रभाकर माचवेने ही रघुवीर सहायकी कविताओंकी चर्चा करते हुए 'कवि-कर्मकी ईमानदारी'की बात उठायी थी। यह आश्चर्यकी बात नहीं है कि 'ईमानदारी' शब्द इस लेखनमें आलोचनाका मूल्यमत्तात्मक शब्द बन गया। इसी प्रसंगमें एक अन्य पुस्तकका उल्लेख महत्त्वपूर्ण होगा, गो कि इधर उस पुस्तकको उपेक्षित-सा कर दिया गया है—शायद वह प्राप्य भी नहीं है। डॉ० देवराजने 'छायावादका पतन' नामक एक पुस्तक १९४७ ई० में प्रकाशित करायी थी जो 'नये राष्ट्रके प्रबुद्ध पाठकों, आलोचकों और कवियोंको' समर्पित है। इस पुस्तकमें छायावादकी जिन तमाम कमजोरियोंका जिक्र हुआ था उनमें 'वास्तविकतापर बलात्कार' और 'लोक-संवेदनाका तिरस्कार' भी शामिल थे। वस्तुतः काव्यके क्षेत्रमें जो विद्रोह सप्तकोंके कवियोंने किया था, वही आलोचनाके क्षेत्रमें डॉ० देवराजकी

इस पुस्तकने करना चाहा था : उन्हें "राजनैतिक आतंककी भाँति आलोचनात्मक आतंक और त्रासका वातावरण साहित्य-सृष्टिके लिए उपयुक्त नहीं" लगा था और इसीका विरोध इस छोटी-सी पुस्तकमें किया गया है। यहाँपर विस्तारसे विचार करनेका स्थान नहीं है, पर ये कतिपय तथ्य इस बातकी ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि १९४७ ई० हमारे साहित्य-की विभाजक रेखा मानी जानी चाहिए। इस संकलनके सम्पादनमें यही दृष्टिकोण रहा है।

साहित्यकी प्रकृतिके बदलावके साथ-साथ आलोचनाकी प्रकृतिका बदलाव भाषाके स्तरपर तत्काल देखा जा सकता है। भाषामें भी (चाहे वह कविता हो या आलोचना) कुछ शब्द ऐसे कुंजी शब्द (की-वर्ड्स) होते हैं जो लेखकके झुकाव, दृष्टिकोण, अवधारणाओं और संकल्पनाओंको सूचित करते हैं। अभी-अभी 'प्रामाणिक अनुभूति' और 'ईमानदारी'-जैसे शब्दोंकी चर्चा हो चुकी है। इस संकलनमें इकट्ठी की गयी समीक्षाओंको देखनेसे अनायास ही तमाम ऐसे शब्द या पद-पदांश मिल जाते हैं जो महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं या गुणों-अवगुणोंके लिए लगभग नये रूपमें प्रयुक्त हुए हैं। प्रामाणिकता, अनुभव-बोध, सजग चेतना, घटित होते हुए का सक्रिय बोध, जटिल मन:स्थितियाँ, अमूर्तन, अरूपीकरण, बौद्धिक सामान्यीकरण, शिल्पबोध, आधुनिकता, समकालीनता, संवेदनात्मक ज्ञान, ज्ञानात्मक संवेदना, कृत्रिम मनोविज्ञान, मूल्य-सत्ता, प्रतीक-सत्ता, रहेटरिक (वाग्स्फीति), भावकोण, विरल और गझिन माध्यम, नाटकीय प्रतीक-व्यवस्था, महत्त्वबोध, रचनात्मक आकांक्षा, आधु-निकता-बोध, प्रतिबद्धता, जीनेके कर्मकी परिभाषा, ईमानदारी, आधार-शब्द, आयाम आदि ऐसे ही उदाहरण हैं जो इन समीक्षाओंके भीतर अत्यधिक अर्थवान् होकर आये हैं। इनमें महत्त्वबोध-जैसे वे शब्द भी हैं जो शुक्लजीकी याद दिलाते हैं, पर बीचमें जिनका प्रयोग छोड़ दिया गया था। इसी प्रकार ऊब, अजनबीपन, घुटन, अकेलापन, क्षोभ, निराशा,

आस्था, अनास्था, संशय, दुश्चिन्ता, शिक्षित जिज्ञासा, यातना, क्षणकी पहचान आदि ऐसे शब्द हैं जो बार-बार इन समीक्षाओंमें आते हैं और नयी मनःस्थितियों और नये यथार्थकी ओर अनायास ही संकेत कर जाते हैं।

फिर केवल शब्द या पद ही नहीं, इन समीक्षाओंमें तमाम परिचित और प्रचलित शब्दावली नये अनुषंगों और अवधारणाओंको सूचित करती है। निर्मल वर्मा 'परती : परिकथा' की समीक्षा करते हुए कहते हैं : "परिकथाका बिखराव रेणुके कथाशिल्पका एक विशिष्ट प्रयोग है।" क्या इस बातकी व्याख्याकी आवश्यकता है कि निर्मलने कथा-समीक्षाके क्षेत्रमें एक नयी तरहका विचार रखा है—गो कि शब्द पुराने ही हैं। निर्मलके इस कथनकी पृष्ठभूमिमें यह भी याद रखनेकी ज़रूरत है कि 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' पर कथाके बिखरावका आरोप तमाम पुराने क़िस्मके आलोचक लगा रहे थे और उनमें-से कुछ तो इन्हें उपन्यास तक माननेको तैयार न थे। ये आलोचक उपन्यासको बँधे-बँधाये सुगठित कथानकोंके शिल्पमें ही देखते थे। इस प्रकारके विचार जहाँ उपन्यासको सीमित करते हैं वहीं निर्मलने अपनी समीक्षामें इस विधाकी सीमाओंको तोड़नेकी चेष्टा की है।

इसी प्रकार 'परिन्दे' कहानी-संग्रहकी समीक्षामें कहानीकी प्रभावान्वितिके पुराने सिद्धान्त, जिसे बीचमें चरित्रकी महत्ताके आगे भुला दिया गया था, को पुनरुज्जीवित करते हुए डॉ० नामवर सिंह कहते हैं, "निर्मलके यहाँ प्रभावकी गहराई इसलिए है कि उनके यहाँ चरित्र, वातावरण, कथानक आदिका कलात्मक रचाव है, कलात्मक रचाव स्वयं रूपके विविध तत्त्वोंके अन्तर्गत, फिर वस्तु और रूपके बीच तथा स्वयं वस्तुके अन्तर्गत।" प्रभावान्वितिके साथ कलात्मक रचावकी इस तिहरी अन्विति (इसमें भी विशेषकर वस्तुके अन्तर्गत कलात्मक रचावकी धारणा) की बात क्या सचमुच ही हिन्दी आलोचनामें एक नया स्वर नहीं है—गो कि 'प्रभावा-

न्विति', चरित्र-वातावरण आदि शब्द पुराने ही हैं। कहानी-संग्रहों या उपन्यासोंमें भावभूमि, प्रतीक, बिम्ब आदिकी चर्चा भी इस बदलाव-के सूचक शब्द हैं और यह भी बताते हैं कि कथा-शिल्पमें काव्य-प्रणाली इस दौरानमें स्वीकार की गयी थी। 'मैला आँचल' की समीक्षामें नेमिचन्द्र जैन इस 'कविता-विधि' की मीमांसा करते हैं। इन तथ्यों-द्वारा जिस बातको स्पष्ट करनेकी चेष्टा की जा रही है वह तथ्य है कि रचना-शीलताके समानान्तर ही आलोचनाकी भाषा भी बदलती जा रही थी। भाषाके इस बदलावके प्रमाण प्रस्तुत संकलनमें तो मिल ही जायेंगे पर यदि कोई इसका अधिक अध्ययन करना चाहे तो अलगसे अन्य तथ्योंको जुटा सकता है। ऐसे तथ्योंमें-से एक यह भी है कि कुछ नयी किताबोंपर पुराने लेखकों-आलोचकोंने और कुछ पुरानी किताबों (प्रकाशन-तिथि नहीं संवेदनाकी दृष्टिसे पुरानी) पर नये लेखकों-आलोचकोंने समीक्षाएँ या टिप्पणियाँ लिखी हैं। अगर इन नये और पुराने आलोचकोंकी भाषाकी परस्पर तुलना की जाये तो बात साफ़ हो जायेगी। 'तीसरा सप्तक' या 'उर्वशी' की समीक्षाओंका इस दृष्टिसे अध्ययन बड़ा ही रोचक होगा।

इन समीक्षाओंमें वे तमाम विचार-सूत्र, आलोचना-पद्धतियाँ एवं प्रवि-धियाँ निहित हैं जो नये काव्य-शास्त्रका निर्माण ही नहीं करतीं, समीक्षाके लिए नये औज़ार भी देती हैं। एक ओर अगर काव्य-संग्रहकी समीक्षा करते हुए 'आधारभूत' शब्दोंकी खोज-द्वारा काव्य-प्रकृति एवं कविके विकासको समझनेकी चेष्टा मिलती है (कुँवर नारायण : आँगनके पार द्वार) तो दूसरी ओर फुटकर कविताओंके बीच छिपी किसी एक थीमको आलोकित करनेकी पद्धति भी इनमें है (अजित कुमार : ओ अप्रस्तुत मन)। पौराणिक प्रसंगोंपर आधारित कथाकी प्रसंगानुकूलताके सन्दर्भमें 'इतिहासके प्रति दृष्टिबोध' का प्रश्न उठाया गया है (अज्ञेय : कनुप्रिया) और कविता या कहानीमें आधुनिक संवेदना किसे कहेंगे, इसके विमर्शकी

चेष्टा भी मिलती है (रघुवंश : काठकी घण्टियाँ; तथा कुँवर नारायण : जिन्दगी और गुलाबके फूल)। कविता जीनेके कर्मकी परिभाषा भी हो सकती है, आस्थाका यह सवाल अशोक वाजपेयी (सीढ़ियोंपर धूपमें) उठाते हैं तो दर्शन और काव्यके पारस्परिक सम्बन्धों एवं वैयक्तिक समाधानोंके आगे औचित्यका प्रश्नचिह्न गजानन माधव मुक्तिबोध (उर्वशी) लगाते हैं। अपनी पीढ़ीको दिये जानेवाले शब्दोंकी चर्चाके माध्यमसे कविके महत्त्वको आँकनेकी चेष्टा यदि डॉ० नामवर सिंह (अभी बिलकुल अभी) करते हैं तो हरि व्यास 'दिगन्त' की समीक्षामें परम्परा और उसकी उपयोगिताका प्रश्न उठाते हैं। भाषाके स्तरपर उपन्यासकी जाँच ही नहीं, कवि-दृष्टिकी उपन्यासकारसे माँग कुँवर नारायण (झूठा सच) करते हैं। और मामूली चीज़ोंपर ग़ैरमामूली कविताकी पहचान शमशेर-को होती है (तीसरा सप्तक)। पुराना कवि जब नया संस्कार प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है तो सन्तुलनकी जो समस्या उठती है वह सुमित्रा-नन्दन पन्तके सामने भी है और बालकृष्ण रावके भी, पर 'अमिता' की समीक्षामें बालकृष्ण राव इस समस्याको रूपायित करनेमें नहीं चूकते। जगदीश गुप्त 'क्षणवाद' की ही व्याख्या नहीं करते, शब्द-प्रयोगोंका आन्तरिक अध्ययन करनेकी पद्धति भी (चक्रव्यूह) स्पष्ट करते हैं। नयी कविताके लोक-संवेगोंकी शक्तिकी मीमांसा 'वंशी और मादल' के गीतोंकी चर्चामें सुरेन्द्रकुमार दीक्षितने की है और कविकी काव्यानुभूतिकी बुनावट, उसके अन्तर्विरोध तथा इस सृजन-प्रक्रियासे उद्भूत शिल्प-मर्यादा-का विश्लेषण विजयदेवनारायण साहीने किया है। कविता हो या काव्य-नाटक, छन्द उसके रूपबन्धका अनिवार्य हिस्सा होता है और उसकी उपयुक्ततापर विचार कुँवर नारायण भी करते हैं और सुरेश अवस्थी भी (आँगनके पार द्वार तथा अन्धा युग)।

नाटकोंकी समीक्षाएँ बहुत नहीं हुई हैं पर 'अन्धा युग' और 'लहरोंके राजहंस'की वस्तु-योजना और रंग-विधानकी चर्चा सूचित करती है कि

नवलेखनके आन्दोलनकी ऊष्मा इस क्षेत्रमें भी है। फिर जब नाटक ही नहीं हैं तो नाटच-समीक्षाएँ कहाँसे आयें? यों अप्रासंगिक न समझा जाये तो पिछले १० वर्षोंमें नाटच-प्रदर्शनोंकी समीक्षाएँ एवं टिप्पणियाँ नाटचा-लोचनाके क्षेत्रमें एक नये उन्मेषको सूचित करती हैं।

आलोच्य कालकी समीक्षामें सबसे बड़ा योगदान कथा-समीक्षाके क्षेत्रमें दिखाई देता है। तत्त्वोंके आधारपर खानेदार समीक्षाके बजाय रचनाकी समग्र कलात्मक सत्तापर विचार किया जाने लगता है। स्वयं इस संकलनमें इस विकासकी रेखा तत्काल पहचानी जा सकती है। '५२में प्रकाशित 'नदीके द्वीप' की डॉ० भगवतशरण उपाध्याय-कृत समीक्षा-में इन तत्त्वोंकी चर्चा नहीं है तथा भाव-पक्ष और कला-पक्षके द्वैतकी जगह एक नया द्वैत उनमें दिखाई देता है—कला-पक्ष और सिद्धान्त-पक्ष। कला-पक्षके अन्तर्गत पुराने भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों आ गये हैं पर उनके प्रगतिवादी आग्रह विचार या सिद्धान्त-पक्षका द्वैत बनाये रखते हैं। फलस्वरूप इस कसौटीपर कसते हुए उनका दोहरा निर्णय है कि "नदीके द्वीप' कलाकी दृष्टिसे श्रेष्ठ है पर सिद्धान्तकी दृष्टिसे निकृष्ट—वह सुन्दर पके फलमें कीड़ेके समान है।" अपने इस निर्णयके आन्तरिक अन्तर्विरोधसे वे स्वयं परिचित नहीं हैं, परन्तु १९६४ तक पहुँचते-पहुँचते इस द्वन्द्वको मिटा दिया जाता है। 'चारुचन्द्रलेख' की समीक्षामें कहा गया है: "ऐतिहासिक दृष्टिकी कमज़ोरी पूरे कलानुभवकी कमज़ोरी है और कलानु-भवकी कमज़ोरी पूरे शिल्पकी कमज़ोरी है।" रचनाकी कलात्मक समग्रता-में भाव, कला या विचार अलग-अलग इकाइयाँ नहीं रह जाते, यह सिद्धान्त कविता, कथा, नाटक सभी क्षेत्रोंमें पूरे ज़ोर-शोरसे स्थापित अभी हालमें ही हुआ है।

---

१. श्री ई० अलकाज़ीके निर्देशनमें होनेवाले 'अन्धा युग'के प्रदर्शनने सुरेश अवस्थीकी मान्यताओंको सिद्ध किया है।

इसी सिद्धान्तकी छाया तले नेमिचन्द्र जैन कर्तव्य-बोधवाले उपन्यासों-की सौन्दर्यहीनता ही नहीं स्पष्ट करते, कविता-विधिके प्रयोगकी मीमांसा भी करते हैं—गो कि चरित्र-कल्पनामें अब भी उनपर पुराने विचारोंकी छाया बनी रहती है ('मैला आँचल' और 'यह पथ बन्धु था')। यशपाल अगर यथार्थके आधारोंकी मीमांसा और उनके मूलमें स्थित कमजोरीको पकड़ते हैं ('जयवर्द्धन') तो निर्मल वर्मा उपन्यासकारकी समाजशास्त्रीय नहीं, कला-दृष्टिपर बल देते हैं। 'उखड़े हुए लोग'की समीक्षामें सिद्धान्तको अलगसे न लादकर वैचारिक स्तरपर उपन्यासकारके नतीजों और कथाक्रम तथा पात्रोंकी गहराईकी संगति या विसंगति ओम् प्रकाश दीपक विश्लेषित करते हैं। यद्यपि (सम्भवतः) प्रगतिवादी और एकेडेमिक 'हैंग ओवर'के कारण वे 'तथ्यों'की कतिपय ग़लतियोंके लिए अत्यधिक कटु हो जाते हैं या जाति-व्यवस्था आदिकी साहित्येतर चर्चाओंमें उलझते हैं। यथार्थका फैलाव उपन्यासकी शक्ति ही नहीं, गले पड़ा ढोल भी बन जाता है और नैरेटरका व्यक्तित्व कथाकी नियतिको सीमित करता है या कि एक ही व्यक्तिपर नायक और नैरेटरका आरोपण कथाके रूपबन्धको चरमरा देता है, इस प्रकारकी हेनरी जेम्सियन प्रणाली-से उपन्यास-चर्चाके प्रयत्न भी इन समीक्षाओंमें मिलते हैं ('अँधेरे बन्द कमरे' तथा 'चारुचन्द्रलेख')। अनुभवके अपनेपनकी माँग कविता ही नहीं कहानीसे भी की जा सकती है। (दूधनाथ सिंह : एक और जिन्दगी) तथा कहानी अब मनोरंजन नहीं करती, जीवनके सार्थक सवालोंकी तलाश करती है—इस दायित्वकी पहचान ओम्प्रकाश दीपकने 'खोयी हुई दिशाएँ'की समीक्षामें प्रकट की है। यही नहीं, भावुकताका विरोध भी कविता ही नहीं कहानियोंमें भी हो सकता है और तात्कालिक आवेग-की भावुकताको बचानेके लिए स्मृति-द्वारा लायी गयी समयके अन्तरालकी कहानी-विधिकी पहचान आलोचककी सूक्ष्म पकड़का लक्षण ही कहा जायेगा (डॉ० नामवर सिंह : परिन्दे)। कवितामें ही नहीं, उपन्यास और

कहानीमें भी 'प्रामाणिक अनुभव', 'संवेदना', 'भावभूमि', 'संकेतों' आदिकी माँग इस नये उन्मेषमें ही हुई है।

वस्तुतः प्रस्तुत संकलनमें आलोचनाके नये स्वरोंका बदलाव, भटकाव, विकास, अन्तर्विरोध, द्वन्द्व, मूल्योंकी खोज और मूल्योंके उलझाव, उपयुक्त भाषाकी खोज, नयी पद्धतियों या मानदण्डोंकी आकुलता आदि सभी कुछ मिल सकते हैं। अधिक विस्तारसे प्रत्येक समीक्षा-लेखकी मीमांसा भूमिकामें सम्भव नहीं है। यहाँपर केवल कतिपय समीक्षाओंको लेकर कुछ संकेत-भर देनेकी चेष्टा की गयी है। यों प्रत्येक समीक्षा-लेख किसी-न-किसी नुक़्तेपर गणनीय है तथा ये सभी लेख उसी अन्वेषण या तलाशकी प्रक्रियामें हैं जिसकी चर्चा लगातार नवलेखनके सन्दर्भमें होती आयी है। उनकी उपलब्धि क्या है—इसकी मीमांसा मैं इस संकलनके पाठकों-समीक्षकोंपर छोड़ता हूँ।

जहाँतक संकलनके लिए समीक्षाओंके चुननेका प्रश्न है, मेरी यह चेष्टा रही है कि पुस्तककी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समीक्षा ही चुनी जाये। यानी कि ज़ोर किसी समीक्षककी सर्वोत्तम समीक्षापर न होकर पुस्तककी महत्त्वपूर्ण समीक्षापर रहा है। इसी कारण एकाध अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंकी समीक्षाएँ भी ली गयी हैं, क्योंकि उनकी समीक्षाएँ महत्त्वपूर्ण बन पड़ी थीं। पर महत्ताका निर्णय किस कसौटीपर? निश्चित ही मेरा अपना वैयक्तिक विवेक उसके लिए उत्तरदायी है—यों मैं लेखकों, समीक्षकों, पाठकों आदिकी रायें भी इकट्ठा करता रहा हूँ। पर दायित्व मेरा है और उसके परिणाम झेलनेके लिए प्रस्तुत हूँ। सामान्यतः कसौटी यही रही है कि समीक्षा समीक्ष्य कृतिकी आन्तरिक सत्ताका उद्घाटन करती हो, समीक्षा-सिद्धान्तकी दृष्टिसे कुछ महत्त्वपूर्ण बात कहती हो, अथवा उसमें पद्धतिका नयापन मिलता हो। इस संकलनको जितना तटस्थ होकर मैंने बनाना चाहा है उससे मेरा विश्वास है कि यदि कोई अन्य व्यक्ति भी इस प्रकारका संकलन सम्पादित करता तो चुनावमें बहुत अन्तर न पड़ता—

संख्या भले ही बढ़ या घट जाती।

गणनीय समीक्षाओंको चुननेके कारण ही हम कई बड़ी महत्त्वपूर्ण कृतियोंकी कोई समीक्षा नहीं चुन सके। कोणार्क, अरे यायावर रहेगा याद, आषाढ़का एक दिन, नये बादल, कर्मनाशाकी हार, तीन निगाहोंकी तसवीर, भूले बिसरे चित्र, मृगनयनी, मिलनयामिनी, सतरंगे पंखोंवाली आदि ऐसी ही अनेक कृतियाँ हैं जिनकी अच्छी समीक्षाएँ मेरे देखनेमें नहीं आयीं। पर यहीं यह भी स्वीकार करना चाहूँगा कि इस दिशामें भी मेरी अपनी सीमाएँ रही हैं। हिन्दी-प्रदेशकी विशालता, पत्र-पत्रिकाओंकी दुर्लभता, स्वयंकी अज्ञानता आदि अनेक ऐसे कारण हो सकते हैं जिनके कारण कतिपय बहुत अच्छी समीक्षाएँ छूट गयी होंगी। ऐसी समीक्षाओं और उनके लेखकोंसे क्षमा ही माँग सकता हूँ। यों इस प्रकारकी समीक्षाओंकी सूचनाकी मैं कृतज्ञतापूर्वक प्रतीक्षा करूँगा। हाँ, इस संकलनमें केवल कृति-साहित्यकी समीक्षाएँ हैं—आलोचना-कृतियोंकी नहीं। अस्तु, समीक्षाओंके चयनमें दो ही बातें मुख्य रही हैं। प्रथम: पुस्तक महत्त्वपूर्ण हो (यह महत्त्व कभी गुणका है और कभी ऐतिहासिक सन्दर्भका); द्वितीय: समीक्षा महत्त्वपूर्ण हो। संकलन चार खण्डोंमें विभाजित है। प्रथम खण्डके अन्तर्गत कविता-पुस्तकों, दूसरे खण्डमें उपन्यासों, तीसरे खण्डके भीतर कहानी-संग्रहों एवं चौथे खण्डमें तीन नाटकों एवं एक जीवनीकी समीक्षाएँ संकलित हैं। अनुक्रम पुस्तक-प्रकाशन-वर्षके आधारपर है और जहाँ एक ही वर्षके भीतर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, लेखकोंके वय-क्रमको ध्यानमें रखा गया है। कुछ अपरिहार्य कारणोंसे 'दिगन्त' की समीक्षा यथास्थान न दी जाकर कविता-खण्डके अन्तमें दी गयी है।

संकलनका उद्देश्य किसी प्रकार नयी आलोचनाका विज्ञापन नहीं है—पर संकलन तैयार हो जानेपर सम्पादकको यह देखकर हर्ष भी हुआ और आश्चर्य भी कि नयी रचनाशीलताके समानान्तर ही आलोचनामें भी एक नया उन्मेष दिखाई देता है। नये-पुरानेके मध्य स्थानान्तरणकी एक स्पष्ट प्रक्रिया यहाँ

भी उपस्थित है। 'नवलेखन' का एक संश्लिष्ट चित्र देनेके साथ ही यदि यह संकलन इस नयी विवेक-दृष्टिको स्पष्ट और केन्द्रित करते हुए अधिक गतिशील बना सका तो यह मेरे लिए गर्व और गौरवकी बात होगी।

संकलन तैयार करनेमें समय-समयपर मुझे सर्वश्री नामवर सिंह, अजितकुमार और अशोक वाजपेयीसे सलाह-सहायता मिली है। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैनने प्रकाशनका भार तत्काल स्वीकार कर लिया। इन सभी मित्रों-शुभचिन्तकोंके प्रति आभारी हूँ। और हाँ, अगर पत्नीको धन्यवाद देना शिष्टाचारके विरुद्ध न हो तो मैं कमलेशको भी धन्यवाद देना चाहूँगा।

दिल्ली विश्वविद्यालय
विजयादशमी,
१५ अक्टूबर, १९६४

— *देवीशंकर अवस्थी*

एक

प्रामाणिक अनुभूति

और

बृहत्तर माध्यमकी खोज

• •

प्रभाकर माचवे

प्रामाणिक अनुभूति*

गेटेने एक जगह लिखा है कि "आजकलके कवि अपनी स्याहीमे बहुत-सा पानी डाल देते है।" और आधुनिक हिन्दी कवितामे तो वह पानी या तो आँसुओका होता है या 'कागज़ी क्रान्तिकी शाब्दिक सिपाही-गिरी' के आक्रोशके पसीनेका। 'अज्ञेय' हिन्दीके आधुनिक कवियोमे उनमे-से है जिन्होने जो कुछ लिखा है वह अनुभूतिकी गहराईके प्रति प्रामाणिक होकर, किसी प्रकारके बाह्य आग्रहके वशीभूत होकर नही, चाहे वह श्रोतृ-पक्षका हो या पाठक-वर्गका। इसी कारणसे उनकी काव्य-कलामे एक प्रकारकी निरन्तर खोज विद्यमान है।

इस संग्रहमे आकर उनकी कविता हरी घासपर क्षण-भर रुक गयी है—शबनमकी तरह नही कि जो दूसरे क्षणमे ढुलक जायेगी, बल्कि 'अतीतके शरणार्थी'की भाँति 'जीवनके अनुभवका प्रत्यवलोकन' करने, आत्ममन्थन-रत होकर। इस संग्रहकी सबसे सुन्दर और लम्बी कविता इसी नामसे है – 'हरी घास पर क्षण भर'। दूसरी उतनी ही शक्तिमयी कविता है – 'नदी के द्वीप'। दोनोंमें कवि अपने व्यक्तिवादकी एक नयी व्यंजना करता है। वह शहराती तथाकथित सभ्यतासे ऊबा हुआ है; वह बनावटी उपनामोका, घिसी-घिसायी अलंकार-नियोजनाका क़ायल नही; वह अनुभव करता है कि सुखका आविष्कार मानवके प्रत्येक अहंमें सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका है; अब केवल मौन ही नयी कहानी कह

---

* हरी घासपर क्षण भर : अज्ञेय

सकता है। इसी अर्थमें 'क्षण-भर' शब्दकी महत्ता है; अभी तो हम धारा नहीं हैं, द्वीप हैं, धाराने हमारा आकार गढ़ा है – परन्तु बाढ़ आनेपर क्या होगा ? होने दो, जो होगा सो होगा। डी० एच० लॉरेन्सने तीस वर्ष पूर्व अपनी नयी कविताओंकी भूमिकामें इसी प्रकार लिखा था – "आरम्भ की और अन्तकी कवितामें चाहे पूर्णता हो, हमारी कविता तो निकटतम वर्तमानकी है। इसी क्षणकी, अभीकी। जीवन इसी प्रकारसे चिर-वर्तमान है, वह अन्त नहीं जानता !"

इस प्रकारसे अज्ञेयकी कवितामें इम्प्रेशनिस्ट चित्रकारोंका-सा क्षण-चित्रण प्रधान है। इसीसे उसकी अनुभूतिमें अन्तर्निहित मूक व्यथा, एक घुटा-सा दर्द, कुण्ठित पीड़ा होनेपर भी वह भावुकताका प्रदर्शन नहीं करता; उसकी स्याहीमें आँसुओंका पानी नहीं है। उसकी करुणा प्रगाढ़ है। 'वह हरहराते ज्वार-सा बढ़ सदा आया एक हाहाकार' है। उसमें परितापकी जलन है अतृप्तिका निरा धुँधुवाना नहीं। इसी आत्मविश्वाससे वह लिखता है –

समर्पण लय, कर्म है संगीत;
टेक करुणा – सजग मानव प्रीति !

कुल मिलाकर यह संग्रह स्मृतियोंका एक अलबम-सा है, जिसमें-के कुछ चित्रोंपर-के रंग उड़ गये हैं; कुछ चित्र फीके पड़ गये हैं; कुछ खण्डित हो गये हैं; और उस भग्नावशेषकी दीवारोंसे उठती एकाकी गुहार-की अनुगूँज वहाँके अवकाशमें समा गयी है। प्रत्यभिज्ञा सदा ही मधुर नहीं होती। और कहीं-कहीं हरी घासमें-से भी सूखी घास झलकती है, जैसे 'एक ऑटोग्राफ़', 'शरदकी तुकें' (पृ० ३६), 'कवि', 'हुआ क्या फिर', 'पुनराविष्कार' आदि। 'सवेरे-सवेरे', 'और दीखती है दीठ' आदि कविताओंमें वही 'शिशिर की एका निशा' वाली कड़वाहट है। कहीं-कहीं हठाकृष्ट रचना भी है, मानो प्रयोग कहीं लड़खड़ा गया हो। कहीं दुरूहता घनी हो उठती है।

परन्तु इन दोषोंके बाद भी इस संग्रहमें हरापन है। 'ओ रे आमार सबूज, ओ रे आमार काँचा' कहकर रवीन्द्रने और ह्विटमैनने 'लीव्ज़ ऑव ग्रास' में 'हिलते हुए हरे-हरे छोटे रूमालोंसे धरित्री मानो बादलोंको बुला रही है' कहकर इस दूबको याद किया था। भूमिकामें कुछ अतिरिक्त निकटतासे कविने 'संसारमें उद्यानोंकी कमीके कारण जहाँ-तहाँ बची हरी घासकी थिठालियोंको भी उजाड़ फेंकना' चाहनेवालोंके कुण्ठित अकरुण मनको व्यर्थ ही कोसा है। वस्तुतः कविका मन स्वयं उद्यान-प्रिय जान पड़ता है उसकी अलंकृता रचनासे। पहलेका वन्य 'भग्नदूत' अब आकर बहनेसे डरता है – 'पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।'' क्योंकि उसकी चेतना ठिठककर द्वीपरूपिणी बन गयी है। यायावरत्वका मोह भी ऐसी ही एक प्रतीप ईहा है। परन्तु हम चाहते हैं 'अज्ञेय' जो कि आधुनिक हिन्दी कविताको अन्तर्राष्ट्रीय रूखी गद्यप्राय वर्तमान कविताकी धारासे जोड़नेवाली एक स्रोतस्विनी हैं, द्वीप न बन जायें। और फ़ेदेरिको गार्शिया लोर्काकी भाँति वे कहें – हरा – मैं तुम्हें हरा चाहता हूँ।

हरी हवा। हरी शाखें।
समुद्र पर जहाज़
और पर्वतोंमें घोड़ा!

• •

प्रामाणिक अनुभूति

नरेश मेहता

'अर्चना' का कवि ★

निरालाजी सही मानोंमें रोमैण्टिक कवि हैं। क्योंकि वे दूसरे छायावादियोंकी तरह अपनी ही व्यक्तिगत शैलियों या युग-विशेषके विशिष्ट अभिधानों, अलंकारों, रूपकोंमें बँधकर नहीं रहे। इसलिए उनका रोमैण्टिक तत्त्व अपनी अभिव्यक्तिके लिए सदा नयी भाषा, नयी शैली एवं नये प्रयोग खोजता हुआ आज 'अर्चना' की सृष्टि कर सका है। निरालाका कवि प्रमुखतः इन तीन विभाजनोंमें रखकर देखा जा सकता है : भाषा, भाव, और छन्द।

भाषा : निरालाकी भाषा कोई सीमा नहीं जानती। उन्हें भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए जब जिस शब्दकी आवश्यकता हुई वह बोलियों, संस्कृत, उर्दू सब 'स्टॉक्स' से लेना अच्छा लगा; इसलिए निरालाके साहित्यमें शब्दोंका भण्डार है। संस्कृत-बहुल भाषी कविने ब्रज भाषा, या बोलियोंके बहुत ही ठेठ प्रयोग भी किये हैं। कई गीत तत्सम संज्ञा तथा विशेषणके होनेपर संस्कृतके पद लगते हैं, क्योंकि उनमें क्रियापदका लोप रहता है। कहींपर 'अट नहीं रही है', 'बे-परकी बातें न पटेंगी'—जैसे प्रयोग भी साफ़ तरीक़ेपर किये हुए मिलते हैं। 'अर्चना' में सर्वनामके बहुवचनसे सम्बन्ध कारकका काम लिया गया है और यह हिन्दीकी अभिव्यंजना-शैलीको बढ़ाता है। जैसे—'हिंस्र पशुओं भरी'।

भाव : निरालाजी उन 'प्यूरिटन' कवियोंमें-से नहीं हैं जिन्हें एक

★ अर्चना : निराला

विशेष सौन्दर्य, या मुद्रा, क्षेत्र, परिस्थिति ही काव्य-प्रेरणा देती है। हिन्दी-जगत् उनकी इस व्यापकताको पहचानता ही है। 'बादल-राग,' 'जुहीकी कली,' 'शक्ति-पूजा,' 'कुकुरमुत्ता' से लेकर 'अर्चना' तक आते-आते कवि भक्त-कवियोंके संगीत या पद गाने लगता है।

छन्द : छन्दोंके जो दो भेद हैं 'मोटे रूपसे'—मात्रिक तथा वर्णिक, निरालाजीने इनका उपयोग तो किया ही है, और हिन्दीवाले अज्ञानी आलोचकों-द्वारा दिये गये नाम 'केंचुआ छन्द'को भी भूले नहीं होंगे, जिसको शुरू करनेका सेहरा भी इनके सिरपर ही बाँधा गया है। पर क्या निराला-जीके वे 'केंचुआ छन्द' सचमुच ही किसी मछलीके काँटे-जैसे ही हैं जो कि हमारे गलेमें अटकते हैं ? ये सभी छन्द थोड़ी-सी कठिनाईके बाद हमारी समझमें आ जाते हैं कि जिनमें-से कुछमें उर्दूकी बहरको टुकड़ोंमें रखा गया है या कभी गानेके खयालसे दो मात्राएँ बढ़ा दी गयी हैं या घटा दी गयी हैं। निरालाके मुक्त-छन्द एक सुनिश्चित ताल-क्रमके संयोगमें गुँथे हुए मिलेंगे। मैं उनकी चर्चा ही नहीं करता जो 'कनौजिया छन्द' में 'दारागंजी रामायण' को दक्षिण भारतमें प्रचारार्थ छापते हैं। क्योंकि काव्य न तो ब्राह्मण है, न शूद्र। निरालाने ठुमरी, दादरा, खयाल (द्रुत विलम्बित) से अपने छन्दोंको गढ़ा है। 'गीतिका' की भूमिकामें उस्तादों-की गलेबाजीके कारणके 'मैथेमैटिकल' हो जानेपर जो रोष प्रकट किया है, उसीके फलस्वरूप उस संकलनमें उन्होंने आरोहावरोहोंके आधारपर स्वर-विस्तार तथा भाव-गाम्भीर्यको परिपुष्ट किया है। 'अर्चना' में यह प्रभाव स्पष्ट रूपसे उभरा है, जिसकी चर्चा आगे होगी।

'अर्चना' पर कुछ कहनेके पूर्वकी यह चर्चा थी। निराला छायावादके प्रवर्तकोंमें-से हैं, फिर भी क्या कारण है कि आज वे दूसरे प्रवर्तकोंकी भाँति चुप न होकर 'बेला', 'नये पत्ते' और 'अर्चना' लिखते रहे ? ऐति-हासिक क्रमिकतामें छायावाद भी विद्रोही लगता है : 'सूक्ष्मका स्थूलके प्रति विद्रोह' या अन्तरका बाह्यके प्रति विद्रोह'—ये छायावाद-दर्शनके लिए

सूत्र हमें दिये गये थे, पर यह सुन्दर बेल ड्रॉइंग-रूमके गमलोंमें जाकर सूख गयी। क्योंकि धरतीका सम्पर्क इस बेलको नहीं मिला। पन्तजीकी बौद्धिक चेतनाने युगको वाणी दी, 'ग्राम्या' को सँवारा, पर बुद्धिसे तो कविता नहीं की जाती है न? कांग्रेसका 'जन-आन्दोलन' कलाकारोंको किसी सीमा तक धोखा दे सका कि 'स्वतन्त्रता' (आज़ादी बनाम ग़ुलामी) के बाद 'जन-जन' के लिए स्वर्ग स्थापित होगा। जिन कलाकारोंके पास वैज्ञानिक दृष्टिकोण था वे तो सन् १९२५ में च्यांग-द्वारा दिये गये ऐसे ही आश्वासनोंका मूल्य पहचानते थे, पर जो 'मात्र-कवि' थे वे फिरसे भटक गये।

निरालाजी स्वयंसे जूझ रहे थे। 'बंगालका अकाल', 'शरणार्थी-समस्या', 'हिन्दू-मुसलिम-हत्याकाण्ड', 'तैलंगानामें गोलियाँ', 'बलियाके किसान' जैसे सबके सब निरालाके व्यक्तिगत जीवनमें घनीभूत हो उठे थे। उनके व्यक्तिगत जीवनके चारों ओर दरिद्रता और विषम परिस्थितियों-की ऐसी कँटीली मेंड़ लगी हुई थी (है, का भी प्रयोग किया जायेगा) कि वे मूर्तिमान हिन्दुस्तानके प्रतीकके रूपमें हमारे सामने आये हैं। जैसे-जैसे कांग्रेसकी नक़ाब उतरती गयी हिन्दुस्तानकी जनता वैसे-ही-वैसे निराश होती गयी। मुझे क्षमा करें; हिन्दुस्तान जैसे एक बहुत बड़ा निराला हो, जो कि 'विक्षिप्त'-'भूखा' परन्तु अपनी सारी ऊँचाइयोंके साथ घिरा है। कांग्रेस किस मुँहसे जनताके पास पश्मीनेकी अचकन और सफ़ेद टोपी पहने वोट लेने जा रही है, क्योंकि उसपर महाकवि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'के ख़ूनके आँसू, भूख, विक्षिप्तता लिपटी हुई है! जनता आज निराला है, और निराला ही वह जनता है जो कि 'अर्चना' के इन ११२ छन्दोंमें फूटकर बिखरी है।

इस विषय-क्षेपके लिए क्षमा चाहूँगा, पर यह आवश्यक भी था; क्योंकि जिन परिस्थितियोंमें निरालाके इस संग्रहका प्रणयन हुआ, मैं उनके बारेमें लिख रहा हूँ; और आप इसके विषयमें पढ़ रहे हैं, उनको साफ़-साफ़

समझना भी साहित्यकी एक प्रमुख माँग है।

'जीवन बिना अन्न के है विपन्नाव'

'अर्चना' की सारी भक्तिके बीचमें यह पंक्ति हुकूमतकी इस कुतुबमीनारको चुनौती दे रही है।

'अर्चना' एकदम सरसरी तौरपर देखनेपर हमें निरालाकी 'विनय-गीतिका' का संग्रह लगता है। निराला छायावादी कविके स्थानपर भक्त कवि-से लगते हैं। पर क्या यह सच है? आजके युगमें भक्ति-काव्यकी सर्जना क्या सम्भव है? नहीं, क्योंकि प्रत्येक युगकी एक विशेष माँग हुआ करती है। इसलिए 'अर्चना' के भक्ति-पदोंमें भक्तिकी तन्मयता नहीं, वरन् सच्चे कविका आक्राश है। इसलिए ये भक्ति-काव्यके अन्तर्गत नहीं हैं।

'अर्चना' में प्रत्यूष-बेलाकी ज्योतिष्मती 'उषस्' का आह्वान है। आजका जीवन तिमिराच्छन्न हो रहा है और कवि आलोकके देवताकी अर्चना कर रहा है कि 'हुई असित जीवनकी सरिता' और इसीलिए 'नव जीवनका सूर्योदय हो।' अर्थका अनर्थ कभी नहीं चाहूँगा इसलिए स्पष्ट कर दूँ कि कविने इस सूर्योदयको स्पष्ट नहीं किया है कि इस 'अरुण' तिमिर दारण मिहिर' से क्या अर्थ है? ये मात्र शब्दके लिए शब्द हैं, या फिर इनके पीछे कोई व्यंजना भी है? अन्य अर्थकी निष्पत्ति, कदाचित् कविके साथ अन्याय हो, इसलिए हम इसमें कोई रूपक न खोजकर चित्र-मात्र मान लेंगे।

इस संकलनकी विशेषता जो देखनेपर लगती है सहसा, वह है इसकी गेयता। निरालाजी छन्दके प्रयोगके लिए अद्वितीय हैं ही, पर इस संकलन-में यह गेयता एक और दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हो गयी है—यह जन-गीतात्म-कताके और क़रीब लगती है। जैसे यह गीत है—

गवना न करा।
खाली पैरों रास्ता न चला।

कँकरीली राहें न कटेंगी,
बेपर की बातें न पटेंगी,
काली मेघनियाँ न फटेंगी,
ऐसे-ऐसे तू डग न भरा।

हमारे सामने एक मधुर चित्र आ जाता है उस ग्राम्याका, जिसका द्विरागमन होनेको है। और उसकी मुहावरेदार भाषामें दरिद्रता, स्वयंके कोमल होनेकी व्यंजना एकदम साफ़ होने लगती है। बहुत कम शब्दोंका प्रयोग करते हुए भी चित्र एकदम साफ़ कर देना निरालाकी उच्चता सिद्ध करती है। चित्र है —

बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु !
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !
यह घाट वही जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँसकर,
आँखें रह जाती थीं फँसकर,
कँपते थे दोनों पाँव बन्धु !

'धँसकर' शब्दकी ध्वनि स्पष्ट ही है। शास्त्रीय दृष्टिसे 'स्मरण वेपथुश्च' का उदाहरण 'कँपते थे दोनों पाँव बन्धु' से लक्षित होता है।

इस संग्रहमें होलीसे सम्बन्धित कई गीत हैं, और जो अनुपम हैं। कई गीत तो रीतिकालीन मस्त कवियोंकी होलीके चित्रोंके साथ-साथ हमें वृन्दावनकी वैष्णवी शैलीका भी स्मरण कराते हैं —

राग-पराग-कपोल किये हैं
लाल-गुलाल अमोल लिये हैं
गाये खग-कुल-कण्ठ गीत शत,
संग मृदंग तरंग-तीर-हत,
भंजन मनोरंजन-रत अविरत,
राग-राग को फलित किया री—

विकल अंग कल गगन-विहारी !
केशर की कलि की पिचकारी ।

पर होलीके गीतोंमें 'खेलूँगी कभी न होली' वाला गीत उन्हें जनताके बहुत क़रीब ले जाता है; और ऐसे ही गीतोंमें वे सर्वश्रेष्ठ लगने लगते हैं। 'फूटे हैं आमोंमें बौर' होलीके सारे गीतोंमें सर्वोत्तम है, जिनमें रंग और रूप-चित्रोंकी कला निखरी हुई हमें मिलती है। 'अर्चना' के बहुत-से ऐसे गीत हैं जो हमें बाँध लेते हैं, जिनकी भाषाकी रवानी, अभिव्यंजनाकी सरल वक्रता, एक पंक्तिमें इस मार्मिक परिस्थितिका चित्रण बताता है कि निराला गीतोंके कला-कौशलमें कितने सिद्धहस्त हो गये हैं। उदाहरणके लिए कुछ गीतोंकी पहली पंक्तियोंको रूप, रंग, ध्वनि, परिस्थितिके हिसाबसे देखिए –

१. खेलूँगी कभी न होली
उससे जो नहीं हमजोली — रूप

२. नयन नहाये
जबसे उनकी छबि में रूप बहाये। — रंग

३. अली गूँज चली द्रुम कुंजों — ध्वनि

४. प्रिय के हाथ लगाये जागी
ऐसी मैं सो गयी अभागी। — परिस्थिति

गीतोंकी कलाको निरालाजीने जितना सशक्त बनाया है उतना हिन्दीमें दूसरे किसीने नहीं किया है। 'अर्चना' में अजीब-अजीब मनोभावोंको सुन्दर, मुहावरेदार, संस्कृत-निष्ठ भाषामें प्रस्तुत किया गया है। एक बात जो विशेष ध्यान देनेकी है वह यह कि एक ही दिनमें कई-कई गीतोंका प्रणयन किया गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि रूप और भक्ति, ये दो ही प्रस्तुत संग्रहके प्रिय विषय हैं।

इस संग्रहके निर्माणमें निरालाजीके दारागंजमें एकान्त-निवासका बहुत बड़ा हाथ दिखाई देता है। धार्मिक वातावरण, भजन-कीर्तनका वायु-

मण्डल, गंगा-स्नानके लिए आयी हुई धार्मिक जनता—इन सबका प्रभाव 'अर्चना' में स्पष्ट है। अधिकतर गीतोंमें 'धर्म' उभरकर आया है, बल्कि एक गीतमें तो यह जोश दर्शनीय भी हो सकता है –

तू चला जब तक न तनकर,
धर्म का ध्वज कर न लेगा।

'पतित पावनी गंगे', 'भजन कर हरि के चरण मन', 'हरि का मन से गुण-गान करो' ऐसे ही गीत हैं जिनमें निरालाका कवि दब जाता है।

निरालाजीने चलती हुई भजनकी धुनें, दादरा, ठुमरीकी बन्दिशें सब ही अपनायी हैं। जैसे –

वें कह जो गये कल आने को,
सखि, बीत गये कितने कल्पों।
(धुन : बजरंग बली मेरी नाव चली)
हरि का मन से गुण-गान करो,
तुम और गुमान करो न करो।
जिनकी नहीं मानी कान
रही उनकी भी जी की
(ठुमरी की बन्दिश दूसरी पंक्ति में)

पर ये स्थल इतने कम हैं कि संकलनकी पूर्णतामें अखरते नहीं हैं।

निरालाजीने गीतोंमें जितनी महान् 'इमेजरीज़' दी हैं वे बतलाती हैं कि गीतमें भी कविकी 'सब्लिमिटी' सम्भव है।

कैसे हुई हार, तेरी निराकार,
गगन के तारकों बन्द हैं कुल हार?
दुर्ग दुर्धर्ष यह तोड़ता है कौन?
प्रश्न के पत्र, उत्तर प्रकृति है मौन;
पवन इंगित कर रहा है—निकल पार।
सलिल की उर्मियाँ हथेली मारकर

सरिता तुझे कह रही है कि कारगर
विपत से पार कर जब पकड़ पतवार।

साड़ी के खिले मोर,
रेशम के हिले छोर — (इमेज)

तरंगों टूटता सिन्धु—
शत संहत आवर्त-त्रिवर्तों
जल पछाड़ खाता है पर्तों,
उठते हैं पहाड़ फिर गर्तों
धँसते हैं, मारण-रजनी है।

भक्तों के आशुतोष,
नभ-नभ के तारे हैं।

तुमने जो गही बाँह,
वारिद की हुई छाँह,

अन्धकार के दृढ़ कर
बँधा जा रहा जर्जर
तन उन्मीलन निःस्वर,
मन्द्र-चरण मरण ताल।
सुरतरु वर शाखा
खिली पुष्प-भाषा। — आदि

निरालाजी इधर सरल होते जा रहे हैं जो कि उनकी प्रगतिका चिह्न है। हिन्दी-काव्यकी भाषा विशेषकर गीतोंकी, इधर जितनी निरालाजीने माँजी है वह उन्हें उपयुक्त युग-प्रवर्तकके स्थानपर बिठाती है।

दो-तीन गीत तो हमें सूरदासकी गोपियोंका स्मरण कराते हैं जब वे उद्धवसे कृष्णकी शिकायत करती हैं: 'हरिण नयन हरि ने छीने हैं'—

कुछ गीतोंमें जो नैराश्य, या अधिक स्पष्ट कहूँ तो पराजय, का स्वर सुनाई पड़ता है, वह जैसे हम सबका स्वर हो। इसका मुख्य कारण यह है कि जिस समाजके पास मार्क्सवादी सामाजिक एवं वैज्ञानिक दर्शन नहीं हुआ करता उस जाति (या व्यक्ति) का विद्रोह या रूप प्रतिक्रियात्मक होने लगता है और तब धर्मके प्रति आस्था उत्पन्न होती है; 'एक संज्ञा (शरीरी या अशरीरी) ही नियन्ता है' की चेतनाका बोध करवाया जाता है। इस प्रकार का बोध करवानेमें राजनीति (पूँजीवादी) का हाथ हुआ करता है। इसलिए 'अर्चना' में निरालाके दूसरे रूपका भी जो दर्शन होता है वह केवल उनका ही नहीं है हमारा रूप है, हमारे पूरे समाजका रूप है, हमारी राजनीतिका जहर है, तभी तो राजनीति 'ऑस्ट्रेलियन वोमर्स'की बग्घीपर 'ऐडीसियों' से घिरी 'सलाम' लेती है और साहित्य विक्षिप्त-सा होकर गंगाकी रेतीमें फटी बिवाइयोंके रक्त-चिह्न छोड़ता हुआ दम तोड़ रहा है —

ये दुःख के दिन
काटे हैं जिसने
गिन-गिनकर
पल-छिन, तिन-तिन
आँसू की लड़ के मोती के
हार पिरोये,
गले डालकर प्रियतम के
लखने को शशि-मुख
दुःख निशा में
उज्ज्वल अमलिन।

'अर्चना' आजके इस 'तुलसीदास' की विनय-गीतिका है। निराला नये युगकी 'अरुणा' की अर्चना कर रहे हैं। वे हमारे युगके नेता हैं, हम उनके शब्दोंको, उनकी व्यंजनाको ख़ूब पहचानते हैं कि उनका अर्थ

'अरुणा' से क्या है :

काटे कटी नहीं जो धारा
उसकी हुई मुक्ति की धारा,
बार-बार से जो जन हारा
उसकी सहज साधिका अरुणा।

• •

प्रभाकर माचवे

अत्यन्त आत्मनिष्ठ*

सन् १९४३ में पहला 'तार-सप्तक' छपा था। आठ साल बाद फिर एक 'तार-तर' सप्तक। आधुनिक हिन्दी कविताके विकास और भविष्य-पर 'अज्ञेय' का विश्वास अदम्य है। तभी तो पन्द्रह पृष्ठोंकी सम्पादकीय भूमिकामें कवितामें प्रयोग — 'वाद' और प्रयोगशीलतापर उठाये गये विरोधी तर्कोंका प्रत्युत्तर और नये कवियोंकी नयी व्यंजनाके समर्थनमें कुछ बातें कही गयी हैं। यह भूमिका आधुनिक हिन्दी कवि और नव कविताके समीक्षकको अवश्य पढ़नी चाहिए। इसमें उठाये तर्क और स्थापनाएँ हमें प्रायोगिक कविताके विषयमें पुनर्विचार करनेके लिए बाध्य करती हैं। 'अज्ञेय' का कहना है कि 'प्रयोग' का कोई 'वाद' नहीं होता और प्रयोग अपने-आपमें साध्य है। प्रयोगका अर्थ परम्पराका आमूल निषेध भी नहीं है। जो आलोचक यह कहते हैं कि प्रयोगशील कवि अति-बौद्धिक हैं, या इनकी रचनाओंमें साधारणीकरण नहीं है, या इनमें वैयक्तिक अनुभूतिका इतना अधिक चित्रण है कि सार्वजनीन रसोद्बोधन उनसे शक्य नहीं, उन्हें 'अज्ञेय' ने बहुत शास्त्रीय उत्तर दिया है। परन्तु 'अज्ञेय' की इन स्थापनाओंसे हम सहमत नहीं हैं कि "कविताकी भाषा निरन्तर गद्यकी भाषा होती जाती है। इस प्रकार कविके सामने हमेशा चमत्कारकी सृष्टिकी समस्या बनी रहती है।" काव्यानन्द-मीमांसामें रसकी चर्वणा ताटस्थ्यकी अपेक्षा तन्मयीभवनमें अधिक होती है। जगन्नाथने चमत्कारित्व-

---

* दूसरा सप्तक : सम्पादक—'अज्ञेय'

को काव्य-जीवित माना था।[1] शब्द-चमत्कृति, अर्थ-चमत्कृति[2] के सिवा कहीं[3] रसको, कहीं व्यंग्यार्थ[4] को और कहीं-कहीं औचित्य[5], सादृश्य[6], वैचित्र्य[7] और वक्रता[8] तकको चमत्कार माननेकी संस्कृत काव्य-शास्त्रियोंमें प्रवृत्ति थी। 'चेतन' 'चमत्कारिता' आदि कुन्तकके शब्द स्पष्ट करते हैं कि चमत्कार सहृदय हृदयके अन्तःकरणकी वृत्ति है। कवि-धर्म नहीं। साहित्यदर्पणकारने काव्यसे उत्पन्न आह्लादमय चमत्कारको विस्मयसे भिन्न माना है।

काव्य या कलासे होनेवाले आनन्दको पाश्चात्य समीक्षकोंने अलग-अलग तरहसे वर्णित किया है। रिचर्ड्स उसे समघातता (सिनेस्थेसिस) मानता है। क्लाइव बेलने उसे एक विशेष प्रकारका रोमहर्षण (स्पेसिफ़िक थ्रिल) माना है; तो वर्नन ली उसे एक सौन्दर्यपरक मनोवस्था (एस्थेटिक स्टेट) मानती है, जो कि अन्य अवस्थाओंसे भिन्न और विशिष्ट प्रकारकी (सुई जेनेरिश) है। काव्यानन्द पुनः प्रत्यय और प्रत्यभिज्ञापर भी आश्रित रहता है। ऐसी दशामें कवि-कर्मको सामाजिक आशयसे शून्य निरे नये शब्दोंकी टोह या नयी चमत्कारपूर्ण अर्थवत्ताकी शोध मात्र नहीं माना जा सकता। अन्यथा आधुनिक कविताकी दुर्ज्ञेयता और प्रेषणीयताकी सीमितताको कैसे समझा जा सकेगा ?

---

१. काव्यजीवितं चमत्कारित्वं अविशिष्टमेव। रसगंगाधर, पृ० ७।
२. अर्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः। वही, पृष्ठ १६।
३. अलौकिक-चमत्कारकारी-शृंगारादिको रसः। काव्यप्रकाश, पृ० ६३।
४. व्यंग्यस्यापि चमत्कारितया। रसगंगाधार पृ० १०।
५. औचित्यस्य चमत्कारकारिणः। औचित्यविचारचर्चा, कारिका ३।
६. सादृश्यस्य चमत्कारित्वात्। रसगंगाधर, पृ० १५७।
७. लोकोत्तरचमत्कारकारि, वैचित्र्यसिद्धये। वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष १ कारिका ३।
८. चेतनचमत्कारिणीं वाक्यवक्रतामावहन्ति। वही, उन्मेष २।

भूमिकाके 'चमत्कार' पर हम अधिक कह गये। वस्तुतः यह स्वतन्त्र लेखका विषय है। हम समझते हैं कि इस भूमिकापर हिन्दीमें शब्द-संगर मचेगा। मचना चाहिए।

कवि-परिचय साधारण है। अबकी बार उनमें विनोदकी वह सूक्ष्म पुट नहीं है जो पहले 'तार-सप्तक' में थी। वक्तव्योंमें शमशेरबहादुर सिंहका वक्तव्य सबसे ईमानदार और सुलझा हुआ लगा। भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर और रघुवीर सहायने टालमटूल की है—कुछ तो संकोचवश, कुछ इसलिए भी कि कविताके विषयमें उनके विचार अभी अपरिपक्वावस्थामें हैं, धर्मवीर भारतीके वक्तव्यमें अख़बारी विच्छित्ति-प्रेम है और नरेश मेहताके वक्तव्यमें अनावश्यक स्फीत अहन्ता। हरिनारायण व्यासका वक्तव्य अच्छा है, गो उसमें 'शेखर' की चर्चा विभूति-पूजावाले बाल-सुलभ संस्कारकी सूचक है।

अब कविताएँ। प्रायः सभीमें सम्पादकके शब्दोंमें 'भाषाके परिमार्जन और अभिव्यक्तिकी सफ़ाई'की कमी है और 'अटपटेपनकी झाँकी न्यूनाधिक मात्रामें है'। सबसे कम प्रयोगशील हैं आदि-अन्तके कवि। सही मानोंमें प्रयोगशील शमशेरबहादुर सिंह और रघुवीर सहाय लगते हैं; हरिनारायण व्यास और शकुन्तला माथुर उसी पथके पन्थी हैं। नरेश मेहताने आधुनिकता या प्रयोगशीलताको, लगता है, पचाया नहीं, ओढ़ा है। उदाहरणार्थ उनकी 'समय-देवता' (इस संग्रहकी सबसे लम्बी कविता) लुई मैक्नीसकी इसी विषयपर 'मृत सिपाहीकी आत्मासे बातचीत' कविता-की तुलनामें 'हठाकृष्ट-पाठरचना' जान पड़ती है।

भावुककी रस-ग्राहिका वृत्ति इस संग्रहके कई अटपटे, दुरन्वय-भरे, अभवन् मतयोगवाले, असंलक्ष्यक्रम-लक्षण-युक्त निम्न पदोंपर न केवल अटक-ठिठक ही रह जायेगी, पर ठोकर खाकर चित्त भी गिर सकती हैं, और ऐसी पंक्तियाँ संग्रहमें काफ़ी हैं। उदाहरणार्थ—

भीतर की आहट भर
सजती है सजावट पर
नित्य नया कंकर क्रम

—भवानीप्रसाद मिश्र, पृ० २८।

क्रम की नवीनता
है अगोरती विभा
जोहती विभावरी
है अमा उमामयी
सावलीन बावरी
मौन मौन मानसी,
मानवी व्यथा-भरी।

—शमशेरबहादुर सिंह, पृ० १०४।

तप्त है ज्वर से उजाले का बदन
उष्ण है स्पर्श तेरे गात का।

—रघुवीर सहाय, पृ० १५९।

विनाश की सजीव नग्नता ढको सुकेशिनी
विनाश से डरो नहीं
विकास से डरो नहीं
सृष्टि के लिए बनो प्रथम विनाश-स्वामिनी

—धर्मवीर भारती, पृ० १८३।

एक-एक कविकी रचना लें तो गान्धीवादी भवानीप्रसाद मिश्रकी सादगी और प्रसादपूर्ण शैली बहुत ताज़गी लिये हुए हैं : 'सन्नाटा'-जैसी

कहानियाँ वह और लिखें। उनके पास खण्ड-काव्य लिखनेकी रवानी प्रचुरतामें है। 'असाधारण' का नीत्युपदेशक स्वर चालीस साल पुरानी 'पद्य-पुष्पांजली' की याद दिलाता है। यह सही है कि आधुनिक कविता आधुनिक चित्र-कलाकी ही भाँति आदिम उद्‌गारोंके ढंगकी ओर बढ़ रही है। परन्तु अकृत्रिमताकी सचेत चेष्टा एक प्रकारका मूढ़-ग्राह बन सकती है।

शकुन्तला माथुरने अपने पतिकी भाँति कई सुन्दर शब्द-चित्र उपस्थित किये हैं। उनमें भाव-बिम्बका प्रतिफलन बहुत सहजतासे हुआ है; जैसे 'सुनसान गाड़ी', 'इतनी रात गये' आदि। 'ताज़ा पानी' के ढंगकी कविताएँ वह और लिखें तो 'लीडरके निर्माता' का व्यंग्य सार्थक हो।

हरिनारायण व्यासकी रचनाओंमें मंजुल गुंजारवाले शब्द-चयनका प्रेम (जो धर्मवीर भारतीमें भी है) सिद्ध करता है कि इन सात कवियोंमें पारम्परिक काव्य और संगीतवाले संघटनके सर्वाधिक निकट वह हैं। यह कहना कठिन है कि 'वर्षाके बाद'-जैसे गीतोंमें कौन-सी चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति है जो प्रयोगशील कही जा सके ? 'नेहरूजीके प्रति' कविता भी बचकानी है। 'उठे बादल, झुके बादल' और 'शिशिरान्त' में कविकी विशेषता झलकती है।

शमशेरबहादुर सिंहकी कवितामें सर्वाधिक आधुनिकता है। कवि जैसे शब्दकी समूची व्यंजना-शक्तिका भरपूर उपयोग कर लेना चाहता है। अतः उसका संकेत-चित्रण कहीं बहुत सशक्त हो उठा है, कहीं बहुत हलका। कोषवादी और अतियथार्थवादी चित्रकार जिस प्रकारसे अपनी रचनामें विशिष्ट ज्यामितिक रेखाचित्रणकी शैलीगत मर्यादा और उपचेतन मनके समग्र चित्रणका आग्रह रखते थे; शमशेरबहादुर सिंहमें भी कुछ विदेशी वाम-पन्थी कवियोंकी शैलीका प्रभाव और अपने मनके पूरे संवेदना-जालको व्यक्त करनेकी आतुरता स्पष्ट है। उनकी रचनाओंमें सामाजिक आशय इसी कारणसे प्रधान हो उठता है और कई स्थलोंपर

वह वस्तुनिष्ठा उनके व्यक्तिगत द्वन्द्वोंसे जैसे अनमिल भी है।

नरेश मेहताके 'उषस्'की प्रेरणा है तो वैदिक; परन्तु मुक्तमेघा आदिम साम्यवादी आर्य-सभ्यताका आजके वैज्ञानिक युगमें यों पुनः स्वच्छन्द साँस लेना बेहद रूमानियतसे भरा 'पुनरुज्जीवनवाद' है, जो कि उनके वक्तव्यसे किसी तरह मेल नहीं खाता। अँगरेज़ी कवितामें भी 'प्रीराफेलाइट' दलमें इस प्रकार नव्य-यूनानी (निओ-हेलेनिक) प्रवृत्ति चल पड़ी थी। परन्तु 'समय-देवता' में उनके मनकी रूमानियत कम होकर यथार्थके ऊबड़-खाबण मोड़ कुछ अधिक सजग रूपसे स्पष्ट हुए हैं।

रघुवीर सहायकी कविताओंमें 'ईमानदारी' (कवि-कर्मकी सामाजिकता अनुभूतिके अर्थमें) अधिक है। अतः वैयक्तिक अनुभूतियोंमें निश्छल सुसंगति भी उपलब्ध होती है। कविने मानो अपने बिखरते हुए मन और व्यक्तित्वमें अन्तर्गठन (इण्टिग्रिटी) लानेकी दिशामें कविताको माध्यम रूपसे चुना है। परन्तु चूँकि कविकी स्वानुभूति अल्प और लघु है – अतः जो विराट् स्वप्न उसके नयनोंमें बसा है, उसके प्रति अनिश्चय और संशय उसमें जगता है। 'समझौता' और 'एकोऽहम् बहु स्याम्'के सायंकालके पीछे-की विवशताके प्रति वह जागरूक है और इसीलिए 'प्रभाती', 'मुँह अँधेरे' और 'कोशिश'-जैसी चीज़ें लिखता है।

धर्मवीर भारती इन सभी कवियोंमें सर्वाधिक रोमैण्टिक हैं। उनपर जैसे उर्दूका रंग है। याने कहनेकी ख़ूबीपर वह बहुत मुग्ध हैं। इसलिए कभी-कभी बहुत ख़ूब कह भी जाते हैं। परन्तु यह 'ख़ूब कही, कैसी कही!' वाला बासन घिसा हुआ, मुलम्मा-छुटा है। इधर जो विदेशी अत्याधुनिक कविताएँ उन्होंने अनूदित की हैं, उनके आगे उनकी यह 'पान-फूल-सी' 'सुरमई-सतरँगिया-फ़ीरोज़ी' रूपकी छवि बहुत कैशोर्य-भरी रचना लगती है।

जहाँतक संग्रहकी सब कविताओंमें युग-चेतनाके चित्रणका प्रश्न है, सभी कवि कमोबेश मात्रामें मार्क्सवादसे प्रभावित हैं, भवानीप्रसाद मिश्र और शकुन्तला माथुर सबसे कम; अन्य कवि स्पष्टतः अधिक। संग्रहमें

कुल पाँच-छह कविताएँ राजनैतिक विश्वासोंके प्रति युवक कवि-मनकी प्रतिक्रियाका विचित्र चित्र प्रस्तुत करती हैं; 'स्वतन्त्रता-दिवसपर', 'समय साम्यवादी,' 'लीडरका निर्माता' 'सुभाषकी मृत्यु,' 'नेहरूजीके प्रति' और 'समय-देवता'। इन वस्तुनिष्ठ कविताओंको छोड़, अन्य सब कविताएँ अत्यन्त आत्म-निष्ठ हैं। और कुल जमाकर इस बातकी साक्षी हैं कि हिन्दी कविता सामाजिक यथार्थसे अभी भी दूर है। रूमानियत और छायावादका गाढ़ा रंग उसपर है। और कवि अभी भी 'दूसरी अज्ञात दिशाओंको जाती हुई लम्बी निर्जन छायादार सड़कों का' (धर्मवीर भारती, वक्तव्य) प्यासा है। वह बेचारा 'व्यक्ति कुहा स्पष्ट हृदय-भार आज, हीन-हीन भाव, हीन भाव, मध्य-वर्गका समाज, दीन' (शमशेरबहादुर सिंह) का अंग है, और शमशेरबहादुरकी सन् १९४० में लिखी पंक्ति अभी भी सबके लिए सही है - 'काट बुर्जुआ भावों की गुमठी को—गाओ !'

● ●

बालकृष्ण राव.

आधुनिक और पुरातनका सन्तुलन*

पन्तजीके नवीनतम कविता-संग्रहकी पहली कविताकी पहली पंक्ति है—

"तुम कहते उत्तर-वेला यह,
मैं सन्ध्या का दीप जलाऊँ!"

निश्चय ही, इसके 'तुम' और 'मैं' किसीके भी प्रतीक क्यों न हों, भावक-वर्गकी आँखोंमें यह रचना कविका ही चित्रण करती जान पड़ेगी। स्वर वही चिर-परिचित स्वर है, कथनकी शैली वही भलीभाँति जानी-पहचानी शैली है, भाषा वही पुरानी ग्रान्थिक भाषा है—और, एक प्रकारसे देखा जाये तो, कथ्य भी वही पुराना आत्म-विश्वासका उद्घोष है। "मैं प्रभात का रहा दूत नित, नव प्रकाश सन्देशवाह स्मित", "मैं मानस धर्मा, अक्षय वय"—अपने सर्वथा सजीव और सक्रिय होनेका दावा, भिन्न शब्दोंमें सही, वयःप्राप्त कवि बहुधा करते रहे हैं। बहुधा इस तरहका दावा करना ही ख़तरेकी पहली घण्टीकी तरह भावकवर्गके कान खड़े करनेका काम करता है। कवि जब यह पूछता है कि,—

"नव विकास पथ में मुड़ मैं अब,
क्यों न भोर बन फिर मुस्काऊँ?"

तो मानो प्रतिध्वनि उत्तर देती है: "इस कारण नहीं, क्योंकि अब तुम मुसकाना भूल गये हो"—और एक बार भूलकर फिर मुसकाना सीखा

* 'अतिमा': सुमित्रानन्दन पन्त।

नहीं जा सकता, भले ही मुसकानेकी प्रक्रियाको दोहराते क्यों न रहा जाये।

पन्तजीकी यह कविता बड़े साहसकी कविता है। यह स्वीकार करनेमें उन्हें कुछ भी संकोच नहीं हुआ कि "मैंने कब जाना निशि का मुख ?"— न इस अपरिचय और अनुभूतिके कारण उन्हें इस आमन्त्रण (अथवा चुनौती) के देनेमें ही कोई संकोच हुआ कि—

"आओ तम के कूल पार कर,
नव अरुणोदय तुम्हें दिखाऊँ !"

हम कविका आमन्त्रण स्वीकार करके उसके साथ बढ़ते हैं। इसे हम आमन्त्रण ही मानेंगे, चुनौती नहीं। 'उत्तरा'की भूमिकाके बाद कवि उस स्तरसे बहुत ऊँचा उठ गया जिस स्तरपर लोग चुनौतियाँ देते और स्वीकार करते हैं। बाह्य और आन्तरिकका सामंजस्य ऊर्ध्व संचरणके द्वारा करने-की क्षमता रखनेवाला कवि हमें आमन्त्रण ही दे सकता है, चुनौती नहीं। वह हमें अपने साथ तमके कूल पार करके नव अरुणोदय दिखाने ले जायेगा और इस तरह प्रमाणित कर देगा कि वह "प्रभात का रहा दूत नित, नव प्रकाश सन्देशवाह स्मित"। 'अतिमा' की कविताओंमें यही आमन्त्रण निहित है।

संग्रहके छोटे-से विज्ञापनमें पन्तजीने संग्रहीत कविताओंका तीन श्रेणियोंमें विभाजन कर दिया है। एक श्रेणी प्रकृति-सम्बन्धी कविताओंकी है, जिनके अतिरिक्त 'अधिकतर' ऐसी रचनाएँ संग्रहीत हैं "जिनकी प्रेरणा युग-जीवनके अनेक स्तरोंको स्पर्श करती हुई सृजन-चेतना नवीन रूपकों तथा प्रतीकोंमें मूर्त हुई है।" अतः प्रकृति-सम्बन्धी कविताओंके अतिरिक्त एक श्रेणी इस प्रकारकी कविताओंकी हुई जो 'अधिकतर' हैं, इसलिए तीसरी श्रेणीमें वे होंगी जो इन अधिकतर कविताओंके अलावा हैं। यही अच्छा होगा कि हम संग्रहीत कविताओंका अनुशीलन इन्हीं तीन श्रेणियोंमें करें। कवि और उसकी कृतिके साथ हम सम्भवतः इसी प्रकार तादात्म्य

स्थापित करनेमें सबसे अधिक सफल हो सकेंगे।

प्रकृति-सम्बन्धी कविताओंमें दो प्रमुख हैं : 'जन्म-दिवस' और 'कूर्मांचल के प्रति'। दोनों इस संग्रहकी अन्य सभी कविताओंसे आकारमें बड़ी भी हैं। दोनों ही उस पार्वत्य प्रदेशसे सम्बन्धित हैं जहाँ कवि अपने जीवनके उषःकालमें भावी काव्य-कृतियोंके लिए प्रकृतिसे प्रेरणा पाता रहा। 'जन्म-दिवस'में पहले अपने घर-द्वार, स्नेही-सम्बन्धियों, पुरजनों और परिजनोंके अत्यन्त सुन्दर शब्द-चित्र अंकित कर, उनका हमसे परिचय करानेके बाद कवि बड़ी ही भाव-प्रवणता और उत्कृष्ट शिल्प-कौशलका परिचय देता हुआ एक साधारण प्रादेशिक प्रेम-कथाका हृदयग्राही चित्रमय अंकन करता है। इसमें कविको कितनी सफलता मिली है यह नीचेकी दो पंक्तियाँ ही प्रमाणित कर देंगी,—

> "गूँज रही होंगी गिरि वन अम्बर में दुहरी तानें,
> और पास खिंच आये होंगे दो जन इसी बहाने।"

इसके बाद, अधिक गम्भीर स्वरमें, कवि अपने जन्म-स्थान और जन्म-कालको नव-युगके अरुणोदयका प्रतीक मानकर प्रस्तुत आलम्बनोंके सहारे अपने विकसित जीवन-दर्शनको अभिव्यक्ति देनेकी चेष्टा करता है। कवि कहता है—

> "था निमित्त शिशु, नवयुग था अवतरित हो रहा निश्चय
> बहिरन्तर का धूम चीर हँसता था नव अरुणोदय।
> इसीलिए सम्भव हिमाद्रिका स्वर्गोन्मुख आरोहण
> युग सनाभि शिशु के मन के हित रहा महत् आकर्षण।"

कविता वहीं पूरी हो गयी थी। उसके बाद प्रतीकोंके नागदन्तोंपर कवि अपने दर्शन-वसन टाँगनेमें लग गया। मात्र शिल्पके बलपर कविताका-सा प्रभाव इन प्रतीकोंका भी हो सकता है—पर वह प्रभाव ही है, भाव नहीं।

'कूर्मांचलके प्रति' कविकी नगाधिपके प्रति, उसके और अपने गौरवके अनुरूप, विपुल हेम-मुद्राओंसे परिपूर्ण श्रद्धांजलि है। इसमें भी अन्तमें कविने प्रतीकोंके सहारे दार्शनिक प्रवचनोंको अटका देनेकी चेष्टा की है, पर यह कविता इनके बोझको सह सकती है—यही नहीं, इसके सहारे अटकाया जाकर विदग्ध चिन्तन सहज ही कवित्वमय हो गया है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे, एक इस बातका प्रमाण देनेके लिए कि कविकी हेम-मुद्राएँ खरे सोनेकी हैं, दूसरा इसका कि कविता (यद्यपि उसकी अपेक्षा नहीं करती, फिर भी) दार्शनिक प्रवचनोंको सहज सुन्दर क्षमतासे न केवल सँभाल लेती है अपितु उन्हें और भी ऊँचा उठानेमें समर्थ हो सकी है। पहला उदाहरण है—

> "राजहंस-सा तिरता शशि मुक्ताभ नीलिमा जल में
> सीपी के पंखों की छहरा रत्न छटा जल थल में।
> धुली वाष्प पंखड़ियों में रँग भरते कला सुघर कर,
> सुरधनु खण्डों में किरणों की द्रवित कान्ति कर वितरित,
> रंग गन्ध के लता-गुल्म से गिरि द्रोणी अतिरंजित
> देवदारु रज पीत सुहाती ग्रामवधू-सी सुन्दर !"

और दूसरा—

> "रुके मूक भू मानस गह्वर, रुके स्तब्ध गिरि कन्दर,
> (शतियों के पुंजित तमिस्र से पीड़ित जिनका अन्तर !)
> बिछ प्रतीक्षा में प्रसार होने को तुमसे दीपित !
> धूमिल क्षितिज, गरजता अम्बर, उद्वेलित जन-सागर,
> जड़ चेतन की दृष्टि निर्निमिष लगी ज्योति-शिखरों पर,—
> मानवता का दिक् प्रशस्त उन्नयन तुम्हीं पर आश्रित !"

यह कविकी परम सफलता है कि इस दर्शनके शान्त-पटसे ढका जाकर नगाधिप मिट्टीका ढेर नहीं हो जाता, प्रत्युत और भी ऊँचा उठ जाता है ! 'गिरि प्रान्तर'का कृत्रिम चित्र शिल्पके सहारे अपने-आपको प्रकाशमें

सुरक्षित नहीं रख पाता। शिल्प बहुत पुराना हो चुका, चित्रकी कृत्रिमता प्रकट हो ही जाती है। पर 'पतझर' सफल और सुन्दर कृति है, जो बरबस कीट्सके 'ओड टु ऑटम'की याद दिलाती है। 'पतझर' कीट्सकी प्रख्यात कवितासे कम गम्भीर नहीं है, पर उत्कृष्ट शिल्प और ऊँचे दर्शनके बावजूद, कविताकी दृष्टिसे यह कीट्सके 'ओड'की समता नहीं करती। पन्तजीकी अतिशय ग्रान्थिक भाषा एक ऐसा दुर्वह भार है जिसे पीठपर लादकर कविता लड़खड़ाने लगती है, थककर बैठ जाती है और लाख कोशिश करनेपर भी अपने मुखपर सहज मुसकान नहीं ला पाती। छायावादी युगकी काव्य-भाषाका मोह पन्तजीकी बहुत-सी कविताओंको उसी प्रकार निर्वीर्य बना देता है जैसे बहुधा उनका दार्शनिक, उपदेशात्मक स्वर उन्हें मुक्त विहग-सा उड़ने न देकर पर काटकर पिंजड़ेमें बन्द कर देता है। पिंजरेमें बन्द होकर भी विहग तो विहग ही कहलायेगा, पर कहलाये जानेकी वजहसे ही उड़ तो नहीं पाता।

संग्रहकी विशिष्ट कविताएँ वे हैं जिनकी ओर पन्तजीने यह कहकर संकेत किया है कि उनमें "सृजन-चेतनाके नवीन रूपकों तथा प्रतीकोंमें, युग-जीवनके अनेक स्तरोंको स्पर्श करती हुई, काव्याभिव्यक्तिकी प्रेरणा मूर्त हुई है।" 'अतिमा'की सबसे ऊँची कविताएँ ये न भी हों, सबसे अधिक आकर्षक अवश्य हैं। इनमें नवीनता है—ऐसी नवीनता, जो बलात् भावकको अपनी ओर आकृष्ट करती है। पर क्या यह नवीनता सचमुच प्राणगत आधुनिक है? उत्तरके लिए कविताओंपर दृष्टि-निक्षेप करें।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि संग्रहकी दूसरी कविता 'गीतोंका दर्पण', इस द्वितीय (नवीन रूपकों तथा प्रतीकोंवाली) श्रेणीमें रखी जानी चाहिए अथवा नहीं, पर यदि न भी रखी जा सके तो भी इसका पता लगानेके लिए इस कविताका महत्त्व और मूल्य संग्रहकी किसी भी कवितासे कम नहीं है, कि कविका स्वर आधुनिक है अथवा मात्र नवीन,

क्योंकि संग्रहीत कविताएँ एक वर्षकी अवधिमें ही लिखी गयी थीं। 'गीतों का दर्पण' भी 'नव अरुणोदय'की तरह कविकी ओरसे एक सन्देश अथवा विज्ञापन है। 'नव अरुणोदय'में कविने हमें याद दिलाया था कि वह 'नव प्रभात का रहा दूत नित' अब 'गीतोंके दर्पण'में हमें आमन्त्रित करता हुआ कहता है—

> "यदि मरणोन्मुख वर्तमान से
>
> ऊब गया हो कटु मन
>
> ....
>
> तो मेरे गीतों में देखो
>
> नव भविष्य की झाँकी।"

जयदेवने इससे कहीं कम दावा किया था। "यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलास-कलासु कुतूहलं, मधुरकोमलकान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्": इसमें कवि इतना ही कहनेका साहस करता है कि यदि उस दिशाकी ओर जाना चाहते हो जिधर वह स्वयं जा रहा है, तो उसके साथ हो लो। पन्तजी इससे अधिक आशा दिलाते हैं; उनकी कविता इसकी अपेक्षा नहीं करती कि भावक उस प्रकारका पदार्थ चाहता हो जो वह दे सकते हैं, वह सन्देश सुनना चाहता हो जो उन्हें सुनाना है—इतना ही चाहिए कि उसका मन वर्तमान, मरणोन्मुख वर्तमान, से ऊब गया हो: नव भविष्यकी झाँकी देखना ही उसके लिए वांछित संजीवनी है, और वह संजीवनी कविके पास है। यह स्वर अन्वेषकका नहीं, सिद्धका है, विज्ञान-प्रेरित आधुनिक जिज्ञासाका नहीं, प्रयोगशालासे बाहर आकर प्रयोगकी सफलताकी घोषणा करनेवाले लब्धकाम आत्मविश्वासका है, एवरेस्टका दर्शन करके लौटते हुए तेनसिंहका है। पर यह कौन-सा 'वर्तमान' है जो मरणोन्मुख है, जिसकी मरणोन्मुखताके बीच रहते-रहते मन कटु हो गया है? कवि इस कटुता, इस व्याधिकी कुछ और व्याख्या-सी करता हुआ जन-मनके व्याधिग्रस्त होनेके कुछ और लक्षण हमें बताता है—

"उठते हों न निराश लौह पग
रुद्ध श्वास हो जीवन !"

'लौह पग' मशीन सभ्यताके प्रति संकेत है—पर यह आजका स्वर है अथवा बीसवीं शतीके प्रारम्भिक दशकका ? कवि आगे कहता है—

"रिक्त बालुका यन्त्र,—खिसक हो
चुके सुनहले सब क्षण,
तर्कों वादों में बन्दी हो
खिसक रहा उर-स्पन्दन।"

बालुका यन्त्रकी रिक्तता भी स्पष्ट संकेत है—वर्तमानके मरणोन्मुख होनेकी ओर। पर आजका उर-स्पन्दन क्या सचमुच तर्कों और वादोंमें बन्दी है ? क्या यह द्वितीय महासमरके पहलेकी युग-मन:स्थितिका चित्रण नहीं है ? आजका युग स्थावरताका नहीं संक्रान्तिका, अथवा पन्तजीकी 'अतिमा' के अनुसार अतिक्रान्तिका, युग है : यह कविता पचीस वर्ष पूर्व नि:शब्द, निराकार जन-मनके बन्द कक्षमें घुट रही थी, प्रकट होनेमें जो विलम्ब हुआ वह वर्ड्स्वर्थके इस कथनकी सत्यता प्रमाणित करता-सा जान पड़ता है कि "कविता भावोद्वेगकी शान्त-मन पुनरावृत्ति है।" कविका मन विमल और सर्वथा शान्त है, उसका अतीन्द्रिय आमन्त्रण आनन्दकी उपलब्धिके लिए है। कविके शब्द हैं—

"यदि यथार्थ की चकाचौंध से
मूढ़ दृष्टि अब निष्फल,—
डूबो गीतों में, जिनका
चेतना-प्रथित अन्तस्तल।"

'अनबूड़े बूड़े, तरे जो बूड़े सब अंग !' डूबनेवालेके लिए ही यह गीतोंका दर्पण है जिसमें वह अपना 'श्री-नव आनन' देख सकता है।

इस 'ऊर्ध्व-संचरण' का आग्रह, जिसकी व्याख्या कविने 'उत्तरा' की भूमिकामें की थी, हमें 'अतिमा' में सर्वत्र मिलता है। 'जन्म-दिवस' में हम

'हिमाद्रिका स्वर्गोन्मुख आरोहण' देखते हैं जो 'कूर्मांचल के प्रति' के 'शाश्वत शिखरों' में निखरा, शान्त और समुज्ज्वल हो जाता है। 'नव-जागरण' में हम देखते हैं कि—

"रजत प्रसारों में उड़ नूतन
प्राण मुक्त करते आरोहण"

और जहाँ संचरण नहीं है वहाँ ऊर्ध्वोन्मुखता ही संचरणका स्थान ले लेती है। 'बाहर भीतर' में—

"भू को अन्धकार का है भय,—
शिखरों पर हँसता अरुणोदय :"

यह 'हँसना' निस्सन्देह ऊर्ध्व-संचरणका ही निमन्त्रण है।

पर 'अतिमा' का स्वर केवल ऊर्ध्व-संचरणका ही हो, ऐसी बात नहीं है। 'जिज्ञासा' शीर्षक विशुद्ध रूमानी कवितामें हमें कवि शिखरोंकी नहीं, अतलताओंकी, पावनताकी, बात कहता मिलता है; वह समतल प्रदेशपर खड़ा गाता है—

"कौन स्रोत ये ?
ये किन आकाशों में खोये
किन अवाक् शिखरों से झरते ?
किस प्रशान्त समतल प्रदेश में
रजत फेन मुक्ता रव भरते !
ये किन स्वच्छ अतलताओं की
कौन नीलिमाओं में बहते ?
किस सुख के स्पर्शों से स्वर्णिम
हिलकोरों में कँपते रहते !"

कविता इतनी सुन्दर और सरस है कि उसकी थोड़ी-सी पंक्तियाँ उद्धृत करके सन्तोष नहीं होता, पर एक छोटे-से लेखमें थोड़ी-सी पंक्तियाँ ही उद्धृत की जा सकती हैं। कुछ पंक्तियाँ और देखिए—

"कौन स्रोत ये !
श्रद्धा औ' विश्वास—रुपहले
राज मरालों के-से जोड़े
तिरते सात्त्विक उर सरसी में
शुभ्र सुनहली ग्रीवा मोड़े ।
शोभा की स्वर्गिक उड़ान से
भर जाता सहसा अपलक मन,
बजते नव छन्दों के नूपुर
अलिखित गीतों के प्रिय पद बन !"

निस्सन्देह शैलीमें नवीनताका आग्रह नहीं है, स्वर कविका चिर-परिचित छायावादी स्वर ही है, फिर भी यह कविता बासीपनके दोषसे मुक्त है; क्योंकि सुन्दर ही नहीं सरस भी है। मैंने सरस जान-बूझकर कहा है, क्योंकि इस कविताकी सहायतासे पन्तजीके काव्यपर सामान्यतया लगाये जानेवाले एक आरोपका आवश्यक खण्डन करना सुकर हो सकता है। रसकी सर्जना निःसंशय काव्यका धर्म है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि शिल्पकी दृष्टिसे कितनी भी उत्कृष्ट क्यों न हो, कविता यदि भावकके मनको रसार्द्र नहीं कर पाती तो भावकके लिए वह कविता नहीं है। पर जिस मनको रसार्द्र करना कविताका स्वाभाविक कर्म और सर्वमान्य धर्म है वह मन केवल छलकते हुए उद्वेगोंका पात्र नहीं है, वह विशद चेतनाभूमि है जिसपर भावना और विचार, हृदय और मस्तिष्क समान अधिकारके साथ निवास करते हैं और प्रभाव डालते हैं। रस केवल भावोद्वेग नहीं है, अनुभूति केवल इन्द्रियाश्रित नहीं है। 'जिज्ञासा' में (और अपनी अधिकांश सफल कविताओंमें) पन्तजी जिस रसकी सृष्टि करते हैं वह साधारणतया स्वीकृत परिभाषासे बँधा नहीं है, व्यापक अर्थमें, व्यक्ति-चेतनाका सहज-ग्राह्य अतीन्द्रिय रस है। पन्तजीकी कविताका उस भावकवर्गके लिए कोई मूल्य नहीं है जो रसकी संकीर्ण परिभाषा करता है—पर उस भावक वर्गके

लिए सम्भवतः साँस लेनेकी प्रक्रिया ही जीवन है। नये विचारोंका आघात जिनके लिए ऐन्द्रिक अनुभूतिकी-सी प्रभावोत्पादिनी शक्ति नहीं रखता उनके लिए पन्तजी कह सकते हैं 'जानन्ति ते किमपि, तान्प्रति नैष यत्नः' है।

यह बात 'अतिमा' की बहुत-सी—यह कहना भी अनुचित न होगा कि अधिकतर रचनाओंके लिए कही जा सकती है। इनमें कुछ असाधारण कृतियाँ हैं, जैसे 'स्फटिक वन', जो छायावादी सज्जामें आधुनिक भावोन्मेषणकी काव्यमयताकी सफल उपलब्धि है—कुछ सुन्दर, शीतल पर निष्प्राण चित्राकृतियाँ हैं, कुछ सर्वथा अकवित्वमय पत्रकारिता हो जानेसे मात्र शब्द-शिल्पके द्वारा बचा ली जाती हैं, जैसे 'नेहरू-युग'; और कुछ ऐसी हैं "जिनकी प्रेरणा युग-जीवनके अनेक स्तरोंको स्पर्श करती हुई सृजन-चेतनाके नवीन रूपकों तथा प्रतीकोंमें मूर्त हुई है।"

अबतक हम जिन कविताओंको देख रहे थे उनके विषयमें यह कहना सम्भव नहीं है कि वे इस विशिष्ट श्रेणीमें आयेंगी या नहीं—शायद नहीं। पर जिनके विषयमें सन्देह हो ही नहीं सकता वे हैं—सोनजुही; आः धरती कितना देती है; कौए; बत्तखें और मेंढक; प्रकाश, पतिंगे और छिपकलियाँ; केंचुल; स्वर्णमृग आदि। इनमें सम्भवतः 'सोनजुही' सुन्दरतम है और 'केंचुल' अपेक्षाकृत सबसे कम सफल हो सकी है। 'सोनजुही' से कुछ थोड़ी-सी पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करना निरर्थक होगा, क्योंकि एक तो यह कविता समूची उद्धृत करने योग्य है, दूसरे इसे आधुनिक हिन्दी-कविताके प्रायः सभी पाठक जानते ही हैं। इसके अन्तमें भी पन्तजी दार्शनिक प्रवचन चिपका देनेका लोभ संवरण नहीं कर पाये—और यह प्रवचन कविताके साथ मिलकर एक नहीं हो पाया, चिपका ही रहा। इस तरहकी कविताके साथ यह व्यवहार कुछ तॉल्स्तॉयके ढंगका लगता है, जो अपने कलाकार-व्यक्तित्वको उपदेशक और विचारक-व्यक्तित्वका

ज़रख़रीद ग़ुलाम समझता था। भाग्यवश 'सोनजुही'का दार्शनिक विश्लेषण कवितासे स्पष्टतः इतना असम्पृक्त जान पड़ता है कि भावकके लिए उसे अलग रखकर कविताका आस्वादन करना सुकर ही नहीं स्वाभाविक हो जाता है।

इनमें ही पन्तजीकी सफलता और असफलताका एक साथ परिचय मिल जाता है। यह उनकी सफलता है कि अपने जीवन-दर्शनकी ऊँची बरफ़ीली पहाड़ी चोटीपर भी उन्हें काव्य-कुसुम खिले मिलते हैं। उनकी असफलता यह है कि उनमें-से बहुत-से कुसुम निर्गन्ध होते हैं। 'सोनजुही', 'आः धरती कितना देती है!' आदि कविताएँ अपवाद-सी इतस्ततः विकीर्ण जान पड़ती हैं।

इन कविताओंमें यदि 'सृजन-चेतनाके नवीन रूपकों' की खोज न भी की जाये तो भी उनके कवित्वमें कोई कमी नहीं आती, हाँ उनकी नवीनता अवश्य अदृश्य हो सकती है। तो क्या मात्र नवीनता लानेके लिए ही कविने उनमें 'नवीन रूपकों और प्रतीकों' की निर्माण-प्रक्रियाका समावेश किया है? ऐसी भ्रान्ति 'सोनजुही' को देखकर हो सकती है, क्योंकि 'सोनजुही' इन नवीन प्रतीकोंका भार आसानीसे नहीं उठाती—कहना तो यों चाहिए कि उठाती ही नहीं। पर अन्य रचनाओंके विषयमें यह कहना अन्याय होगा। 'कौए, बत्तखें और मेंढक', 'स्वर्णमृग' आदि ऐसी कविताएँ भी 'अतिमा' में मिलेंगी जिनका सृजन ही इन प्रतीकोंको काव्यात्मक प्रेषणीयता देनेका नाम है। इस तरहकी रचनाओंमें सम्भवतः सबसे सफल और सबसे ऊँची कविता 'सन्देश' है, जो आरम्भसे ही अपनी शक्तिमत्ता-का परिचय देती हुई प्रतीकोंमें प्राण-वायुका संचार करती चलती है और अन्त होते-होते सच्ची कविताकी वह सम्पन्नता प्राप्त कर लेती है जो अक्षय और अपरिहार्य होती है और जिसका आशय उसके अर्थसे ही कहीं व्यापक और सबल होता है। 'सन्देश' के आरम्भकी पंक्तियाँ हैं—

"मैं खोया-खोया-सा, उचाट मन, जाने कब

सो गया तखत पर लुढ़क, अलस दोपहरी में,
दु:स्वप्नों की छाया से पीड़ित, देर तलक
उपचेतन की गहरी निद्रा में रहा मग्न ।

जब सहसा आँख खुली तो मेरी छाती पर
था असन्तोष का भारी, रीता बोझ जमा,
... ...

इतने में मेरी दृष्टि फ़र्श पर जा अटकी,
जिस पर जाड़े की चिट्टी, ढलती, नरम धूप
खिड़की की चौखट को कुछ लम्बी, तिरछी कर
थी चमक रही टूटे दर्पण के टुकड़े सी—"

इस प्रकार कवि हमारा परिचय उस धूपसे कराता है जो सन्देश-वाहिका बनकर आयी थी। किसे सन्देह हो सकता है कि यह सचमुच धूप नहीं है, मात्र प्रतीक है। अपराह्णमें उदासमन लेटकर सो रहनेके बाद उठनेपर जिस रिक्तताका अनुभव हम सबको होता, हो सकता है उससे यह, 'असन्तोषका भारी, रीता, बोझ' क्या भिन्न है ? पर इस साधारणीकरणमें वैशिष्ट्यका लोप नहीं हुआ है। असाधारण, किन्तु सहज, सिद्धहस्तताका परिचय देता हुआ कवि 'जाड़ेकी चिट्टी, ढलती, नरम धूप' को ऐसी विलक्षणता दे देता है कि उसके लिए सन्देशवाहकका कार्य अद्भुत या असाधारण नहीं रह जाता। यह कविता छायावाद और आधुनिक युगकी भाव-भूमियोंके बीच सेतु-सी, दोनोंसे कुछ भिन्न पर दोनोंकी सम्पत्ति है और पन्तजीके काव्यकी अद्यतन परिणतिका सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'अतिमा' न आधुनिक है, न पुरातन : उसकी सार्थकता और सीमा इसीमें है कि वह दोनोंको एक-दूसरेसे मिलाती और एकको दूसरेका पूरक बनानेकी चेष्टा करती है।

● ●

बालकृष्ण राव.

धूपसे धान तक*

श्री गिरिजाकुमार माथुरका यह तीसरा कविता-संग्रह है। पहला 'मंजोर' नामसे १९४१ में प्रकाशित हुआ था, दूसरा 'नाश और निर्माण' नामसे १९४६ में। 'धूपके धान' का प्रकाशन १९५५ में हुआ और, कविके ही शब्दोंमें, उसमें "पिछले नौ-दस वर्षोंकी चुनी हुई रचनाओंका कलन है।" संकलित कविताओंकी संख्या कुल ४५ है, जिनमें-से एक कविके 'पृथ्वी' नामक 'बृहत् काव्य' का अंश है। इसपर रचना-काल निर्दिष्ट नहीं है—न ही तीन अन्य रचनाओंपर, जिनमें-से दो (सम्भवतः रेडियोके लिए लिखित) काव्य-रूपक हैं। नौ-दस वर्षोंकी अवधिमें केवल ४४ ऐसी रचनाओंका पूरा हो पाना, जिन्हें कविने संकलनमें स्थान देने योग्य समझा, कुछ आश्चर्यकी बात अवश्य है।

श्री गिरिजाकुमार माथुर प्रयोगशील कवि हैं, इस कारण इस आत्म-परीक्षणपर कुछ अधिक आश्चर्य (और साथ ही आनन्द) होता है क्योंकि प्रयोगशील कवियोंकी प्रवृत्ति सामान्यतः अपने सभी सफल, अर्ध-सफल और असफल प्रयोगोंको प्रकाशमें लानेकी होती है। पर गिरिजाकुमार प्रयोगके प्रति आस्था और गम्भीरतासे अग्रसर होते हैं; उनमें केवल यही माननेका नैतिक साहस नहीं है कि प्रयोगके लिए प्रयोग करना व्यर्थ है, वे यह भी मानते हैं कि "अध्ययन या अनुभवकी कमीके कारण यदि छन्दोंमें भूलें हैं तो उन भूलोंको नया प्रयोग या विशेष वर्गके पाठकोंकी चीज़ कहकर

*'धूपके धान' : गिरिजाकुमार माथुर

रैशनेलाइज़ नहीं करना चाहिए। यदि दृष्टिकोण या विचारादर्शोंमें स्पष्टता नहीं है तो उसे अपना नवीन दर्शन कहनेका दुःसाहस करना कोई जरूरी नहीं है। अपना विश्लेषण, स्व-आलोचन किया जाये, निर्ममतासे यह देखा जाये कि हमारी मानसिक पूँजी क्या है और हमारी विचार-प्रक्रियाका क्या स्वरूप है।" उद्धृत वाक्य श्री गिरिजाकुमारकी प्रस्तावनासे लिये गये हैं, जिसे वे सीधा-सादा 'निवेदन' न कहकर न जाने क्यों 'निवेदनम्' कहना पसन्द करते हैं।

'मंजीर' में गिरिजाकुमार माथुर मुख्यतः एक कोमल, भावप्रवण गीतकारके रूपमें हिन्दी-संसारके सामने आये थे। छायावादके तीसरे पहरमें जो शब्द, जो अर्ध-स्फुट ध्वनियाँ, जो संकेत, जो स्वर, जो लय हिन्दी काव्यके भावक-वर्गके द्वारा स्वीकृत हो चुके थे, गहराई तक न देखनेसे लगता कि वही सामग्री गिरिजाकुमार भी उसे देने आये थे। हाथ बहुत सधा हुआ नहीं था, पर यह स्पष्ट था कि यह शिल्पकार दक्षताकी ओर बढ़ेगा, इसे कलासे वास्तविक प्रेम है, कलाकारिताके प्रति आस्था है। छायावादी शब्दजालको फाड़कर बाहर निकलनेकी इच्छा ही नहीं, कहीं-कहीं उसकी चेष्टा भी मिलती थी; पर यह भी स्पष्ट था कि युवक शिल्पी यह ठीक-ठीक नहीं जानता कि इस घटाटोपसे बाहर वह क्यों निकलना चाहता है, किस ओर जानेके लिए, क्या देखनेके लिए। यही कहा जा सकता था कि जिस घटाटोपमें उसने अपने-आपको और अपनी कविताको पाया उसमें वह सुखी नहीं रह सकता था, उसे घुटन और परेशानी होने लगी थी। उसका मांसलताका प्रेम, रंगोंके प्रति उसकी कवि-दृष्टिका सहज आकर्षण, नये बिम्ब-निर्माणकी क्षमता और आकांक्षा, मुक्त-छन्दको अपनानेका आग्रह : यह सब हमें 'मंजीर'में मिले। आनेवाली प्रयोगशील कविताके लिए उपयुक्त भावभूमिपर कविने 'मंजीर' में ही पदार्पण कर लिया था।

१९४३ में 'तार-सप्तक' प्रकाशित हुआ। अन्य छह युवक कवियोंके

साथ गिरिजाकुमार माथुर भी उसके माध्यमसे प्रयोगशील कविके रूपमें हिन्दी संसारसे पुनः परिचित कराये गये। पर 'तार-सप्तक'से पहले 'मंजीर' की ही कुछ कविताओंमें, उनकी प्रयोगशीलताके आग्रहका परिचय मिल चुका था। औपचारिक रूपसे वे 'तार-सप्तक'-द्वारा ही प्रयोगशील घोषित किये गये हों पर अनौपचारिक, सहज रूपसे वे 'मंजीर' की उन कविताओंमें ही प्रयोग करते मिल चुके थे जिन्हें 'तार-सप्तक' में स्थान नहीं मिला। 'तार-सप्तक' की सारी कविताएँ गिरिजाकुमारके दूसरे संग्रह 'नाश और निर्माण' में हैं। अतः उनकी काव्य-प्रतिभाके विकासका अध्ययन करनेके लिए 'तार-सप्तक' की कोई विशेष उपयोगिता नहीं है। अपनी कविताके विषयमें गिरिजाकुमारने जो छोटी-सी टिप्पणी 'तार-सप्तक' में दे दी है वह केवल शिल्पकी दिशामें ही प्रकाश डालती है, पर इतना तो उससे भी स्पष्ट हो जाता है कि इन कविताओंके पीछे केवल प्रयोगके लिए अथवा मात्र विलक्षणताके लिए नये शिल्प और नयी शैलीकी खोज नहीं है।

'नाश और निर्माण' १९४६ में प्रकाशित हुआ। इसमें हमें सुन्दर गीतोंके अतिरिक्त स्पष्टतः प्रयोगशीलता-युक्त कविताएँ देखनेको मिलीं। अधिकांश कविताएँ अन्तर्मुख भावुक मनकी कलापूर्ण और गीतात्मक अभिव्यंजना हैं; मुक्त छन्दके प्रयोग साहसपूर्ण और सबल हैं। चित्रांकनमें गिरिजाकुमारकी सहज क्षमताके कई उत्कृष्ट उदाहरण हमें 'नाश और निर्माण' में मिलते हैं। परम्परासम्मत उपादानोंको छोड़कर कविने युग-जीवनकी ओर अपने मनकी प्रेरणाके अनुरूप सौन्दर्यको अनलंकृत रूपमें देखा और पहचाना और अपनी कविताके छवि-पटपर उसे अंकित किया।

चित्रांकन, रंगोंका खेल, नये छन्दों, नये प्रयोगोंका उत्सुक प्रयास—यह तो हमें 'नाश और निर्माण'में सर्वत्र सहज सुलभ है ही, स्त्रीके शरीरके प्रति आकर्षण भी साफ़ झलकता है। प्रयोग जितने भी हैं, प्रायः सभी सफल प्रयोग हैं, यद्यपि उनमें वैविध्य बहुत नहीं है।

'नाश और निर्माण' गिरिजाकुमारको हिन्दीके श्रेष्ठ अधुनातन शिल्पियों-की श्रेणीमें बिठानेके लिए काफ़ी था। जिस संग्रहमें कई सर्वांगसुन्दर गीतोंके अतिरिक्त 'टाइफ़ॉएड', 'रेडियमकी छाया', 'मशीनका पुर्ज़ा' आदि सजीव और सशक्त कविताएँ हों, उसके बलपर यदि उनके प्रणेताके आगामी संग्रहसे बहुत अधिक आशा की गयी तो अचरज क्या है?

पर 'धूपके धान' को हम 'नाश और निर्माण' के रचयिताकी ही कृति तो कह सकते हैं, वह यह कहनेके बाद मानना पड़ता है कि हमें १९४६ में प्रकाशित उस संग्रहके बाद सच्चे और बहुमुखी विकासके पर्याप्त लक्षण नहीं मिल सके।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि 'धूपके धान' में कविने अपने पिछले संग्रहकी तुलनामें किसी दिशामें भी आगे क़दम नहीं बढ़ाया। बढ़ाया अवश्य है। उसका शिल्प अधिक प्रौढ़ है, हाथ अधिक सधा हुआ है। उसने पहलेसे अधिक दुनिया देख ली है और परिणाम-स्वरूप पहलेसे अधिक व्यापक क्षेत्रमें उसकी काव्य-प्रेरणा दौड़ने, घूमने, खेलनेका अभ्यास करने लगी है। यह सब विकासके ही लक्ष्य और प्रमाण हैं। पर जहाँ हमें विकास नहीं मिलता वह इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आयाम है—कथ्यके काव्यत्व-का, जीवन-दर्शनका, अपने विशिष्ट 'सन्देश'का।

'धूपके धान' की कविताओंको यदि हम उनकी रचनाके काल-क्रमके अनुसार देखें तो उचित होगा—कविके व्यक्तित्व और शिल्पके विकासका ठीक-ठीक पता चल सकेगा। सबसे पुरानी १९४५ की दो रचनाएँ हैं—एकका शीर्षक है 'भोर : एक लैण्ड्स्केप', दूसरीका मात्र 'लैण्ड्स्केप'। दोनों ही शिल्प-प्रधान रचनाएँ हैं; दोनोंका कथ्य नहींके बराबर हलका है, दोनोंका शिल्प उत्कृष्ट है। 'लैण्ड्स्केप' शीर्षक रचनाकी ये पंक्तियाँ निश्चय ही बड़ा सुन्दर, पूर्ण और सजीव चित्र अंकित करती हैं :

> सूनी सूनी उन चरगाहों के पार कहीं
> धुँधली छाया बन चली गयी है

पाँत दूर के पेड़ों की
उन तालवृक्ष के झौंरों के आगे दिखती
नीली पहाड़ियों की झाँई
जो लटें पसारे हुए जंगलों से मिल कर
है एक हुई ।

तीसरी और छठी पंक्तिमें दीर्घ स्वरोंका प्रशंसनीय दक्षतासे प्रयोग किया गया है। पंक्तियाँ इतनी सुन्दर और सजीव हैं कि हम 'चरागाहों' के बजाय 'चरगाहों' और 'दीखती' के बजाय 'दिखती' के प्रयोगपर आपत्ति नहीं करते। यहाँतक कि इस भाषाके साथ अचानक 'साँवर'के बेमेल प्रयोग-से भी, सम्भव है, हम न चौंकें।

१९४६की तीन कविताएँ हैं : 'युगारम्भ', 'एशियाका जागरण' और 'पहिये'। इनमें-से पहली दोनों कविताएँ द्वितीय महासमरकी समाप्तिके सन्निकट लिखी गयीं और प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रोंकी विजय और तानाशाही-को पराजयसे प्रेरित जान पड़ती हैं। नीचेकी इन पंक्तियोंका इशारा महा-समरमें हिटलरशाहीकी पराजयकी ओर ही जान पड़ता है :

पशुबल के दीपों की
रेख पड़ी झाँवरी
मिटी भयद कारा-सी
कालरात्रि साँवरी ।

इसी वर्षकी तीसरी कविता 'पहिये', उत्कृष्ट रचना है, यद्यपि कुछ अधिक लम्बी हो जानेके कारण उसका उत्तरार्ध, पूर्वार्धकी तुलनामें कुछ फीका हो गया है। चक्रकी अनवरत गतिके रूपमें मानव-इतिहासका यह चित्रमय अंकन निरुद्वेग होते हुए भी प्रभावशाली और सुन्दर है। कुछ पंक्तियाँ तो गिरिजाकुमारके शब्द-शिल्पके अबतकके सर्वोत्तम उदाहरण उपस्थित करती हैं—

नीचे धरती का चक्र चला करता अविरल

. जिसके रंगीन दायरे में आतीं ऋतुएँ

फल, फूल, फ़सल की बाँध करधनी चमकीली—

(यहाँ 'अविरत' के बजाय 'अविरल' सम्भवतः मुद्रा-राक्षसकी अनुकम्पा हो !) आगे दो अत्यन्त सुन्दर पंक्तियाँ आती हैं :

मिट्टी को विकसित कर लाये

आने वाले सामाजिक समता फूलों में ।

मानवताके प्रति सबल आस्थाकी इतनी सुन्दर काव्याभिव्यक्ति कम ही मिलती है ।

इसके बाद सन् १९४७ की लिखी रचना 'प्रौढ़ रोमान्स' आती है । चित्रण सच्चा और सजीव है, भावनाका अभाव भी नहीं है; पर यह कृति कविता तो किसी अर्थमें नहीं बन पाती । इसकी केवल लय ही गद्यकी नहीं है, इसमें उस अवर्णनीय, अलौकिक स्वरका, उस विशिष्ट स्पर्शका नितान्त अभाव है जिसके द्वारा साहित्यिक रचना कविताके स्तर तक उठ जाती है । 'शामकी धूप' में पहननेके कपड़ोंकी सूची वर्णनको सजीव, पार्थिव और ठोस बनानेके लिए ही चिपका दी गयी है, पर यह उतनी ही खटकती है जितनी किसी तैल-चित्रके एक भागको यथार्थके निकट पहुँचाने-के उद्देश्यसे उसपर चिपकायी हुई फ़ोटोग्राफ़ । 'दो चित्र' शिल्पकी दृष्टिसे सफल कृति है, पर निष्प्राण रह जाती है, क्योंकि वास्तवमें यह एक बुद्धि-जन्य सूझकी कविताका जामा पहनानेका प्रयास है । 'महाकवि' शीर्षक रचना कवि निरालाके प्रति गिरिजाकुमार माथुरका पद्यबद्ध मानपत्र है : परम्परागत ग्रान्थिक काव्य-भाषामें बड़े ठाट-बाटका मानपत्र है; पर मान-पत्र ही है, कविता नहीं । हाँ, 'प्राचीर' का स्त्रीलिंग बनाया जाना—सो भी औपचारिक मानपत्रमें—खटकता अवश्य है ।

इस वर्षकी अन्य दो कविताएँ '१५ अगस्त' और (अगस्तमें ही लिखी) 'सावनके बादल'; ३० जनवरी १९४८ को, महात्माजीके निधनपर लिखी हुई 'सायंकाल' शीर्षक रचना और मार्च १९४८ की काश्मीरकी लड़ाईसे

सम्बन्धित 'बर्फ़का चिराग़' नामकी कविताएँ साधारण हैं। 'सायंकाल' की उद्वेगशून्यतापर आश्चर्य होता है, पर उससे भी अधिक इस बातपर कि महात्माजीके निधनपर लिखी कवितामें भी शिल्पके प्रयोगका लोभ दबाया नहीं जा सका। मई १९४८ की 'आग और फूल' शीर्षक कविता सजीव और सबल है और मानवताके भविष्यके प्रति दृढ़ आस्थाके स्वरमें हमें जीवन्त प्रेरणा देती है :

वह भूमि किन्तु न मिट सकी
आगत फ़सल की राह में
वह फूल मुरझाया नहीं
ऋतु रंग लाने के अमर विश्वास में
वह आग की पीली शिखा
उठती रही जलती रही
आलोक कन तम से बचा
वह अग्नि-बीजों को सतत बोती रही
फिर से नया सूरज उगाने के लिए।

सन् १९४९ की दोनों कविताएँ, 'रात हेमन्त की' और 'धूप का ऊन' कविके शब्दचित्र-निर्माणके सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं—साथ ही इनमें इसका भी प्रमाण मिलता है कि हम कविके जिस मांसलताके और इन्द्रिय-भोग्य सुखके मोहसे परिचित हो चुके हैं वह अब भी वैसा ही बना हुआ है। वर्णनका मांसल सौन्दर्य द्रष्टव्य है :

उतरती आती छतों से
सर्दियों की धूप
उजले ऊन की मृदु शाल पहिने
वह मुँडेरों पर ठहर कर
झाँकती है झँझरियों से···

'मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो:' (इसमें 'श्रेय:' को 'श्रेयो:' करना भी शायद

मुद्राराक्षसोंकी कृपा हो) सन् १९५०की चार कविताओंमें-से सम्भवतः अकेली है जो भारतकी भूमिपर लिखी गयी थी, क्योंकि अन्य तीन अमेरिकाकी रचनाएँ हैं। 'मुहूर्त्त ज्वलित' कविता है और अच्छी है। पर अन्य तीन (अमेरिकामें लिखी) कविताएँ गिरिजाकुमार माथुरके 'निवेदनम्'के उद्धृत अंशके प्रकाशमें कविता नहीं लगतीं, और चाहे जो कुछ हों। इन्हें पढ़कर यही लगता है कि कोई बेचारा भारतवासी अकेला एक विचित्र देशमें पहुँचकर बौखलाया हुआ आँखें फाड़-फाड़कर अजीब-अजीब चीज़ें देख रहा है और उसको समझमें नहीं आ रहा है कि वह सब क्या है, क्यों है। सन् १९५०में एक सुशिक्षित भारतीय अमेरिका पहुँचकर इतना हक्का-बक्का रह जाये, यह अजीब-सी बात है। इस मनोदशामें पड़कर वह उस देशमें क्या पायेगा ? वही जो गिरिजाकुमार माथुरने पाया, जिसकी लिस्टें इन कविताओंमें हमें मिलती हैं। 'फ़ॉल' अमेरिकामें पतझड़को कहते हैं। इंग्लैण्ड, जहाँकी भाषासे हम अधिक परिचित हैं, 'फ़ॉल'के बजाय 'ऑटम' कहता है, और अँगरेज़ी साहित्यका भारतीय विद्यार्थी कीट्सके 'ओड टु ऑटम'की वजहसे बिना इंग्लैण्ड गये हुए ही 'ऑटम'से परिचित हो जाता है। पर गिरिजाकुमार 'न्यूयॉर्कमें 'फ़ॉल' लिखते हैं—न पतझड़, न ऑटम (यद्यपि कवितामें 'ऑटम' शब्द आये बिना नहीं रहता)।

अमेरिकाकी रोशनीकी चकाचौंधसे कवि जब अपनी आँखें फेरता है, तो हमें 'दिवालोकका यात्री' (१९५१)में उसके उदास, बोझसे दबे हुए मनकी पीड़ित पुकार सुन पडती है। यहाँ फिर हमें कविताके दर्शन होते हैं, कविका सच्चा स्वर फिर सुननेको मिलता है। अगले वर्ष (१९५२) की एक और कविता 'नये सालकी साँझ', यदि बहुत सहज, स्वाभाविक ढंगसे नहीं तो सुन्दर ढंगसे, कवित्वकी सज्जामें, कविकी तत्कालीन मनःस्थितिसे हमारा परिचय कराती है। उदाहरणके रूपमें एक पंक्ति देखिए :—

एक और वर्ष की किरन उजल के डूब गयी ।

'उजल के' साहसपूर्ण प्रयोग है; पर सफल, सार्थक प्रयोग है ।

सन् १९५१की एक कविता तो यह है, दो अमेरिकासे सम्बन्धित और शायद वहींकी रचनाएँ हैं—अमेरिकामें लिखी अन्य रचनाओंकी तरह सतही । चौथी 'याज्ञवल्क्य और गार्गी' शीर्षक एक छोटा-सा 'मोनोलॉग' है जिसके शिल्पके विषयमें कविने 'निवेदनम्'में थोड़ा-बहुत बता दिया है और उससे अधिक कुछ कहनेकी प्रेरणा कवितासे नहीं मिल पाती ।

'नये सालकी साँझ'के अतिरिक्त आठ और कविताएँ हैं जिनकी रचना १९५२में हुई थी । 'मिट्टीके सितारे' की यह रुबाइयाँ साधारण हैं; 'नयी भारती', जिससे संग्रह आरम्भ होता है, परम्परा-सम्मत मंगलाचरणकी जगह अच्छी तरह खप जाती है, तीन छोटी और साधारण रचनाएँ; 'तैंतीसवीं वर्ष गाँठ' जो बहुत अच्छी हो जाती यदि वैशिष्ट्यके लोभके बिना साधारणीकरण किया जा सकता; 'चन्दरिमा' शीर्षक एक कृत्रिम भावचित्र—और अन्तमें 'ढाकवनी' । 'ढाकवनी'में कवि अपने चिर-परिचित प्रिय कार्य, चित्रांकन, में सिद्धहस्त पटुतासे लग जाता है । चित्र सजीव, स्पष्ट और संवेदनामय है; कविता गिरिजाकुमारकी उत्कृष्ट कृतियोंमें गिनी जायेगी ।

सन् १९५३की पाँच कविताओंमें दो प्रसिद्ध हो चुकी हैं, 'छाया मत छूना, मन; होगा दुख दूना' और 'देह की आवाज़' और, यद्यपि मेरी रायमें दोनों ही केवल साधारण स्तरकी सफल कृतियाँ हैं, वही दोनों इस वर्षकी कविताओंमें सबसे अच्छी हैं । १९५४की दो कविताओंमें एक गान्धीदिवसपर लिखी गयी, साधारण है, पर दूसरी 'नींव रखनेवालोंका गीत' अत्यन्त सबल आस्थाके स्वरमें उज्ज्वलतर भविष्यके निर्माणके संकल्पको गरिमामयी वाणी देती है ।

अवशिष्ट चार कविताओंमें से एक, जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ,

कविके एक 'बृहत् काव्य'का अंशमात्र है। उसके विषयमें कुछ कहना समीचीन नहीं जान पड़ता। दो काव्य-रूपक हैं जो संग्रहकी पृष्ठ-संख्या ही बढ़ाते हैं, उसका गौरव नहीं। 'तीन ऋतुचित्र' हैं जिनमें-से दूसरा सुन्दर है।

गिरिजाकुमार माथुरकी कवितामें 'नाश और निर्माण'के बाद ऐसा विकास 'धूपके धान'में नहीं मिलता जिसकी हमें आशा थी। शिल्पके क्षेत्रमें निःसंशय वे आगे बढ़े हैं। यह कहना कदापि अतिशयोक्ति न होगी कि इस समयके कवियोंमें वे शब्दचित्रके अंकनमें यदि किसीसे पीछे हैं, तो केवल पन्तजीसे। प्रयोगशील कविके लिए वांछनीय पर अलभ्य आत्म-परीक्षणकी प्रवृत्ति उनमें थी और अब भी है। दृश्य एवं स्पृश्य अनुभूतियों-को वे सहज ही सजीव अभिव्यक्ति दे पाते हैं। यह तो हुई शिल्पकी बात। कथ्यके क्षेत्रमें, भविष्यके प्रति सशक्त आस्था गिरिजाकुमारकी कवितामें हमें मिलती है। पर कोई अपना मौलिक जीवन-दर्शन हमें गिरिजाकुमारने अभी नहीं दिया।

भविष्यके प्रति आस्थाका स्वर हमें मिलता है। विगतके प्रति श्रद्धा-का स्वर भी हमारे कानोंमें पड़ा। पर वर्तमान? दूरकी चीज़को देखनेमें जहाँ गिरिजाकुमारकी दृष्टि अचूक और प्रखर है वहाँ निकट-वस्तुके प्रति वह इतनी अक्षम क्यों हो जाती है? हमें 'नाश और निर्माण'का 'मशीन-का पुर्ज़ा' फिर देखनेको नहीं मिला। गिरिजाकुमार हृदयसे रोमानी, भावुक, आदर्शवादी हैं। सिद्धान्तके स्तरपर मानववादी हैं। पर नज़दीकसे अपरि-चित नर-नारियोंका आना-जाना देखकर कहते हैं:

तरह-तरह के नर औ' नारी
चलते चले चले जाते हैं।
लेकिन इस गति का है कोई लक्ष्य नहीं,
उद्देश्य नहीं है, अन्त नहीं। ('नाश और निर्माण')

प्रस्तुत संग्रहमें भी हमें कहीं नज़दीकसे सामान्य मनुजताको स्नेह

और ममत्व-भरी दृष्टिसे देखनेवाले कविके दर्शन नहीं होते। नज़दीकसे आदर्शोंको देखकर उनकी वास्तविकताका परिचय पानेका साहसपूर्ण आग्रह हमें नहीं मिलता। यदि मिलता भी है तो कोमलको स्पर्श करने और सुन्दरको देखनेकी कामनासे—आत्मासे परिचित होनेकी प्रेरणासे नहीं। 'नंगी सड़कें,' 'नंगी छत,' 'नंगी बाँहें' कई बार इन कविताओंमें हमें मिलती हैं—'नंगी' शब्दके उच्चारण, लेखनमात्रसे जिस मांसल नग्नताका चित्र आँखोंके सामने आ जाता है वह किसी पर्यायवाची शब्दके प्रयोगसे शायद न आ सकता। इस शब्दकी ध्वनि कविके लिए आशयसे अधिक अर्थपूर्ण जान पड़ती है।

ग्रामीण शब्दोंका प्रयोग कई जगह खटकता है, ठीक वैसे ही जैसे सजे-सजाये ड्राइंग-रूमके सुन्दर, क़ीमती सोफ़ेपर पालथी मारकर बैठा हुआ मिट्टीलगे पाँव और गोबर-सने हाथोंवाला देहाती। यदि देहातीसे सचमुच उसे अपनाना चाहते हो तो उसकी झोंपड़ीमें जाओ, उसके साथ रहो—या उसे अपने पास बुलाकर अपने ही साथ रखो। एक मिनिटके लिए सोफ़ेपर बिठाकर उसको फिर दूर कर देनेका क्या प्रयोजन? अचानक शिक्षितोंकी भाषाके बीच, सम्पूर्ण कवितामें एक या दो बार चन्दरिमा, साँवर, साप, चाँदिनि, पियास, पियार, छुवन को क्यों डाल दिया गया? ये ग़रीब इस सजे-सजाये ड्राइंग रूममें बुद्धुओंकी तरह बैठकर, पढ़े-लिखोंकी बातें सुनते रहकर क्या पायेंगे?

पर 'धूपके धान' में, उसकी सारी कमियोंके बावजूद, हमें जो कुछ मिलता है वह इसके लिए काफ़ीसे ज़्यादा है कि हम आनेवाली फ़सलकी उत्सुकतासे राह देखें। न केवल कविका शिल्प पूर्णतया सबल और सक्षम हो गया है, उसने हमें 'पहिये,' 'आग और फूल' और 'ढाकवनी'-जैसी कविताएँ भी दी हैं, जो नयी हिन्दी-कविताकी श्रेष्ठ उपलब्धियोंमें गिनी जायेंगी।

● ●

जगदीश गुप्त

'चक्रव्यूह' का कवि*

कुँवरनारायणकी कविताओंका संकलन 'चक्रव्यूह' नयी कविताका एक प्रतिनिधि संकलन कहा जा सकता है। यद्यपि इसके बाद अन्यान्य नये कवियोंके अनेक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं तथापि 'चक्रव्यूह'की स्वतन्त्र स्थिति अब भी अक्षुण्ण है—अपनी कुछ मौलिक विशेषताओंके कारण। इन्हीं विशेषताओंसे आकृष्ट होकर 'नयी कविता'—अंक ३में विशेष कविके रूपमें कुँवरनारायणका 'परिचय' दिया गया। उस समय तक 'चक्रव्यूह'का प्रकाशन नहीं हुआ था, केवल कुछ स्फुट कविताएँ ही सामने आयी थीं। उन्हींसे कविके आधुनिक जीवनकी विषमताओंके प्रति जागरूक एवं अनुभूतिशील व्यक्तित्व, परिष्कृत सौन्दर्य-बोध तथा निहित शिल्प-कौशलकी यथेष्ट प्रतीति हमें हुई और हम कविका 'परिचय' देनेके लिए प्रेरित हुए।

'चक्रव्यूह'में कुँवरनारायणकी लगभग सत्तर कविताएँ संकलित हैं। कविके व्यक्तित्वको परखनेके लिए उनमें काफ़ी उपकरण हैं पर मैं उन सबको दृष्टिमें रखते हुए भी एक भिन्न मार्ग अपनाता हूँ—'एक आश्वासन' शीर्षक कविताकी निम्नलिखित चार पंक्तियाँ सामने रखकर—

कोख से उगलने दो
लहरों की गुत्थियाँ,
निरुद्देश्य भँवरों में
नचने

* 'चक्रव्यूह' : कुँवरनारायण

—दो यहाँ वहाँ
फँसने

साधारणतया कोई भी कवि अपनी प्रकाशित रचनामें, कविताकी रचना-प्रक्रियाके बीच झलक जानेवाले शब्दों-प्रतिशब्दों एवं पर्यायोंकी सूची नहीं देता। ऐसी चीज़ें 'मैनुस्क्रिप्ट'से ही जानी जा सकती हैं। प्रकाशनसे पूर्व कविको कविताओंकी पंक्ति-पंक्ति और शब्द-शब्दके विषयमें अन्तिम निर्णय ले ही लेना होता है अन्यथा वह कविकी अनिश्चयता एवं असमर्थताका परिचायक माना जा सकता है। उद्धृत पंक्तियोंमें-से चौथीमें सही-बटेकी तरह 'नचने' और 'फँसने' इन दोनों प्रतिशब्दों (मैं इन्हें प्रतिशब्द ही कहूँगा क्योंकि जिस स्थानपर यह प्रयुक्त हुए हैं वहाँ एक-दूसरेके पोषक न होकर प्रतिद्वन्द्वी ही प्रतीत होते हैं) को छाप दिया गया है। मैं इसे नये कविको अभिव्यंजनाका कोई नया प्रयोग माननेको तैयार नहीं हूँ। कवि-शिल्पकी दृष्टिसे अन्ततः यह अनिश्चयका ही द्योतक है, पर कविने बलात् किसी निर्णयको ले लेनेकी अपेक्षा अनिर्णीत स्थितिमें ही पंक्तिको सामने रखना उचित समझा यह उसके कवि-व्यक्तित्व-की इमानदारीका परिचायक है। ऐसी ईमानदारी पाठकके लिए शायद ही उपयोगी हो, पर समीक्षकके लिए वह निश्चय ही अनुपेक्षणीय है। संकेत कर चुका हूँ कि 'निरुद्देश्य भँवरोंमें नचने दो' तथा 'निरुद्देश्य भँवरोंमें फँसने दो' एक साथ यह दोनों ही अर्थ मेरे विचारसे कविको अभिप्रेत नहीं हो सकते क्योंकि भँवरमें पड़ी हुई वस्तुके प्रति 'नचने दो' की धारणा वही व्यक्ति बना सकता है जो उसके प्रति चिन्ताहीन, असम्पृक्त अथवा क्रूर हो। कविताके पूर्ववर्ती अंशसे ज्ञात होता है कि फँसनेवाली वस्तु 'जीवन' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और संकलनकी सारी कविताएँ पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि जीवनके प्रति कविका उदासीनता अथवा क्रूरताका भाव है। लगता ऐसा ही है कि जैसे गहरेमें पैठकर उसने जीवन-के कण-कण और क्षण-क्षणको जीनेका यत्न किया है और तमाम उलझनों

और विषमताओंके बावजूद वह उसे प्यार भी करता है। जीवन काव्य-रूपकमें ही सही यदि भँवरमें पड़े तो उसे उसके 'फँसने' की ही अनुभूति होगी 'नचने' की नहीं। अपने निविड़ जीवन-सम्पर्कके कारण वह चिन्तित ही होगा ऐसी स्थितिमें। कविताके पूर्वांशमें जब वह यह कहता है कि 'अस्फुट आलोकन का पूर्ण अर्थ उभरेगा' तो उसकी वाणी जीवनके प्रति कविके मनमें निहित आस्थाको ही व्यक्त करती है। आगेकी यह पंक्तियाँ भी इसी तथ्यपर बल देती हैं—

सब्र अभी···और सब्र···
जीवन को बहने दो,
किसी एक निर्णय तक
लहरों को बनने दो

कहा जा सकता है कि जिस शब्दको ऊपर रखा गया है, कविने उसीको महत्ता देनी चाही है, नीचे लिखे शब्दको नहीं। पर प्रश्न उठेगा महत्त्वपूर्ण कौन ? वह जिसकी उपेक्षा की जा सके या वह जिसकी उपेक्षा न की जा सके। नीचेका शब्द उपेक्षित किया जा सकता तो इस रूपमें कविताके छपनेकी स्थिति ही न आती।

इस विवेचनसे एक ही बात सामने आती है और वह यह कि 'चक्रव्यूह'का कवि जीवनकी घनीभूत भावनात्मक जटिलताके बीच उसकी विषमताओंका स्वयं अनुभव करते हुए एक सुस्थिर गम्भीर जीवन-दृष्टि पानेके लिए ईमानदारीके साथ यत्नशील है। किसी भी नये कविके व्यक्तित्वकी यह मौलिक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। 'चक्रव्यूह' को नयी कविताका एक प्रतिनिधि संकलन कहना इसीलिए उपयुक्त है।

कविकी इस विशेषताको किंचित् भिन्न सन्दर्भमें उसके प्रथम आलोचक श्री बालकृष्ण रावने भी स्वीकार किया है—

"श्री कुँवरनारायणकी कविता उस अधुनातन भारतीय व्यक्तित्वकी प्रतिच्छवि है जो मूलतः भारतीय होते हुए भी अध्ययन, चिन्तन

और सम्भवत: उससे अधिक स्थूल सम्पर्कोंके प्रभावसे बहुत कुछ देशेतर गुणों, रुचियों और प्रवृत्तियोंसे भी समन्वित हो गया है··· सहसा ऐसा लग सकता है कि श्री कुँवरनारायणपर न केवल अँगरेज़ी कविताका गहरा प्रभाव पड़ा, बल्कि उनकी काव्य-प्रेरणा ही सीधे अँगरेज़ी साहित्यसे आयी है। पर जहाँतक मैं समझ पाया हूँ, यह प्रभाव केवल प्रभाव ही है, उनके काव्यकी मूल प्रेरणा भारतीय ही है।"

यहाँतक श्री रावकी पकड़ सही है; पर किसी भारतीय कविके लिए यह कहा जाना कि उसकी कविता विदेशी नहीं भारतीय ही है, किसी अतिरिक्त गौरवकी सूचना नहीं देता। ऐसा तो स्वाभाविक रूपसे होना ही चाहिए। वस्तुत: इस तरहके स्पष्टीकरण बलपूर्वक इसलिए किये जाते हैं कि नयी कविताको अभारतीय, एतदर्थ अछूत, सिद्ध करनेवालोंका मति-भ्रम दूर हो सके। सामान्य रूपसे, कुछ दुराग्रही व्यक्तियोंको छोड़कर, नयी कविताकी अन्त:प्रेरणाकी सच्चाई एवं वास्तविकतापर लोगोंको सन्देह अब नहीं रह गया है। उसकी बोनाफ़ाइड्ज़पर सन्देह करनेके स्थानपर अब उसके स्वरूपको व्यापक रूपसे समझनेकी यथार्थ जिज्ञासा उत्पन्न होने लगी है। कुछ क्षेत्रोंमें तो सूक्ष्म विश्लेषण भी किया जाने लगा है।

राव साहबने जहाँ कुँवरनारायणकी कवितामें मुख्य रूपसे 'पलायनकी तत्परता' लक्षित की है वहीं मुझे लगता है कि उनका दृष्टिकोण कुछ असन्तुलित हो गया है। एक तो 'विश्रान्ति की अरौंदी छाया'का प्रयोग अपने शान्तिदायक गुणके लक्षणसे 'धूप'के लिए ही हुआ है अत: उसमें लाक्षणिकता न देखकर 'विश्रान्तिके साथ छायाका परम्परागत सम्बन्ध' देखना कविताके सन्दर्भसे अकारण बाहर जाना है, दूसरे 'सभ्यताकी परिष्कृतिसे दूर' 'शान्तिके दो नये साझीदार' बननेकी इच्छा पलायनकी भावनाको कम, सभ्यताकी 'ऐरिस्टॉक्रैटिक' परिष्कृतिके खोखलेपनको अधिक व्यंजित करती है। 'परिचय'के साथ नयी कवितामें ही प्रकाशित रचनाएँ तथा समष्टि रूपमें 'चक्रव्यूह'की कविताएँ 'पलायनकी तत्परता'के विरुद्ध

कविमें, जीवनके आमने-सामने आकर तथा उसके यथार्थ भौतिक रूपको अनुभूतिके क्षेत्रमें उतारकर, एक दृढ़ता उपलब्ध करनेकी वृत्तिका संकेत करती हैं। 'पैतृक युद्ध' शीर्षक कविता, जो नयी कविताके उसी अंकमें छपी है और 'चक्रव्यूह'के कविके आत्मसंघर्षका सबसे सही परिचय देती है, इस प्रसंगमें विशेष रूपसे द्रष्टव्य है—

कौन कल तक बन सकेगा कवच मेरा ?
युद्ध मेरा मुझे लड़ना
इस महाजीवन सफ़रमें अन्त तक कटिबद्ध :
सिर्फ़ मेरे ही लिए यह व्यूह घेरा,
मुझे हर आघात सहना,
गर्भ निश्चल मैं नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध। (नयी कविता,
अंक ३, पृ० ४२; चक्रव्यूह, पृ० १०३)

पलायन जिसकी मूल प्रवृत्ति रही हो वह कवि कैसा भी क्यों न हो इस प्रकारके दृढ़ संकल्पसे युक्त पंक्तियाँ लिखनेमें समर्थ नहीं हो सकता। यह कविता एक मननशील आलोचकसे कविकी प्रारम्भिक रचनाओंको किंचित् भिन्न दृष्टिकोणसे देखनेकी माँग करती है। इसमें जो सशक्त स्वर व्यक्त हुआ है वह नयी कविताके अनेक कवियोंका अपना स्वर है। ऐसा क्यों है कि वर्तमान संघर्षलीन युद्ध-जर्जर युगको महाभारतकी पृष्ठ-भूमि देकर आजका कवि अपनेको अभिमन्युके सबसे निकट पाता है ? इधर अनेक कवियोंने अपना तादात्म्य अभिमन्युसे स्थापित किया है। मैं समझता हूँ कि इसका सर्वप्रमुख कारण गठन सामाजिक विषमताओंके बीच नये कविके मानसिक संघर्षका वैयक्तिक रूप है। उद्धृत कवितामें यह विशेष गहराईके साथ उभरकर व्यक्त हुआ है। कदाचित् इसीलिए कविने इस कविताको संग्रहके अन्तिम खण्डकी मुख-कविताके रूपमें रखा और इसी स्वरको प्रमुख रूपसे प्रस्तुत करनेके उद्देश्यसे संकलनका नाम भी 'चक्रव्यूह' रखना उपयुक्त समझा। तृतीय खण्डकी अन्तिम कविता

'जन्मसिद्ध अधिकार' 'अकेला ही लड़ेगा' पंक्तिके द्वारा 'युद्ध मेरा मुझे लड़ना'की भूमिका प्रस्तुत करती है और चतुर्थ खण्ड तथा समस्त संकलनकी समापन कविता 'चक्रव्यूह' एक प्रकारसे इसी मूल स्वरकी व्याख्या-सी है—

'मैं नवागत वह अजित अभिमन्यु हूँ
प्रारब्ध जिसका गर्भ ही से हो चुका निश्चित अपरिचित
अपरिचित जिन्दगी के व्यूह में फेंका हुआ उन्माद,
बाँधी पंक्तियों को तोड़,
क्रमशः लक्ष्य तक बढ़ता हुआ जयनाद :
....

मेरे हाथ में टूटा हुआ पहिया,
....

यह महा संग्राम
युग-युग से चला आता महाभारत
हजारों युद्ध, उपदेशों, उपाख्यानों, कथाओं में
छिपा वह पृष्ठ मेरा है।

इस कविताका रचना-काल नहीं दिया गया है अतएव निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है पर वैसे 'मेरे हाथ में टूटा हुआ पहिया'से १९५४में 'कविता'में प्रकाशित भारतीकी 'टूटा पहिया' शीर्षक कविताका हठात् स्मरण आ जाता है। जहाँतक काव्यात्मक प्रौढ़ताका प्रश्न है 'पैतृक युद्ध' या 'विरासत' नामक कविता कुँवरनारायणकी इस भाव-भूमिकी सभी कविताओंसे उत्कृष्टतर प्रतीत होती है। संकलनकी पूर्ण निर्दिष्ट अन्तिम कविता भी विशिष्ट कही जा सकती है पर पौराणिक-रूपकको दूर तक निबाहनेके प्रयत्नने उसे कुछ शिथिल कर दिया है। आज बहुत-से कवि पौराणिक कथाओंको नया अभिप्राय, नया अर्थ देनेका उपक्रम करते दिखाई दे रहे हैं। पर दूर तक रूपक निबाहनेका आग्रह कविताकी मूल संवेदनासे पाठकके ध्यानको प्रायः पृथक् कर देता है। किसी प्राचीन

जागता सा ?
एक क्षण की सिद्धि,
प्रामाणिक, परिष्कृत चेतना से
युग-युगों को माँजता सा ?

—(पृ० १२६, स्वयं की अभिव्यक्तियाँ)

आलोचकोंके आरोप और नयी कविताकी अपनी वास्तविकताके बीच इतना अन्तर आखिर क्यों रहता है; इसका भी जवाब चाहिए। मेरी दृष्टिमें इसका प्रमुख कारण आधुनिक विदेशी साहित्यकी हर प्रवृत्तिको हिन्दीकी नयी कवितामें दिखा देनेका आग्रह है। इसी पूर्वाग्रहके कारण नये कवियोंकी अपनी उपलब्धि भी कम पहचाननेमें आती है अथवा सामने आनेपर उसका यथोचित मूल्य नहीं आँका जाता। नये कवियोंने यदि विदेशी साहित्यसे प्रभाव ग्रहण किया है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी निजी प्रेरणा कुण्ठित हो गयी है या उनका अपना व्यक्तित्व तिरोहित हो गया है।

प्रस्तुत संकलनमें ऐसी अनेक कविताएँ हैं जिनमें कवि कुछ मूलभूत प्रश्नोंकी तहमें अपने स्वगत अनुभवका प्रमाण लेकर यथाशक्ति पैठता दिखाई देता है। मानव जातिके युगोंके अनुभवने जिन बातोंकी अनेक बार नाप-तौल करके अपने परिणाम घोषित कर दिये हैं उनकी जड़में पुन: प्रविष्ट होकर स्वानुभूत एवं आत्मप्रत्यक्षीकृत सत्यांशको व्यक्त करनेका सहज अधिकार कवि या कलाकारसे कभी छीना नहीं जा सकता क्योंकि उसीके द्वारा ज्ञात सत्यके नये पक्ष उभरते हैं और मानव-विकासकी नयी दिशाएँ उद्घाटित होती हैं। शरीर और शरीरमें निहित चेतनाका पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण एक ऐसी ही बात है। 'देह-पक्ष' को लेकर लिखी गयी कुँवरनारायणकी कई रचनाओंमें गतानुगतिक क्रियाओंमें क्षरित होनेवाले जीवनकी कचोट तथा उससे उत्पन्न रिक्तताको पूरनेकी अकुलाहट स्पष्ट रूपसे व्यक्त हुई है। कम कवि इतने निकट आकर अनु-

भवकी ज्वलित रेखाका स्पर्श करते हैं। इस दृष्टिसे 'नीली सतह पर', 'धारिणी', 'देह के फूल', 'आशय', 'तन-पक्ष', 'मिट्टी के गर्भ में', 'स्वप्न-चित्र', 'सूर्य-सन्तति' और 'कृतित्व : ढलती मट्टी' का नामोल्लेख विशेषतः किया जा सकता है। यह कविताएँ संग्रहके चारों खण्डोंमें फैली हुई हैं और कविके मनोजगत्‌में प्रवाहित होनेवाली एक गहरी चिन्ता-धाराके अनेक रूप प्रस्तुत करती हैं। सभी कविताएँ एक स्तरकी नहीं कही जा सकतीं। एक प्रकारसे उनमें उत्तरोत्तर विकसित होती हुई परिपक्वता लक्षित होती है जिसका सम्बन्ध भावना और विचार दोनोंसे ही है। कुछ अपवाद भी मिलते हैं इसके। श्लीलताकी मर्यादा निबाहनेकी सचेष्टता और सजग शब्द-योजनाके होते हुए भी कहीं-कहीं उसका अतिक्रमण हुआ लगता है। 'आशय' शीर्षक कवितामें 'आमाशय' और 'गर्भाशय' के बीच कृत्रिम रूपसे रखकर 'यौनाशय' शब्द न दिया जाता तो भी मेरे विचारसे कविताके मुख्य कथ्यमें कोई कमी नहीं आती। तीन बार आशय-युक्त शब्द लाकर आशयपर विशेष बल देनेके उद्देश्यसे ही कदाचित् कविको ऐसा करना पड़ा है। पर जो मजबूरी झलक जाये वह कविताका गुण नहीं कहला सकती। इस कविताकी अन्तिम पंक्तियाँ अवश्य महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें ऐन्द्रिक अनुभवकी परिधिसे परे ले जानेवाली चेतनाकी वह अकुलाहट निहित है जो 'देह-पक्ष' को लेकर लिखी कविकी पूर्वोल्लिखित प्रायः सभी कविताओंका प्राणस्वर है।

> हाय, पर मेरे कलपते प्राण,
> तुमको मिला कैसी चेतना का विषम जीवन मान
> जिसकी इन्द्रियों से परे
> जाग्रत् हैं अनेकों भूख !

—(पृ० ३४, आशय)

'देवत्व' अथवा 'ईश्वरत्व'के विषयमें भी लगता है कुँवरनारायणका अन्तर्मन्थन काफ़ी समय तक चलता रहा है। 'अतृप्त ज्वार', 'शीशेका

कवच', 'ईश्वरका मनोवैज्ञानिक रूप', 'उत्सर्ग', 'सूना कैनवेस', 'मेरा सार' तथा 'बीज, मिट्टी और खुली जलवायु' शीर्षक कविताएँ इसीकी द्योतक हैं। -देवता, और कुछ नहीं केवल मानवका विकसित व्यक्तित्व है, 'स्वयंसे आगे किसी अमरत्वका विस्तार' करनेकी मानवीय इच्छा ही उसका आधार है, राखसे धुँधले दैवी अंगारेको माँजकर हर व्यक्ति उसके स्वच्छ रूपको स्वयं देख सकता है, सही हुई पीड़ा ही अन्ततः देवत्व बन जाती है, जैसे निष्कर्षात्मक कथन उक्त कविताओंमें जगह-जगह मिल जायेंगे पर इन सब आदर्शवादी-जैसे लगनेवाले कथनोंको 'आदमी हर दिव्यता के बाद भी सड़ता रहा'-जैसी यथार्थसे निःसृत पंक्ति वास्तविक दीप्ति प्रदान करती है। 'तुम हमारे प्रश्न का विस्तार पर उत्तर नहीं हो।' ईश्वरकी समस्याको लेकर कहा गया यह वाक्य कविके अनुभवकी ईमानदारीका जाग्रत प्रमाण है।

जो कवि मनोजगत्की बहुत-सी अव्यक्त जटिलताओंके प्रति जागरूक रहनेमें सक्षम हो वह व्यक्त जगत्—प्रकृति—के रूप-विस्तारसे संलग्नता-का अनुभव करे, संवेदनशील हो, यह स्वाभाविक ही है। दृश्य जगत्के अनेक रूप-खण्ड कुँवरनारायणकी कुछ कविताओंमें जीवन्त चित्रात्मकताके साथ आलिखित हुए हैं। ऐसे कुछ नैसर्गिक रूपचित्रोंसे युक्त अंश नीचे उद्धृत हैं:—

१. उन परछाँइयों को,
जो अभी अभी चाँद की रसवंत गागर से गिर
चाँदनी में सनी
खिड़की पर लुढ़क पड़ी थीं,
किसने बटोरा ?
—(पृ. ७, लिपटी परछाइयाँ)

२. एक मुट्ठी कौड़ियों-से श्वेत बगुले
व्योम पर फिक कर खिले,

फिर खो गये;

—(पृ० ५८, एक दावँ)

३. यह रात ?

या ठहरा हुआ आघात ?

....

नभ में सहमा

तारा तारा

जल पर चन्दा

पारा पारा

....

खिलते धूप के बादल

अँधेरे पर्वतों पर तैरते

इन घाटियों में

चोटियों पर छींटते रोली...

....

आँचली

माँ तुल्य छायाएँ :

विगता रात के सन्देश

जल पर तैरते तारे

किनारे की भुजाओं में

उमड़ती पारदर्शी चेतना की शक्ति :

–(पृ० ९३-९४, अनथही गहराइयाँ)

यह अंश बाह्य प्रकृतिका मात्र तटस्थ रूप-चित्र प्रस्तुत नहीं करते वरन् अपनेको ध्यानकी सूक्ष्मतासे देखनेवाली आँख और उसके पीछे उलझी वैयक्तिक भाव-सीमाओंके बीच स्पन्दित हृदयको भी लक्षित कराते हैं। कथनकी भंगिमा और चमत्कृतिका छिछला स्तर यहाँ दिखाई नहीं देता।

इन पंक्तियोंके पढ़नेवालेको कवि-मनके डूबेपनका सहज कवित्वमय आभास मिलता हैं। 'सहज कवित्वमय आभास' यह मैं क्या लिख गया! लिखते समय अवश्य ही लेखनी काँप गयी होगी क्योंकि मुझे स्मरण है श्री बालकृष्ण रावकी स्थापना—

'इन कविताओंमें 'सहज' कवित्व नहीं है कठिनतासे एक-आध पंक्ति ऐसी मिल जाती है जो कविके मनसे बरबस फूट निकली जान पड़ती है; अन्यथा सभीके पीछे प्रयास और प्रयोगकी छाया दिखती है।'

—नयी कविता, अंक ३, पृ. २८.

अब अगर मैं कहूँ कि मेरी लेखनी बिलकुल ही नहीं काँपी—तब? तब यह लेखनीकी धृष्टता है कि वह क्यों नहीं काँपी। भला जिस कविने अपने आप लिख दिया हो कि 'पंक्तियाँ मेरे निकट आयीं नहीं, मैं ही गया उनके निकट उनको मनाने' उसमें सहज कवित्व कैसे हो सकता है? फिर इतना ही नहीं 'दूर उच्छृंखल, अबाध इकाइयोंको पास लाने'की भी घोषणा कविके द्वारा कर दी गयी है। सवाल माक़ूल है। मगर इस सवालको दूसरी तरह भी रखा जा सकता है। जिस कविमें और उसकी पंक्तियोंमें इतनी आत्मीयता हो कि पंक्तियोंका दूर जा पड़ना उसे अखरे, वह उन्हें मनाने जाये, उच्छृंखल अबाध इकाइयोंको भी पास लानेका हौसला करे उसे सहज कवित्वसे सम्पन्न न मानकर और क्या माना जाये? जो अपने शब्दोंके अभिधार्थसे ही सन्तुष्ट होते या हुवाते रहे हैं वे दूसरेकी कवितामें निहित व्यंग्यार्थ तक जानेका श्रम व्यर्थ क्यों उठायें? यह भी पूछा जा सकता है कि आखिर सहज है क्या? वह जो कविको सहज लगे या पाठकको? जिस पंक्तिमें पढ़नेवालेको श्रम लगे वह कविने श्रमसे ही लिखी हो यह आवश्यक नहीं है। सहजताके पक्षमें मैं भी रहा हूँ पर उसे इतने ऊपरी स्तरपर नहीं देखता। बहुत-से अभ्यस्त शिल्पी ऐसी सशक्त रेखाएँ सहज ही अंकित कर देते हैं जिनके बनानेमें अनभ्यस्त हाथोंको काफ़ी श्रम पड़ सकता है। काव्यके मूल्यांकनके लिए श्रम या

अश्रम दोनों ही गौण हैं। पाठक और आलोचक दोनोंकी दृष्टिसे कविकी काव्यात्मक उपलब्धि ही महत्त्व रखती है, वह चाहे जैसी रचना-प्रक्रियासे क्यों न उपलब्ध हुई हो। क्योंकि भिन्न-भिन्न कवियोंमें स्वभावानुसार रचना-प्रक्रियामें भी भेद दिखाई देता है। क्या यह पंक्तियाँ कविकी किसी उपलब्धिकी सूचक नहीं हैं—

> अलख वह किरण, मेरे पास है सतरंगिनी
> जो दर्द से गुज़रे बिना खुलती नहीं।

कुछ चुने हुए उद्धृत अंशोंसे किसी काव्य-संकलनके विषयमें सही दृष्टि नहीं बनती। 'चक्रव्यूह'में हलकी कविताएँ भी अनेक हैं। जैसे 'चाह का आकाश', 'छाया के दाग़', 'मैं जानता हूँ', 'अस्तित्व के घेरे में', तथा 'कवि का सृजन मन्त्र' इत्यादि। उत्कृष्ट कविताएँ जो हैं वे सब भी एक स्तरकी नहीं हैं इसका संकेत किया जा चुका है। कुछ विचित्र शब्द-रूप कविने अपनाये हैं जैसे 'कृतत्व' आदि। मुझे करनी होगी तो कुँवर-नारायणके 'कृतित्व'की ही सराहना करूँगा 'कृतत्व' की नहीं। जिस कविने 'चक्रव्यूह'से आरम्भ किया है उसकी कविता आगे किस भाव-क्षेत्रमें प्रवेश करती है यह देखना है।

● ●

अजित कुमार

व्यथाका दीप*

'ओ अप्रस्तुत मन !' के प्रकाशनके बाद जब दिल्लीमें श्री भारतभूषण अग्रवालसे भेंट हुई तो मुझे याद आया कि उन्होंने एक बार मुझसे भी कहा था कि मैं इस संग्रहकी भूमिका लिख दूँ। 'मुझसे भी' इसलिए कि मेरा खयाल था कि उन्होंने अपने कई अन्य मित्रोंसे भी यह प्रस्ताव किया होगा। लेकिन मैं जानता था कि लिखेंगे वे खुद ही अपनी पुस्तककी भूमिका। इसलिए यह बात उसी समय खत्म भी हो गयी थी। अब पुस्तक प्रकाशित हो जानेके बाद उनसे भेंट हुई तो मैंने कहा कि कुछ लिखनेका मन है मेरा। इसपर भारतजीने जो कहा उसका मतलब यह था कि भूमिकाके बारेमें नहीं, कविताओंके बारेमें लिखना चाहिए मुझे।

यह सुनकर मुझे कुछ अटपटा लगा, क्योंकि मैं तो भूमिकाकी चर्चा विशेष करना चाहता था। मेरा अनुमान था कि भारतजीकी भूमिका उनकी कविताओंको एक नये अर्थसे अलंकृत करती है, और हम हिन्दीके पाठक उनकी कविताको अभीतक जिन सन्दर्भोंमें रखकर देखनेके आदी थे उनसे भिन्न एक अन्य सन्दर्भमें प्रस्तुत करनेकी चेष्टा करती है। मेरी इच्छा थी कि इस बातपर थोड़ा-बहुत विचार हो कि कविने अपनी अनु-भृति और चेतनाका जो विश्लेषण किया है वह कहाँतक उनकी कवितासे मेल खाता है। लेकिन भारतजीसे बातचीत होनेके बाद मैंने यह अनुभव किया कि यह भी कुछ कम रोचक न होगा कि भूमिकाके बजाय कविताएँ

---

* 'ओ अप्रस्तुत मन' : भारत भूषण अग्रवाल, १९५८।

पढ़ी जायें और यह देखा जाये कि उनमें कौन-सी सूत्रबद्धता, तारतम्य अथवा जीवन-दृष्टि है।

नतीजा यह हुआ कि मुझे अब इस संग्रहकी मूल प्रेरणा कुछ और ही मालूम होती है। अपनी भूमिकामें लेखकने उसका कोई स्पष्ट आभास दिया हो, ऐसा मैं नहीं समझता। लगता है कि वह उस बातको छिपा जाना चाहता है। मेरा खयाल है कि इस संग्रहमें यत्र-तत्र बिखरी हुई अनेक कविताओंके माध्यमसे कविने प्रेमकी एक दुःख-भरी कथा सुनायी है।

"पावक-से, अखण्ड, सतेज और निर्मल रूप वाली" (पृ० ५) "एक प्रिया" थी। उसके सम्मुख मुग्ध भावसे नमित था हमारा कवि—"कहना बहुत चाहता था, किन्तु उससे कह कुछ भी न पाता था।" (१३)। बिलकुल यही दशा प्रियाकी भी थी। जिस एक बातको वे दोनों "मन ही मन माला की तरह फेरते रहे थे" (९८), उसे होठोंपर न ला पाते थे।

परिस्थितिवश ये प्रेमी-युगल एक-दूसरेसे, विवाह न कर सके, क्योंकि हमारे कविने प्रेम किया था "अपने से चौगुनी अमीर एक लड़की से" (१३१); और उस लड़कीका प्यार था—"तीखा, उद्धत और क्षणिक" (१४५), जब कि हमारा कवि प्रेमिकासे मिले हुए दर्दको भी एक 'विलक्षण दान' मानकर उसके "असाधारण प्रकाश से घिरा हुआ···धरती से कुछ उठा-सा, अलग-सा सपने सजाता रहा" (१३१) था।

जैसा कि इस तरहके प्रेम-प्रसंगोंमें प्रायः होता है, प्रेमिकाका विवाह अपने ही वर्गके किसी मोटरकारवाले धनी-मानी व्यक्तिके साथ हो गया, पर कवि उसे भुला न सका। उसकी स्मृतिमें वह शाम अटकी रही, जब बरसों पहले नगरके सीमान्तमें एक पेड़के नीचे "हम-तुम थोड़ी देर को रुके थे ! मैं चर्च की ओर उड़ती निगाहें डाल रहा था और तुम पेड़ की एक टहनी अपने मुलायम हाथों से सहलाने लग गयी थीं।" (१००)

एक बार और मुलाक़ात हुई उन दोनोंकी। "घर की, बाहर की, दुनिया भर की" बातें हुईं पहलेकी तरह। और पहलेकी ही तरह

वे एक बात होठोंपर नहीं ला पाये—जिसे वे दोनों "मन ही मन माला की तरह फेरते रहे" थे। नयी बात केवल यह थी कि अब वह एक बच्चेकी माँ हो गयी थी और हमारे कविको अब सिगरेटके बग़ैर तनिक भी देर चैन नहीं मिलती थी (९९)। भेंट होनेपर प्रेमिकाने जो दिया उसे कविने "अपने सपनों में बोया, आँसुओं से सींचा, आशाओं से पाला, हर क्षण उनकी रखवाली की" (११३); और यह तो उसने बादमें जाना कि वह भेंट उन दोनोंकी आखिरी भेंट थी और अन्तिम उपहारके रूपमें दिये गये बीज वास्तवमें "दर्द के फूल" थे जिनके माध्यमसे प्रेमिकाने उस भेंटको अमर करना चाहा था !

यह बात अब कदाचित् प्रासंगिक न थी कि हमारा कवि अपने "जीवन्त क्षणों की रागिनी" को पा जाता तो संसारका सबसे सुखी व्यक्ति होता, फिर भी यह "सच है कि आज जब मैं तुम्हारी झलक से भी दूर हूँ, मैं अपने लड़खड़ाते लथपथ चरणों से सारा विश्वास खोकर भी उसी ओर जा रहा हूँ, जिस ओर से तुम्हारी हलकी गूँज मुझे टेरती है" (८५)।

शायद यही वजह थी कि इस निराश और पीड़ित कविकी "बेतरतीब जिन्दगी, बिछड़ी हुई दृष्टि और खोयी हुई भावना" में एक आशा बची हुई थी कि कौन जाने वह उसे अब भी याद करती हो ! लेकिन जब उसने यह अनुभव किया वह "अपने से चौगुनी अमीर लड़की" के मनमें आलोक-की पहली किरण—अर्थात् अनुरागकी भावना जगानेका निमित्त मात्र था, इससे अधिक कुछ नहीं, तो वह स्तब्ध और हतबुद्धि रह गया। अरे ! उसकी "जीवनव्यापी पीड़ा का आधार कितना झूठा था !" (११८)

मेरा अनुमान है कि रूमानी स्वप्न-भंग-द्वारा जनित कातरता और निरीहताने ही आगे चलकर हमारे कविको सामाजिक स्तरपर भी कुण्ठा और विषादसे भर दिया। उसके आन्तरिक जीवनकी निराशाने उसके बाह्य जीवनको भी अपने रंगमें रँगना शुरू किया। झिझक, अनिश्चय,

निष्क्रियता, कायरता आदि उसकी जो व्यक्तिगत असमर्थताएँ प्रेम सम्बन्धी उक्त ट्रैजेडीका कारण थीं, वही क्रमशः उसकी सामाजिक विवशताएँ बनने लगीं और उन्होंने कविके मनमें विचार तथा चेतना सम्बन्धी उलझाव पैदा किये। प्रेमके प्रसंगमें भावोंको व्यक्त न कर पाने-वाली अशक्त भाषा और ओठोंपर आकर लौट जानेवाली "कायर वाणी" (१३) के पीछे कविका जो दुविधाशील मन था, वही उसके जीवन, विचारों और चेतनाके अन्यान्य क्षेत्रोंमें बार-बार 'अप्रस्तुत' रहकर सम्मुख आया है।

"मेरे यौवनके युगमें यह जीवन बिखर गया" (७३) जैसी उक्तियाँ इस सन्दर्भमें और भी सार्थक हो जाती हैं। कहा जाता है कि मनपर जो प्रभाव पहले-पहल पड़ता है वही अन्तिम होता है। कौन जाने कि यौवनकी पहली-पहली हारका प्रभाव भी इसी तरह चिरस्थायी रहता हो। कमसे-कम इतना तो स्पष्ट है कि "अगति और असफलता" का यह जो नया अनुभव कविको मिला था उसने उसके मन-प्राणको "बन्दी" (६), "क्लान्त" (७), "लघु" (२९), "भीरु" (३६), "अबूझ" (३७), "नमकहराम" (५७), "रिक्त", "छिद्रमय" (६०), "शीत" (६९), "खिन्न, छिन्न-भिन्न" (८९), "आकुल" (९०), "रूखा" (१३५) आदि बना दिया। और यह स्वाभाविक ही था कि सहजता, सक्रियता, उल्लास और स्वास्थ्यसे वंचित तथा विवशता, व्यर्थता, उत्साहहीनता और दुविधासे संचित हमारे कविका मन अपनेको "अप्रस्तुत" पाता और मनपर जमे हुए "अति अनुल्लंघ्य, अविभेद्य, अगम" (६) पर्तोंको हटानेमें अक्षम भी। छल, दुराव और बन्धन तथा आत्मवंचनाके मरुसे विस्तृत प्रसारमें "भटके हुए मन" (७) और बच्चोंकी भाँति "मचलते हुए मन" (३६) के सारे स्वप्न असम्भव मालूम हुए और सारी इच्छाएँ अनोखी !

मानसिक उद्वेलन और अन्तर्द्वन्द्वकी इस चरम स्थितिपर पहुँचकर कवि अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रख पाता और अपने बावले, अधम तथा

परित्यक्त मनकी हत्या या तो स्वयं कर डालना चाहता है या न्यायकी बढ़ती हुई कठोर बाँहोंके सामने प्रस्तुत होनेके लिए ललकारता है !

"ओ अप्रस्तुत मन !" का कवि अपने मनसे, जब इतना ऊब जाये कि उसे नष्ट करनेके लिए "प्रस्तुत" करना चाहे तो मैं समझता हूँ उसके विनाशका युग बीत गया और निर्माणका युग शुरू हुआ। चरम निष्क्रियता-में-से सक्रियताका और घोर निरुत्साहमें-से उत्साहका उदय कोई नयी बात नहीं। फलतः "अप्रस्तुत मन" का कवि कर्मक्षेत्रमें कूदकर "खोले वक्ष, उन्नत शीश, रक्तिम नेत्र···गगनभेदी घोष में, दृढ़ बाहुदण्डोंको उठाये" (१५) हुए विरोधी शक्तियोंको चुनौती देने लगता है। बिलकुल बदले हुए स्वरमें वह कहता है—"बोलो, ज़ोर से बोलो, व्यथा की ग्रन्थियाँ खोलो" (९०)। लेकिन जीवनके प्रति ऐसा उद्धत और आवेशपूर्ण दृष्टि-कोण हमारे कविके सहज स्वभावके अनुरूप नहीं है और शीघ्र ही वह अनुभव करने लगता है कि उन्मुक्त और बन्धनविहीन होकर भी वह वास्तवमें दीन, आकुल, मलीन और उदासीन ही रह गया है। व्यथाकी ग्रन्थियाँ खोलनेका उद्घोष करनेके बावजूद हमारे कविने उस कटारकी धारसे मुक्ति पानेके लिए कोई उद्यम नहीं किया जिसकी नोक उसकी छाती-पर बरसों टिकी रही है और जिसके नीचे वह "संत्रस्त, भयभीत, प्रति क्षण कम्पित, अधीर, निःस्व, असहाय" (५८) होकर जीता चला आया है।

अप्रस्तुत मनवाले कविको हारकर यह अनुभव करना पड़ता है कि—"व्यर्थ है ललकार, अनुनय व्यर्थ है" (५१)। इस दुनियामें न तो वह धौंस दिखाकर काम निकाल पाता है और न गिड़गिड़ाकर या हाथ फैलाकर। उसकी मुक्तिका मार्ग तो वही है जिसपर चलकर वह बन्दी हुआ था। जिस पीड़ाने उसे दीन बनाया था, वही उसकी निष्कृतिका एकमात्र आधार होगी। चुनौती देकर या भीख माँगकर अन्य लोग मुक्त होते होंगे, इस कातर और निरीह व्यक्तिका सम्बल करुणाके अतिरिक्त और कुछ नहीं—

"प्रज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप" (५१)

और उसके आलोकको किरणोंमें निश्चय ही तिमिरको काट डालनेकी सामर्थ्य है। "जो कस के तपा है और डट के तचा है" उस "सूखे की पुकार" में क्यों न मेघका आवाहन करते समय आत्मविश्वास हो—

"आ रे! आ! झूँखे इन अंगों पै उतार कर
अपना सलोना श्याम-बिन्दु-चीर डाल दे!
खिन्न, छिन्न-भिन्न इन प्राणों पर
बाँध फिर रस का सेतु,
मेरी इस दाहिनी भुजा में थमा
अंकुर की रंग-ध्वजा
जीवन का जय-केतु!" (८९)

उसीमें यह उद्घोषित करनेकी निष्ठा भी सम्भव है कि—

"हम प्रखर आलोक, गतिमय भावना के पुत्र हैं,
हम नहीं हैं रेत के सूखे, अशुभ अम्बार।" (९२)

और, इतनी यातना भोगे हुए व्यक्तिको यह कहनेका अधिकार तो कमसे कम मिलना ही चाहिए कि "तन्मयता से विभोर होकर, आत्मा के मुक्त आरोहण के या समवेत जीवन की जय के गीत" गानेवाले उसके समकालीन कवि 'आँखें बन्द किये सपनों में डूबे थे।"

"और मैं
जिसका स्वर सदा दर्द से गीला रहा,
जिसके भर्राये गले से कुछ चीखें ही निकल सकीं,
मैं सारा बल लगाकर
आँखें खोले
यथार्थ को देख रहा था।" (११०)

कुल मिलाकर श्री भारत भूषण अग्रवालकी काव्य-चेतनाका मूल स्रोत मुझे उनकी प्रेम-जन्य अनुभूतिमें मिलता है, न कि उनकी बहुकथित

मध्यवर्गीयतामें। यह बात दूसरी है कि अपने अधूरेपन या विभाजित व्यक्तित्वके लिए वे अपनी सामाजिक परिस्थितिको दोषी बनाना उचित समझें, पर उनकी कविताके किसी तटस्थ पाठकसे यह बात छिपी न रहेगी कि उनकी सीमाओं और विवशताओंका कारण स्वयं उनके दुःखी, दर्दभरे मनमें मौजूद था। बाह्य परिस्थितियोंने उस मनको थोड़ा और दुःखी, कटु, जटिल अथवा कातर बना दिया, यह तो मैं भी स्वीकार करता हूँ।

इसी कारणवश आज मुझे भारतजीके संग्रहका नाम बहुत मौज़ूँ मालूम होता है, गोकि खुद मैंने कई साल पहले उन्हें सलाह दी थी कि वे अपने आगामी संग्रहका नाम "मरणसंगियों का गीत" रखें। मैं समझता हूँ कि यह नाम उनको मध्यवर्गीय चेतना-द्वारा प्रेरित कविताओं—अर्थात् उनकी श्रेष्ठतर कविताओंका परिचय देनेमें अधिक समर्थ अवश्य था, पर उनके काव्यकी मूल प्रेरणापर परदा डाल देता था। "ओ अप्रस्तुत मन!" भारतजीकी उस उत्कण्ठाके अधिक निकट पड़ता है जिससे प्रेरित होकर उन्होंने मुक्तिके सूरमाओंको ध्यान दिलाना चाहा है कि जन भी बन्दी है, मन भी है। मेरा विचार है कि अन्तर्मुक्ति उनकी प्रमुख समस्या थी। जन-मुक्तिका नाम लेकर उन्होंने समाधान पाना चाहा था केवल अपने मनका।

जो सूत्र मुझे प्रस्तुत संग्रहकी तमाम कविताओंको बाँधनेवाला मिला है उसकी ओर संकेत रूपमें आपका ध्यान आकर्षित करनेके बाद मेरा कार्य एक प्रकारसे समाप्त हो जाता है। स्फुट कविताओंके उत्कर्ष-अप-कर्षके विषयमें मुझे विशेष कुछ कहना अभीष्ट नहीं है। 'तारसप्तक'के कवि होनेके नाते श्री भारत भूषण अग्रवाल 'नयी कविता'के वरिष्ठ लेखकों-में-से एक हैं। उनके काव्य-संग्रहको एक तरहसे समूची नयी कविताकी महत्त्वपूर्ण नयी उपलब्धि मानना चाहिए। नयी कविताके आन्दोलनको प्रतिपल विकसित करते रहनेवाला तरुण कवि-समूह इस पुस्तकको बहुमूल्य समझकर बाँचेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पर मुझे भय है कि इन

कविताओंका प्रभाव कुल मिलाकर बहुत अच्छा नहीं पड़ता। बहुत अच्छी कविताओंके साथ कम अच्छी कविताएँ संग्रहीत करने और नयी-पुरानी सभी कविताओंको एक जगह नत्थी कर देनेके मोहवश इस पुस्तकका कोई विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं बन सका है। अच्छा होता कि भारतजी 'मुक्ति मार्ग'के बादकी ही कविताएँ यहाँ संग्रहीत करते, या अगर पुरानी कविताएँ छोड़ते नहीं बनती थीं तो साथ ही रचनाकालका उल्लेख भी कर देते।

मैंने ऊपर लिखा है कि भारतजीकी कविताकी मूल प्रेरणा रही है—प्रेम जनित पीड़ा। स्वाभाविक है कि इस पीड़ाके साथ हृदयकी कातरता, चित्तकी विह्वलता, भावोंकी मधुरता आदि गुण मिले-जुले होते हैं। लेकिन हमारे कविकी कवितामें इनका अपेक्षाकृत अभाव है। तरलता, कवित्व और लोचकी काफ़ी कमी महसूस होती हैं उनकी कविताओंमें। सम्भव है कि खड़ी बोलीके खड़ेपनने उनकी अभिव्यक्तिको रूखा और नीरस बनाया हो। पर उसी खड़ी बोलीमें पन्त, निराला, महादेवी, बच्चन, अज्ञेय आदि अनेकानेक कवियोंने भी रचना की है। काश, भारतजीने गुप्तजीसे स्पष्ट और सुबोध अभिव्यक्तिका गुण सीखनेके साथ-साथ हमारे रससिद्ध कवियोंसे हृदयको छूने और बाँधनेका गुर भी सीखा होता!

मुझे आशा है कि 'ओ अप्रस्तुत मन!' के जागरूक और सजग कवि-से ये बातें छिपी नहीं हैं। इसलिए मैं आश्वस्त होकर उसीके स्वरमें उसके लिए कामना करता हूँ कि—

> "मुक्त हो तू, महत हो तू, ज्यों अमित आकाश।
> छोड़ यह संकोच, मन रे! तोड़ मिति के पाश!"

• •

विजयदेवनारायण साही

शमशेरकी काव्यानुभूतिकी बनावट*

शमशेरकी कविताके बारेमें बातें करनेमें मैं एक कठिनाई महसूस करता हूँ। मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि चर्चाको किस पहलूसे उठाया जाये। मैं महसूस करता हूँ कि शायद बहुत-से आरम्भिक सवाल भी शमशेरकी कविताको लेकर होंगे। एक स्तरपर शायद लोग यह भी प्रश्न उठानेकी जरूरत समझें कि जो कुछ शमशेरने अबतक लिखा है या प्रकाशित कराया है वह कविता है भी या नहीं? फिर, शमशेरकी कविताओंकी दुरूहताका प्रश्न है। शमशेरके बारेमें बात करनेवाले व्यक्तिसे शायद यह उम्मीद की जा सकती है कि वह बहुत-कुछ व्याख्याताका काम करे। इससे भी आगे, शिल्प और प्रयोगका एक पहलू है और इससे मिलाजुला इन कविताओंके 'नयेपन' का भी सवाल है। शमशेरने कविताके छन्द, लय, शब्दावली सबमें बहुत-से नये प्रयोग किये हैं। उन्होंने ऐसे नये प्रतीकों और बिम्बोंका सृजन किया है जो कविताके अभ्यस्त पाठकों और श्रोताओंको अकसर चुनौतीकी तरह लग सकते हैं।

लेकिन इन आरम्भिक सवालोंको मैं उत्तरित मानकर चलनेकी इजाजत चाहूँगा। इन सवालोंके विभिन्न पहलुओंमें उलझनेमें खतरा यह है कि बात शमशेरकी कवितापर न होकर शमशेरकी कविताओं-जैसी कवितापर हो जायेगी। और इस तरह शायद कवि शमशेरके साथ हम न्याय नहीं

* कुछ कविताएँ : शमशेर बहादुर सिंह; कुछ और कविताएँ : शमशेर बहादुर सिंह

कर सकेंगे। क्योंकि नयी कविताकी सामान्य विवेचनाके लिए शमशेरको उदाहरणकी तरह इस्तेमाल करना एक बात है और कवि शमशेरका जो अपना निजी, स्वतः सम्पूर्ण काव्यजगत् है उसमें प्रवेश करना दूसरी बात है। दोनों तरहकी चर्चाएँ महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हैं, लेकिन उनके अभिप्राय अलग-अलग हैं। पहले प्रकारकी चर्चा तो काफ़ी हो चुकी है इसलिए भी दूसरे ढंगसे विचार करनेकी उपयोगिता कुछ अधिक दिखती है। इसके अलावा, यदि हम सीधे शमशेरकी मनोभूमिमें प्रवेश करनेकी कोशिश करेंगे तो शायद आरम्भिक शंकाओंका उत्तर भी एक हद तक मिल जायेगा।

नयी कविताकी बहसोंमें यह मान्यता अन्तर्भुक्त रही है कि न सिर्फ़ कविताका ऊपरी कलेवर बदला है, या नये प्रतीकों या बिम्बों या शब्दावलीकी तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तरपर काव्यानुभूतिकी बनावटमें ही परिवर्तन आ गया है। लेकिन बहसमें इसपर बल कम दिया गया है। चेतनाके जो तत्त्व काव्यानुभूतिके आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें-से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे, कुछ अन्य जो पहले अनावश्यक या विरोधी लगते थे, काव्यानुभूतिके केन्द्रमें आ गये। और कुल मिलाकर काव्यानुभूति और जीवनकी काव्येतर अनुभूतियोंमें जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया। इसलिए मैं शमशेरके काव्यमें अनुभूतिकी इस बनावटकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

कवि मालार्मेने कहा है :

"अपाहिजत्वकी देवी ओ आधुनिक कल्पने! मैं तुझे अपने जीवनकी ये थोड़ी-सी पंक्तियाँ समर्पित करता हूँ जो कृपाके उन क्षणोंमें लिखी गयी हैं, जब तूने मेरे भीतर सृष्टिके प्रति नफ़रत और नितान्त न-कुछके प्रति बंजर प्रेमका स्फुरण नहीं किया।"

शायद ही आजका कोई कवि हो जिसे अपने ढंगसे इस मालार्मीय

बिडम्बनाका सामना कभी-न-कभी न करना पड़ा हो। आखिर यह सृजन-कर्म किसलिए? इस सारे कल्पना-विलासका क्या मतलब है? मालार्मेकी ही तरह आजका हर कवि एक-न-एक बार अपने ऊपर पलायनवादी होने-का आरोप लगाता है। और अगर वह खुद नहीं लगाता तो और लोग उसपर लगाते हैं। क्योंकि अपनी प्रकृतिसे ही कविता यह प्रश्न उठाती है: जहाँ हम हैं वहाँसे कहाँ चलें? किस ओर? काव्यानुभूति अपने-आपमें एक तरहका अतिक्रमण है। लेकिन किसका अतिक्रमण और किस दिशामें? एक समय उत्तर बहुत आसान था। यह अतिक्रमण तमस्से ज्योतिकी ओर, असत्से सत्की ओर, मृत्युसे अमरत्वकी ओर था।

हमारे चारों ओर रोज़मर्राका एक जीवन है। इसीका अतिक्रमण करनेकी कोशिश कविता करती है। अगर चारों ओरका प्राकृत जीवन सत्य है तो फिर क्या सचमुच हम सत्यका ही अतिक्रमण नहीं करते? किस ओर? सत्से असत्की ओर? यही काव्यानुभूतिकी मालार्मीय बिडम्बना है। जितने गहरे मालार्मेको यह विश्वास जकड़ता जाता था कि चारों ओरके भौतिक, जड़जीवनके अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है, उतना ही काव्यानुभूतिके लिए आवश्यक अतिक्रमण उसे असम्भव दिखता था। सृजन-प्रक्रिया स्वयंमें ही एक विशाल व्यर्थताका प्रतीक लगती थी। मालार्मे-के पास इस अपाहिज बिडम्बनाका एक ही हल था: लिखा ही न जाये। 'सृष्टि' के प्रति नफ़रत और नितान्त न-कुछका बंजर प्रेम।'—कविताके जन्ममें ही निषेधका तीर बिंधा हुआ है।

मालार्मेकी तरह कवि-जीवनमें शमशेर किन-किन संघर्षोंसे गुज़रे हैं, इसकी पूरी जानकारी हमारे पास नहीं है। शायद कभी हो। लेकिन कुछ संकेत उन्होंने दिये हैं। निषेधके तीरने कितनी काव्यानुभूतियोंको जन्म लेनेके समय ही बींध दिया? यह आकस्मिक नहीं है कि इतने लम्बे जीवनमें उनके दो ही संग्रह प्रकाशित हुए और उनका नाम रखा गया 'कुछ कविताएँ' (१९५९), फिर 'कुछ और कविताएँ' (१९६१)। मालार्मीय

बडम्बना एक संकोचके रूपमें काव्यानुभूतिको बिद्ध करती है। शून्यसे, नितान्त न-कुछसे, कविताका जन्म होता है—इस गतिमें शायद रुकावट नहीं है, लेकिन जन्म लेते ही एक प्रतिगति भी सक्रिय होती है। शमशेरकी कवितामें एक प्रवृत्ति है उसी शून्य, उसी न-कुछमें वापस चले जानेकी। गति और प्रतिगति—अभिव्यक्ति और संकोचके इस तनावमें एक तरहकी स्थिरता, सन्तुलन पैदा होता है। यह स्थिरता, यह अटकाव, यह स्थिति अनस्तित्व और अस्तित्वके बीच एक अन्तराल है—विशुद्ध सम्भावनाका क्षण है। यह वह मनोभूमि है जहाँ कविता अपने अर्थसे आलोकित होती है।

शमशेरकी 'एक पीली शाम' शीर्षक कविता काफ़ी विश्रुत है। उसकी अन्तिम पंक्तियाँ हैं :

"अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सान्ध्य तारक-सा
अतल में।"

अतलमें गिरनेके पहले संकोचका, अटकावका एक झिलमिलाता अन्तराल है जिसमें आँसू अपनी जीवितता ग्रहण करता है। जन्म लेना अलग होना है। अनस्तित्व गर्भसे अतलकी ओर जाना है; नितान्त पराया हो जाना है। लेकिन इस बिलकुल निजी और बिलकुल परायेके बीच एक और क्षण है—जहाँ आँसू निजी है भी और नहीं भी है; पराया है भी और नहीं भी है। न तो वह बिलकुल आत्मपरक है, और न बिलकुल वस्तुपरक। वह अभिव्यक्ति भी है और संकोच भी है।

अपने दूसरे संग्रह 'कुछ और कविताएँ' की भूमिकामें शमशेर कहते हैं : "मेरी अकसर कविताओंके, जो सन् १९४०–'४१ के आस-पासकी थीं, प्रकाशनका समय दस-बारह साल बाद आया, या शायद तब भी नहीं आया।....मैं जितना महत्त्व ऐसी अभिव्यक्तिको देता हूँ—कविके जीने मात्रके लिए मैं उसे जितना महत्त्वपूर्ण समझता हूँ—उतना उसके प्रकाशन-

को नहीं। कलाके 'प्रकाशन'को वास्तवमें मैं कोई महत्त्व नहीं देता। कला कैलेण्डरकी चीज़ नहीं है। वह कलाकारकी अपनी बहुत निजी चीज़ है।... वह 'अपने-आप' प्रकाशित होगी। और कविके लिए वह सदैव कहीं-न-कहीं प्रकाशित है।"

आगे इसी भूमिकामें वे कविताओंके प्रकाशनके बारेमें बारम्बार एक झिझकका इज़हार करते हैं। इस संकोचकी जड़ें गहरी हैं और काव्यानुभूतिके अस्तित्वको ही स्पर्श करती हैं। यह संकोच न सिर्फ़ रची हुई सृष्टिको ऊपर आनेसे रोकता है, बल्कि उसकी अर्थवत्ता या सार्थकतापर प्रश्न-चिह्न लगाता है। इसका प्रभाव यहाँतक हो सकता है कि लिखी हुई कविताएँ प्रकाशमें न आयें और 'कहीं-न-कहीं'के सन्दिग्ध अन्तरालमें अटकी रह जायें, सिर्फ़ एक 'टिक'के अभावमें। यह लगभग ऐसा है जैसे मालार्मेने हल यह निकाला हो कि कविता लिख तो ली जाये लेकिन उसे प्रकाशित न कराया जाये।

शमशेरका वक्तव्य है कि कवितामें हम अपनी भावनाओंकी सचाई खोजते हैं। आशा करता हूँ कि ऊपर दिये गये संकेतोंसे इस वक्तव्यकी मार्मिकता स्पष्ट हो जायेगी। अर्थात् हम आत्मपरकताकी वस्तुपरकताकी तलाश करते हैं। तलाशकी यह मुद्रा वस्तुपरकता या सचाईकी अनुपस्थिति अर्थात् काव्यानुभूतिकी अपर्याप्तताको मानकर चलती है।

हम एक ऐसी सृष्टिकी कल्पना करें जिसमें जन्म देनेवाले ब्रह्मा तो हैं, लेकिन उस सृष्टिको धारण करनेवाले, उसे निरन्तर अस्तित्व प्रदान करनेवाले, सही लगानेवाले विष्णुका अभाव है। सचाईकी तलाश इसी विष्णुतत्त्वकी तलाश है। देवताओंके इन प्रतीकोंका प्रयोग मैं जानबूझकर कर रहा हूँ। क्योंकि एक तरहकी वैष्णव भावना, अर्पित निरीहता शमशेरकी कवितामें बराबर मौजूद है। वही है जो उनके काव्य-जगत्को धारण करती है। मालार्मेके काव्य-जगत्में तो रचनेवाले ब्रह्माका ही अभाव है। लेकिन शमशेरकी समस्या विष्णुतत्त्वको स्थापित

करनेकी है।

चीज़ें जन्म लेती हैं, लेकिन वे अपनी गतिसे निरन्तर अस्तित्वमें स्थापित नहीं होतीं। इस निरन्तर अस्तित्वके लिए एक बाहरी प्रमाणकी आवश्यकता पड़ती है। उसी तरह जैसे विष्णुतत्त्व जीवको अपनी अंजुलीमें धारण करके सार्थकता देता है। यही शमशेरकी काव्यानुभूतिका आरम्भ-स्थल है। भारतीय दर्शनकी शब्दावलीमें कहें तो यह रहस्यवाद नहीं है, पुष्टिमार्गकी तलाश है।

इस चर्चाको यहीं छोड़कर अब मैं एक दूसरे तत्त्वकी ओर इशारा करूँगा। आजसे लगभग पन्द्रह वर्ष पहले, 'दूसरा सप्तक'में अपनी संग्रहीत कविताओंपर वक्तव्यमें शमशेरने अपनी कविताकी परिभाषा यों दी थी : "सुन्दरताका अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है। अब यह हमपर है, कि हम अपने सामने और चारों ओरकी इस अनन्त और अपार लीलाको कितना अपने अन्दर घुला सकते हैं।"

इस सूत्रकी लगभग हूबहू वैष्णव शब्दावली अवश्य ही आपका ध्यान आकर्षित करेगी। बहरहाल, मैं 'अवतार', 'लीला' और 'अपने अन्दर घुलना' इन शब्दोंपर जोर न देकर 'सुन्दरता'की चर्चा करना चाहूँगा, क्योंकि तात्त्विक रूपमें शमशेरकी काव्यानुभूति सौन्दर्यकी ही अनुभूति है। जिन लोगोंका ख़याल है कि छायावादके बाद हिन्दी कविताने सौन्दर्यका दामन छोड़ दिया है, उन्होंने शायद शमशेरकी कविताओंका आस्वादन करनेका कष्ट कभी नहीं किया। मैं एक क़दम और आगे बढ़कर कहना चाहूँगा कि आज तक हिन्दीमें विशुद्ध सौन्दर्यका कवि यदि कोई हुआ है तो वह शमशेर हैं। और इस 'आज तक'में मैं हिन्दीके सब कवियोंको शामिल करके कह रहा हूँ।

अपने उसी वक्तव्यमें आगे चलकर शमशेर कहते हैं : "तसवीर, इमारत, मूर्ति, नाच, गाना और कविता—इन सबमें बहुत-कुछ एक ही बात अपने-

अपने ढंगसे खोलकर या छिपाकर या कुछ खोलकर कुछ छिपाकर कही जाती है।"

इतने बड़े पैमानेपर यह बात सच है या नहीं, इस झगड़ेमें न पड़कर हम इस कथनको शमशेरकी कविताओंके लिए अवश्य प्रयुक्त कर सकते हैं—एक ही बात है जो अपने ढंगसे खोलकर या छिपाकर या कुछ खोलकर और कुछ छिपाकर इन तमाम कविताओंमें कही गयी है। चाहे हाशियेपर 'चीन' का नाम लिखा हो, या 'अल्जीरियाई वीरों' का या 'सौन्दर्य' का या 'सींग और नाखून' का। और वह एक बात वही है जिसे शमशेरने पहले कहा है : "सुन्दरताका अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है।"

सुन्दरताके अवतारकी निरन्तर प्रक्रियामें सब-कुछ समाया हुआ दिखता है। इस अनुभवकी व्यापकताको उनकी दो बहुत भिन्न कविताओं-को साथ रखनेपर देखा जा सकता है। एकका शीर्षक 'चीन' है, जो उनके संग्रह 'कुछ कविताएँ'में प्रकाशित है। दूसरी कविताका शीर्षक 'सौन्दर्य' है और वह 'नयी कविता'के सातवें अंकमें प्रकाशित हुई है।

बेशक दूसरी कवितामें झिलमिलापन और भावोंकी उमड़न पहली कविताके मुक़ाबले अधिक है, लेकिन सिर्फ़ कविताएँ सुनकर यह कल्पना करना लगभग असम्भव है कि पहली कविताका शीर्षक 'चीन' है और वह 'चीनी जनताका लोकसत्तात्मक गणतन्त्र राज्य' के चीनी अक्षरोंको चित्र-पहेलीकी तरह इस्तेमाल करके रची गयी है, और दूसरी कविताका शीर्षक 'सौन्दर्य' है। सच तो यह है कि शमशेरकी सारी कविताएँ यदि शीर्षकहीन छपें, या उन सबका एक ही शीर्षक हो, 'सौन्दर्य, शुद्ध सौन्दर्य' तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। शमशेरने किसी विषयपर कविताएँ नहीं लिखी हैं। उन्होंने कविताएँ, सिर्फ़ कविताएँ लिखी हैं, या यों कहें कि एक ही कविता बार-बार लिखी है। शमशेर इस पल-छिन अवतार लेते हुए सौन्दर्यके गवाह हैं—ऐसे गवाह जिसने इस अवतारके हर रंग और हर

विस्तारको उसके 'अनन्त लीला' रूपमें स्पृहाके माध्यमसे ठीक-ठीक स्वायत्त करनेकी शपथ ली हो। यह स्पृहामय साक्षी भाव शमशेरकी काव्यानुभूति-का दूसरा तत्त्व है।

इन दोनों तत्त्वोंको समन्वित करनेके पहले एक और तत्त्वको भी हम देख लें। वह है हमारे ऐतिहासिक परिवेशका। पिछले बीस-पचीस बरसों-की हिन्दी कवितामें जो एक व्यक्त या अव्यक्त संघर्ष काव्यके आदर्शोंको लेकर रहा है, स्थूलतः प्रगतिवाद बनाम प्रयोगवादका, क्या उसका हल शमशेरने निकाल लिया है? सतही तौरपर कहा जा सकता है कि शायद ऐसा है। लेकिन कुछ ऐसा भी है जो इसको अच्छे-खासे कमालका रूप भी देता है। वक्तव्य उन्होंने सारे प्रगतिवादके पक्षमें दिये, कविताएँ उन्होंने बराबर वे लिखीं जो प्रगतिवादकी कसौटीपर खरी न उतरतीं। मार्केकी बात यह है कि इनमें-से कोई भी पहलू दिखावा नहीं है। ये दोनों ही मुद्राएँ उनके निजीपनकी वास्तविक आवश्यकतासे ही उपजती हैं। उनकी कविताएँ तो उनके लिए नितान्त निजी हैं ही, प्रगतिवादसे उनका उलझाव भी कम निजी नहीं है। शमशेरसे ज्यादा इससे और कौन अवगत है कि इन दोनोंके बीचमें एक खाई है जिसे वे भर नहीं पाते? जितनी बार वे प्रगतिवादके आदर्शकी चर्चा करते हैं उतनी ही बार वे 'ऊँच रुचि और मति' तक पहुँच पानेकी अपनी असमर्थताका भी बलपूर्वक उद्घोष करते हैं।

मनोविश्लेषणको ही काव्य-विश्लेषणका पर्याय माननेवाले इस स्थिति-को विभाजित व्यक्तित्वका सटीक उदाहरण समझकर सन्तुष्ट हो जायेंगे। लेकिन मनोविश्लेषण आदमीके व्यक्तित्वके बारेमें जो कुछ भी बतलाता हो, कविताके बारेमें कुछ नहीं बतलाता। क्योंकि कविताका आधार वह 'निजीपन' है, मनोविश्लेषणका 'अहं' जिसके आगे सतही मालूम पड़ता है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवादके विवाद जब आज पुराने पड़ चुके हैं तब

शमशेरकी इस दुविधाग्रस्त स्थितिके अवशेष उनके दोनों संग्रहोंमें एक रोचक ढंगसे दिखलाई पड़ते हैं। हमने आपके सम्मुख चीनपर लिखी उनकी पुरानी कविताका उल्लेख किया। अगर कविताके साथ छपी टिप्पणी और हाशियेके चीनी अक्षरोंका ज़िक्र न किया जाये तो कवितामें अपने-आपमें प्रगतिवादका कोई अवशेष नहीं रह जाता। इसी तरह 'माई', 'का० भारद्वाज', 'ये शाम है', 'हमारे दिल सुलगते हैं' आदि कविताओंका प्रगतिवाद भी इन कविताओंमें उतना नहीं है जितना इन कविताओंके साथ जुड़ी हुई टिप्पणियोंमें। यह निष्कर्ष निकालनेका लोभ होता है कि शमशेरका प्रगतिवाद उनकी कविताके हाशिये तक सीमित रह गया। क्या इस निष्कर्षसे शमशेरकी काव्यानुभूतिके केन्द्र तक पहुँचनेमें सहायता मिलती है?

शायद! क्योंकि प्रगतिवाद शमशेरके लिए मात्र वह नहीं है जो वह है, बल्कि वह है जो उनकी निजी ज़रूरतको पूरा करता है; उनकी काव्यानुभूतिकी बनावटका अंग बनकर प्रस्तुत होता है। इसी अर्थमें वह उनके लिए अभिनय नहीं है, वास्तविकता है।

ऊपर हमने अभिव्यक्तिको 'कविके जीने मात्र' के लिए ज़रूरी होनेका ज़िक्र किया है। स्थूल रूपमें कविता किसीके जीने मात्रके लिए जैविक आवश्यकताकी तरह महत्त्वपूर्ण नहीं होती। शमशेरके लिए यह स्तर मनोवैज्ञानिक जीवनका भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि कवि कविता न लिखे तो पागल हो जाये। कविता और जीवनकी अभिन्नता अनुभूतिके स्तरपर है। काव्यानुभूति और जीवनानुभूति एक ही वस्तु हैं।

इस सन्दर्भमें ही प्रगतिवादके बारेमें शमशेरका वक्तव्य हम समझ सकते हैं: "जहाँतक वह मेरी निजी उपलब्धि है वहाँतक मैं उन्हें, दूसरोंके लिए भी मूल्यवान् समझता हूँ।" इसमें 'जहाँतक' और 'वहाँतक' पर बल खुद शमशेरका दिया हुआ है। शमशेरका मार्क्सवाद आरम्भसे ही

इस 'जहाँतक-वहींतक' को बारीक शमशेरीय छन्नीसे छाना हुआ मार्क्सवाद है।

दूसरे सप्तकके वक्तव्यमें शमशेर 'समाज-सत्य' को आग्रहपूर्वक 'मार्क्सवाद' का पर्याय घोषित करना जरूरी समझते हैं। १९६१ तक जो चीज मार्क्सवाद थी, वह 'समाज सत्यका मर्म' हो गयी। बेशक इन दस वर्षोंमें परिवर्तन हुआ है, कमसे कम आग्रहका। कमसे कम शमशेरके लिए एक लाभ इसमें अवश्य दिखता है—कि 'अपनी भावनाओंमें', 'अपनी प्रेरणाओंमें', 'अपने संस्कारोंमें'—'समाज सत्यके मर्म' को ढालना और उसमें 'अपनेको पाना' उतना कठिन नहीं है, जितना वह जिसे वे मार्क्स-वादके नामसे अभिहित करते हैं।

केन्द्रीय शब्द 'निजी उपलब्धि' है। सत्यकी निजी उपलब्धिकी यह प्रक्रिया क्या है ? समाज सत्य वह है जो हमारे निजत्वके बाहर है। मूलत: यह वह 'अतल' है जिसमें 'अटका हुआ आँसू' गिरता है। इस बारहके सत्यको अपने भीतर खींच लानेकी प्रक्रिया ही 'निजी उपलब्धि' है। बाहर-का सत्य इस भीतर खींचनेकी प्रक्रियाका प्रतिरोध करता है। इसीलिए वह अनुभूतिमें 'जहांतक' 'वहींतक' की कशमकशवाली शब्दावलीमें अभि-व्यंजित होता है। मैंने आरम्भमें उस गतिकी चर्चा की थी जो आत्मपरकता-की वस्तुपरकताकी तलाश करती है। निजी उपलब्धिकी यह दूसरी गति उसका विलोम है—वस्तुपरकताकी आत्मपरकताकी तलाश है। यह अतल-का वह प्रक्षेप है जो आँखकी कोरपर अटके हुए आँसूको शून्य गर्भसे पृथक्त्वका जीवित क्षण प्रदान करता है। बाह्य यथार्थ, सामाजिक सत्य, वस्तुजगत्, भिन्न रुचि अथवा अतल वह है जो आन्तरिकतापर, कवितापर, जीवनानुभूतिपर 'टिक' लगाता है, उसकी पुष्टि करता दिखता है।

इस तरह समाज सत्य अर्थात् काव्येतर अनुभूतिको निजी उपलब्धि बनाना उसे काव्यानुभूतिके उपयोगमें लाना है। लेकिन शमशेरके लिए

काव्यानुभूतिके केन्द्रमें, उसके साथ सायुज्यमें उसकी सत्ता नहीं है। प्रगति-वादसे उलझावके दौरमें भी वह एक तरहसे हाशियेपर स्थित है। वह काव्यानुभूतिकी 'पहुँचके बाहर' एक क्षितिज, एक अनल, एक काव्येतर अनुभूतिकी तरह अस्तित्व ग्रहण करता है। काव्यानुभूतिके साथ इस खास रिश्तेमें जुड़ना ही उसका एक साथ ही निजी उपलब्धि भी होना है, और 'पहुँचके बाहर' भी होना है। जहाँतक उसकी यह अवस्था शमशेरके काव्यमें है वहींतक वह औरोंके लिए भी उपयोगी है। आजकलकी शब्दा-वलीमें कहें तो काव्यानुभूति और प्रगतिवाद एक तरहके सह-अस्तित्वमें आमने-सामने दर्पणकी तरह रखे हुए हैं—कविता और हाशियेपर-की लिखावटकी तरह। लेकिन यह सह-अस्तित्व निरपेक्षता नहीं है, साक्षात्कार है। रिश्तेका अभाव नहीं है, रिश्तेकी सम्भावना है। वस्तुतः सम्भावना ही वह आधारभूमि है जिसमें आत्म और वस्तु दोनोंका अस्तित्व होता है। इस सम्भावनाको सिर्फ़ दिमागी कौलकी तरह नहीं, बल्कि सीधी, माध्यम-हीन, जीवनकी धड़कनकी तरह अनुभूत करना ही काव्यानुभूति है।

आरम्भमें जिसे शमशेर मार्क्सवाद कहते थे, उसके लिए दस वर्ष बाद कुछ अधिक ढीली शब्दावली 'समाज सत्य' या उससे भी अधिक ढीली शब्दावली 'समाज सत्यका मर्म', 'इतिहासकी धड़कन' आदिका प्रयोग करते हैं। शायद यह हाशियेकी लिखावटको कुछ और सूक्ष्म, या धुँधला बनानेकी कोशिश है। इस अर्थमें यह अनुभूतिकी मुख्य बनावटमें थोड़े-से परिवर्तनका सूचक है। बाहरी आकारसे मर्मकी ओर जानेका यह आग्रह इस निजी उपलब्धिको काव्येतर अनुभूतिसे अलग एक आप्तता देनेका उपक्रम है। लेकिन अभी भी इसका रूप आत्मपरक और वस्तुपरक, चित और अचितके सायुज्यका नहीं है। एक तरहसे शमशेरकी प्रकृति हमेशा वस्तुपरकताको उसके शुद्ध रूप या, उन्हींके शब्दोंमें, उसके 'मर्म रूप'में पकड़नेकी रही है। इसीलिए 'उस दौर'में भी, जब वह वास्त-विकताके बाहरी आकारोंकी ओर बहुत आकर्षित थे, उनके लिए मार्क्स-

वाद शुद्ध वस्तुपरकताका ही दूसरा नाम था। लगता यह है कि बादकी शब्दावली एक अनावश्यक शब्दभारको हटाने-भरकी कोशिश है—जो कुछ हमेशा था, उसे ही ठीक तौरपर कहनेका आग्रह है। इसीलिए मार्क्सवाद-का छूटता हुआ दामन, उनके लिए मोह-भंगका रूप नहीं लेता, बल्कि केंचुल छोड़कर चुपचाप आगे बढ़ जानेकी अनुभूति देता है। आज भी उनकी काव्यानुभूतिमें वस्तुता अपनी शुद्ध स्थितिमें अभेद्य किन्तु सूक्ष्म क्षितिजकी तरह मौजूद है—और पहले भी मार्क्सवाद इससे अधिक क्या था ?

इस प्रकार शमशेर मालार्मीय बिडम्बनाका हल अपने ढंगसे निकालते हैं, वस्तुपरकताके मर्ममें आत्मपरकताका, और आत्मपरकताके मर्ममें वस्तुपरकताका आविष्कार करके। चित् और अचित् एक-दूसरेका निषेध नहीं करते, बल्कि एक-दूसरेको प्रतिबिम्बित करते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे यह स्थिति छायावादसे भिन्न है, जिसमें चेतनाके ही दो दर्पण इस पार और उस पार रखे हुए हैं, और बीचका अचित् ब्रह्माण्ड उनकी परस्पर छायाकी तरह आभासित होता है; यह दृष्टि मार्क्सके अद्वैतात्मक भौतिकवादसे भी भिन्न है जिसमें प्रकृति और पुरुषके दोनों दर्पण अचित्के ही हैं और चेतना भौतिकताके ही दर्पणमें भौतिकताकी पड़ती हुई छायाकी तरह आभासित होती है।

कविता दर्शन नहीं है। क्योंकि कवि अपनी मान्यताओंका चुनाव जिस तरह करता है उस तरह दार्शनिक नहीं। दार्शनिक अपनी मान्य-ताओंमें उनकी अपनी परस्पर संगति खोजता है, जब कि कविके पास मान्यताओंके लिए एक ही संगति है—जीनेकी जरूरतसे ही उनकी संगति। इसलिए शमशेरकी काव्यानुभूतिकी बनावटकी इस व्याख्याको आप उनके दर्शनके रूपमें नहीं—बल्कि दृष्टिके रूपमें, एहसासके रूपमें ग्रहण करें। उसके रूपमें जिसकी गवाही वे देते हैं—"सुन्दरताका अवतार हमारे

सामने पल-छिन होता रहता है ।"

मैंने सुविधाके लिए चेतनाको वस्तुपरकता और आत्मपरकताके दो छोरोंमें बाँटकर विश्लेषण किया, और उनकी दो गतियोंको आपके सामने रखा। लेकिन काव्यानुभूतिके क्षणमें यह सारी स्थिति इस तरह, अलग-अलग नहीं प्रस्तुत होती। उसकी प्रतीति एक समूची इकाईकी तरह होती है। यह इकाई यथार्थकी इकाई है।

इस प्रकार देश-कालसे बँधे हुए यथार्थके मर्ममें ही एक दरार, फाँक या रिक्तता है। जहाँ देश न वैसा देश है जिसे हम साधारणतः जानते हैं, और न काल घटनाओंकी न लौटनेवाली गति है जिसे घड़ी नापती है। उदाहरणके लिए इस तसवीरको आप देखें :

> "एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता
> पूरब से पच्छिम को एक क़दम से नापता
> बढ़ रहा है।
> कितनी ऊँची घासें चाँद-तारों को छूने को हैं
> जिनमें घुटनों को निकालता वह बढ़ रहा है
> अपनी शाम को सुबह से मिलाता हुआ
> फिर क्यों
>
> दो बादलों के तार
> उसे महज़ उलझा रहे हैं ?"

देशकी ही तरह कालमें भी फाँक है। यों शमशेरकी कल्पना कालको भी देशकी ही तरह अनुभूत करती है, एक विशाल विस्तारकी तरह जिसमें पौर्वापर्य्यकी बाध्यता नहीं है। देशके रूपमें कालकी अनुभूति, या यों कहें कि कालकी वह सरहद जहाँ वह देशसे अभिन्न दिखता है, अस्तित्वकी किस अवस्थाका सूचक है, यह विवेचनाकी अलग दिशा है, और मेरे लिए बहुत आकर्षक भी है। लेकिन यह विस्तारकी बात है। बहरहाल, इस

सिलसिलेमें मैं उनकी 'अमनका राग' और हालमें ही 'कल्पना'में प्रकाशित 'गिन्सबर्गके नाम' कविताओंका ज़िक्र करूँगा जहाँ काल देशमें परिवर्तित होकर 'यूटोपिया'का निर्माण करता है। यह इतिहासको इतिहासके भीतर देखनेकी कोशिश है। शमशेरके लिए यूटोपियाका अस्तित्व भविष्यकी भविष्यतामें नहीं, भविष्यकी वर्तमानतामें है। बल्कि अतीत और भविष्य दोनोंकी वर्तमानतामें है। इसीलिए वह इतिहासकी सरहदपर नहीं ऐतिहासिक क्षणके मर्ममें, उसकी धड़कनमें विद्यमान है। उसमें नैरन्तर्य या पौर्वापर्य्य नहीं है, बल्कि निःसीमता है।

खैर, इस प्रसंगको छोड़कर, मैं आपका ध्यान उद्धृत कविताकी ओर आकृष्ट करूँगा जिसमें दो पहाड़ोंको ठेलकर उभरते हुए आदमीका बिम्ब है। इस कविताकी काया शमशेरकी अन्य कविताओंके मुक़ाबलेमें ज़्यादा भरी-पुरी है, और इसीलिए उतनी दुरूह नहीं है। ठेले जाते हुए पहाड़ देशमें, और सुबह और शाम कालमें दरार या रिक्तताकी स्थापना करते हैं, इतना तो स्पष्ट होगा। यह फाँक वही है जो 'ये लहरें घेर लेती हैं' नामक कवितामें 'अन्तरिक्षमें' ठहरे हुए 'एक दीर्घ समतल मौन' से व्यक्त होती है।

"आसमान में गंगा की रेत आईने की तरह हिल रही है।
मैं उसी में कीचड़ की तरह सो रहा हूँ।
और चमक रहा हूँ, कहीं
न जाने कहाँ।"

यथार्थके मर्ममें जो फाँक है, वह और कुछ नहीं है कविके मर्मकी ही फाँक है। चेतनाके अन्तरिक्षमें ही इस अभावका, न-कुछका, दीर्घ समतल मौनका, जन्म होता है। उसी तरह जैसे पानीकी सतहपर फैले हुए तेलकी झिल्ली, फैलनेकी प्रक्रियामें ही बीचसे फट जाती है, और पानीकी सतहपर एक शुद्ध अभाव छोड़ जाती है। इस अन्तर्वर्ती शुद्ध विस्तारके उस पार आईनेमें जो दिखता है वह और कोई नहीं है कवि स्वयं है। ब्रह्माण्ड

चेतनाके उस पार नहीं है, बल्कि चेतनाके भीतर, अन्तर्वर्ती शुद्ध विस्तारके उस पार है ।

लेकिन इस 'बेठोस नीले आईने'में, बर्फ़की इस पारदर्शी पोली परतमें, वह जो अपनेको ही देखता है—उसका प्रतिबिम्ब हूबहू वैसा ही नहीं है जैसा वह है। और न वह बिल्कुल दूसरा, बिल्कुल भिन्न ही है, न तो वह प्रतिच्छवि ही है और न छायाभास ही है—वह इन दोनोंके बीचकी स्थिति अर्थात् बिम्ब है। देखनेकी क्रिया ही बिम्ब देखना है । बिम्बोंका सृजन ही काव्यानुभूतिकी वह नैसर्गिक अवस्था है जहाँ वह जीवनकी अनुभूतिसे एकाकार होती है। बिम्ब आत्माकी वस्तुता और वस्तुकी आत्माकी तलाश है। इस स्थितिको मैं 'ऑप-टिक्स'के उदाहरणसे स्पष्ट कर सकता हूँ। जिस तरह वर्तुल आईनेमें देखनेपर प्रतिबिम्ब आईने और देखनेवालेके बीच अन्तर्वर्ती विस्तारमें अटका हुआ मालूम पड़ता है—उसी तरह चित और अचितके दोनों दर्पण बीचमें एक बिम्बलोकका निर्माण करते हैं। यथार्थके दो नहीं, तीन लोक हैं ।

> "तीन
> ब्रह्माण्ड
> टूटे हुए मिले चले गये हैं ।"

यथार्थके मर्ममें, अथवा चेतनाके मर्ममें, जो फाँक है क्या उसे पाटना सम्भव है ? काव्यानुभूतिका क्षण जो एक साथ ही अन्तर्वर्ती विस्तारके दो छोरोंपर रखे हुए आईनोंके साक्षात्कारका और इसीलिए अपनेको ही दो हिस्सोंमें बिभाजित पानेका क्षण है, इस काँपते हुए, डरे हुए, पिघलते हुए प्रश्नका भी क्षण है। यह तथ्य कि काव्यानुभूतिके तलमें प्रश्न है उत्तर नहीं है, शमशेरको छायावादके निकट ले जाता है—विशेषतः महादेवीके, जिनमें भी काव्यानुभूति मुख्यतः प्रश्नका रूप लेती है। लेकिन

महादेवीका प्रश्न शुद्ध प्रश्न है—वह शुद्ध 'मैं' का शुद्ध 'तू' के प्रति फेंका हुआ तीर है। दूसरी तरफ़ शमशेरका प्रश्न, प्रश्नकी शुद्धावस्था नहीं है; वह मैंका ऐसे तूके प्रति फेंका हुआ तीर है जो प्रश्नके पहुँचते-पहुँचते मैंमें ही परिवर्तित हो जाता है। शमशेरके प्रश्नके छोरपर उत्तरकी सम्भावना झिलमिलाती है। वस्तुतः वह प्रश्न नहीं है, उत्तर भी नहीं है : उत्तरकी सम्भावना है। मेरे लिए यहाँ उदाहरण देना सम्भव नहीं है लेकिन मैं आप विद्वज्जनोंसे प्रार्थना करूँगा कि जहाँ-जहाँ शमशेरकी कविताओंमें 'कौन ?', 'न जाने कौन ?' आदि प्रश्नवाची व्यंजनाएँ प्रयुक्त हुई हैं, उनकी आप महादेवीके 'कौन', 'न जाने कौन' आदिसे तुलना करें तो समानता और अन्तर दोनों स्पष्ट होंगे। महादेवीका 'कौन' एक खुले हुए असीमकी स्थापना करता है; शमशेरका 'कौन' भी असीमकी स्थापना करता है, लेकिन यह असीम, घिरा हुआ असीम है। आशा करता हूँ कि 'घिरे हुए असीम'की यह कल्पना सिर्फ़ शाब्दिक उलटबाँसी नहीं लगेगी, लेकिन आप देखेंगे कि यह वही है जिसे पहले दरार, फाँक या अन्तर्वर्ती विस्तारका नाम दिया गया।

प्रश्नके छोरपर उत्तरकी जो सम्भावना झिलमिलाती है वही बिम्ब-लोक है। यह सम्भावना मालार्मीय विडम्बनाके बीच कल्पनाके अनुग्रहकी दुर्लभ घड़ियोंकी तरह—कभी-कभी ऐसा होता है कि बिम्बलोक दरारको पूराका पूरा भर देता है। सुन्दरताका अहैतुक अवतार, अनन्त और अपरम्पार लीला होने लगती है। यह यूटोपियाका वह क्षण है, जिसमें पूराका पूरा काल, देशमें परिवर्तित हो जाता है। अत्यधिक उल्लास, और चमकते हुए उत्साहके साथ, परिपूर्तिका यह अनुभव कविका साक्षात्कार एक नये तरहकी निःसीमता—बन्धन-मुक्ति और स्वतन्त्रताकी निःसीमता—से कराता है। क्योंकि यह सिर्फ़ उल्लास और आवेगका ही नहीं, बल्कि एक बहुत बड़ी विजयका भी क्षण है। यह पाश टूटना, उस संकोच और प्रतिरोधके पाशका टूटना है जो आत्मा और वस्तुकी परस्पर

उन्मुख गतियोंको परस्पर विपरीत गतियोंमें बदलता रहता है। परिपूर्ति-की यह धारासार बारिश जो लगता है कि कोई भी खाली जगह नहीं छोड़ती, शमशेरकी यूटोपियन कविताओंमें व्यक्त हुई है। मैं पहले कह चुका हूँ कि यूटोपिया भविष्यकी भविष्यता नहीं, बल्कि उसकी वर्तमानता है। अर्थात् यूटोपियन दृष्टि भविष्यका निषेध नहीं करती, भविष्य और वर्तमानके बीच जो अन्तराल है उसका निषेध करती है। तब उस 'घिरे हुए असीम' का क्या होता है? क्या वह घिरा हुआ या असीम नहीं रह जाता? घिरा हुआ असीम वह तब भी रहता है, फ़र्क इतना ही है कि जो कुछ पहले अभाव या रिक्तताकी तरह लगता था वह सहसा भाव या परिपूर्तिमें बदल जाता है। शून्य अवस्था घन अवस्थामें बदल जाती है। क्या इस रिक्तताको जो अलग करती दिखती थी, इस तरह नहीं देखा जा सकता कि वह दोनों आईनोंको जोड़ती हुई दिखे? शमशेरकी यूटो-पियन कविताओंमें ही उनके बिम्ब सर्वाधिक सघन, ठोस और अपारदर्शी मालूम पड़ते हैं। या यों कहें कि वे कमसे कम बिम्ब रह जाते हैं और अधिकसे अधिक प्रतिच्छवि मालूम पड़ने लगते हैं। उनकी वह गहराई जो उन्हें एक बिम्बलौकिक चमक देती है, विलीन होने लगती है। यूटोपियाकी तलाश हाशियेकी लिखावटकी तलाश है। अर्थात् जैसे-जैसे कवि यूटोपिया-की ओर बढ़ता है, वह अपनी मृत्युकी ओर बढ़ता है। क्योंकि यूटोपियाकी अन्तिम परिणति मार्क्सवाद है, (कमसे कम शमशेरके लिए अबतक रही है) और मार्क्सवाद वह हिस्सा है जो काव्यानुभूतिके बाहर पड़ता है। वह शुद्ध वस्तुपरकता है जहाँ कवि मर जाता है। कवि ही क्यों, यथार्थ भी मर जाता है। हाथ आता है सिर्फ़ एक मरा हुआ वर्तमान और मरा हुआ भविष्य।

आखिरकार यूटोपियाका मतलब क्या है? वह लोक जिसका अस्तित्व नहीं है। इस तरह उसके अस्तित्वमें ही अनस्तित्वकी शर्त है। उसका संकल्प जितना शुद्ध जितना उन्मुक्त होगा, उतना ही वह निषिद्ध एवं वर्जित

होता जायेगा। इसी कारण यह बिम्बलोक है। सरहदके पार यूटोपियाकी स्पृहा अपने अन्तिम रूपमें मृत्युकी स्पृहाकी तरह महसूस होती है :

'आईनो, रोशनाई में घुल जाओ और आसमान में
मुझे लिखो और मुझे पढ़ो।
आईनो, मुसकराओ और मुझे मार डालो।
आईनो, मैं तुम्हारी ज़िन्दगी हूँ।"

लेकिन शमशेरकी कविताके हाशियेपर सिर्फ़ मार्क्सवादका नाम नहीं लिखा है। दूसरी तरफ़ एक और हाशिया है जिसपर एक और इबारत है, जो एक दूसरे अर्थमें वर्जित है। उस इबारतका नाम शमशेर देते हैं—सुर्रियलिज़्म या अतियथार्थवाद। यह पहली इबारतकी ठीक उलटी इबारत है। धनका ऋण पक्ष है। अतियथार्थ वस्तुतः इतिहासमें क्या था या क्या है, यह उतना प्रासंगिक नहीं है जितना यह कि उसका निजी इस्तेमाल शमशेर क्या करते हैं। उनके लिए अतियथार्थवाद शुद्ध आत्मपरकता है, जिस तरह मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता है। रेखाचित्रोंकी शक्लमें वह 'कुछ कविताएँ' नामक संग्रहमें 'घनीभूत पीड़ा' शीर्षक कवितामें हाशियेपर मौजूद है—और ये चित्र 'चीन' नामक कविताके चीनी अक्षरोंकी भाँति—कविताकी 'पहुँचके बाहर' होते हुए भी कविताके 'अभिन्न अंग' हैं। बहरहाल, मुख्य बात यह है कि दोनों हाशियोंकी तरफ़ कविका रुख एक जैसा नहीं है। मार्क्सवाद या वस्तुपरकता वह है जिसका कवि क़ायल है, लेकिन जिसे वह काव्यानुभूतिमें ला नहीं पाता। अतियथार्थवाद वह है जो बरबस काव्यानुभूतिमें फूटा पड़ता है लेकिन कवि जिसका क़ायल नहीं है और जिसे दबाकर, निकालकर कविताओंमें-से अलग कर देना चाहता है। एक तरफ़ अपनेको वायवी बनाकर असम्भव ऊँचाईको छू लेनेकी स्पृहा है, दूसरी तरफ़ अपनेको पत्थरकी तरह ठोस बनाकर उमड़ती हुई वायवीयताको दबा देनेकी कोशिश है। इन दोनों हाशियोंके बीच शमशेरकी काव्यानुभूति एक व्याकुल शान्तिकी तरह स्थिर है। मूलतः

वह जिसे हम जीवन कहते हैं दो अतियों अथवा सीमान्तोंके बीच गति और प्रतिगतिका एक झीना, झिलमिलाता हुआ और बेचैन सन्तुलन है।

मार्क्सवादकी तरह अतियथार्थवाद भी एक यूटोपियाकी सृष्टि करता है। यह यूटोपिया एक तरहका निषेधात्मक यूटोपिया है। धन बिम्बलोक-के मुक़ाबलेमें ऋण बिम्बलोक है। 'कुछ और कविताएँ' में दी हुई दो कविताएँ 'सींग और नाख़ून' तथा 'शिला का ख़ून पीती थी' इस निषेधात्मक, या यों कहें, निषिद्ध यूटोपियाका चित्र प्रस्तुत करती हैं। यहाँ भी काल पूर्णतः देशमें समाहित हो जाता है—जैसे समयका प्रवाह पत्थर होकर रुक गया हो। इसके आगे राह नहीं है। अर्थात् घिरा हुआ असीम यहाँ भी पूराका पूरा भर गया-सा लगता है।

"शिला का ख़ून पीती थी
वह जड़
जो कि पत्थर थी स्वयं
सीढ़ियाँ भी बादलों की झूलतीं
टहनियों-सी।
और वह पक्का चबूतरा
ढाल में चिकना :
सुतल था।"

आप देखेंगे कि वह बेचैन छटपटाहट जो गति और प्रतिगतिके बीच सन्तुलन खोजती हुई 'अमनका राग' में उन्मुक्त हो गयी थी, यहाँ आकर ठोस, बिलकुल जड़ हो गयी है। इन कविताओंके बिम्ब भी उतने ही सघन, ठोस और अपारदर्शी हैं। लेकिन इस ध्रुवान्तपर वे सबसे अधिक दुरूह लगते हैं। 'अमनका राग' या 'चीन' में अर्थ जो शब्दोंकी सतहपर तैरता दिखता है, यहाँ आकर 'गुम' हो गया है। पूरी कविताके भीतर एक विशाल अनुपस्थितिकी व्यंजना होती है। इस निषिद्ध यूटोपियाके पास पहुँचनेपर भी बिम्ब अपनी बिम्बलौकिकता खोने लगते हैं; वे बिम्ब नहीं

रह जाते, वे प्रतीक हो जाते हैं। ये प्रतीक किसके प्रतीक हैं ? ये प्रतीक हैं—'कुछ नहीं' के। अक्षरशः 'कुछ-नहीं' के। यह पीड़ाकी वह अवस्था है जहाँ उसमें-से स्पृहा, उच्छ्वास, तड़प, बेचैनी सब कुछ अनुपस्थित हो जाता है और दर्द एक जड़ चिकनी चट्टानकी तरह जम जाता है। हाशियेकी इस ऋण दिशामें भी कविता जैसे-जैसे बढ़ती है, अपनी मृत्युकी ओर बढ़ती है। इसलिए कि इसके आगे पागलपन, मानसिक विक्षिप्तताकी स्थिति है जो चेतनाकी मृत्युका पर्याय है। घबरा-घबराकर शमशेर इस प्रतीकात्मक अतियथार्थसे यदि वापस लौटते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। वह अपने होशो-हवासकी दुरुस्तीको बनाये रखनेके लिए ही संघर्ष करते हैं।

सीमान्तों तक जाकर इस खाईंको नहीं पाटा जा सकता। फिर आदमी क्या करे ? हारकर, हताश कातरताके साथ शमशेर उस घिरे हुए असीमके बीचमें सन्तुलनकी तलाश करते हैं। यह मध्यता एक फाँक, अटकाव, की तरह महसूस होती है : जैसे कुछ ऐसा है जो हमेशाके लिए चंगुलमें फँस गया हो। मध्यका यह फाँसदार सन्तुलन निष्क्रिय नहीं है। वह मुख्यतः गति है—"ओ सुदूरपन, ओ केवल लयगति।"

लेकिन मध्यका यह सन्तुलन एक विधायक, सक्रिय, स्वयम्भू उत्सकी तरह नहीं जन्म लेता, जैसा कि अज्ञेयके काव्यमें है। इसके विपरीत यह सन्तुलन दो निषेधोंके आपसी निषेधसे पैदा होता है। शमशेर मूलतः अतिवादी हैं, ऐसे अतिवादी जो अपने ही अतिवादसे सहमकर वापस लौटनेकी चिरन्तन मुद्रामें गिरफ़्तार हो गये हैं। यही है जो उलझी हुई भावनाओंका रूप ग्रहण करता है। दो पहाड़ोंको ठेलकर उभरते हुए आदमीवाली कवितामें भी, जो उनकी दूसरी कविताओंके मुक़ाबले इस सन्तुलनको अधिकसे अधिक विधायक रूप देती दिखती है—अन्तमें बादलोंके दो तार निषेध करनेवाली दो गतियोंकी तरह उस फाँसकी याद

दिला ही देते हैं ।

इस प्रकार यथार्थकी तहमें निषेध है जो बिम्बलोकको जन्म देता है । यह निषेध मालार्मेकी तरह सिर्फ़ रिक्तताकी सृष्टि न करे इसलिए इसको ज्योंका-त्यों आत्मसात् करना सम्भव नहीं है । दूसरी तरफ़, इसकी सत्तासे इनकार करना धन या ऋण यूटोपियामें पहुँचना है, जो मृत्युका ही दूसरा नाम है । अतः इसके प्रति सहमा हुआ-सा, कातर, निरीह वैष्णव भाव ही एक मात्र उपाय है । जैसे ही यह भाव उदित होता है, बिम्बलोक एक बेचैन सन्तुलनकी भाँति जन्म लेता है ।

शायद अब आप देखेंगे कि शमशेर सचमुच कितनी साँसतमें हैं । उनकी स्पृहाकी समस्या इस निषेधको विधेय रूपमें आत्मसात् करनेकी है । बिना तटपर पहुँचे हुए ही तटस्थ होनेकी है । चेतनाके सीमान्तोंको चेतनाके मध्यमें महसूस करनेकी है । इसी कारण इतनी ऐंठन, इतना उलझाव, इतना पेचो-खम है—और उनके ऊपर तैरती हुई निरीह, मौन, आर्द्र सरलता है । ख़ास बात यह है कि यह मुख्य स्थिति भाव या वस्तुओंके तमाम रूपोंमें छिपकर अलग-अलग नहीं आभासित होती, बल्कि भावों या वस्तुओंके मर्ममें मौजूद यह एक ही स्थिति दिखती है । इसीको शमशेर बारम्बार घुलना या घुलाना कहते हैं—और इसीलिए काव्यानुभूति यथार्थके जिस हिस्सेको पकड़ती है, शीर्षकोंके बावजूद एक ही कविताका निर्माण करती दिखती है ।

'घिरे हुए असीम' के निषेधोंकी यह भावभूमि बारम्बार उन बिम्बोंको जन्म देती है जो अपनी विविधताके बावजूद एक ही हैं :

(१) रह गया सा एक सीधा बिम्ब
चल रहा है जो
शान्त इंगित-सा
न जाने किधर ।

(२) मैं सुनूँगा तेरी आवाज़
परती बर्फ़ की सतहों में तीर-सी ।
(३) एक दरिया उमड़ कर पीले गुलाबों का
चूमता है बादलों के झिलमिलाते
स्वप्न जैसे पाँव ।

(४) मौन आहोंमें बुझी तलवार (५) कठिन प्रस्तरमें अगिन सूराख (६) ग़रीबके हृदय, टँगे हुए (७) सुर्मई गहराइयाँ, भावमें स्थिर (८) पूरा आसमानका आसमान है एक इन्द्रधनुषी ताल (९) मोह मीन गगन लोकमें बिछल रही (१०) मैं खुले आकाशके मस्तिष्कमें हूँ (११) कई धाराएँ खड़ी हैं स्तम्भवत् गतिमें (१२) ऊषाके जलमें सूर्यका स्तम्भ हिल रहा है (१३) धुँधली बादल-रेखापर टिका हुआ आसमान (१४) क्षितिजके बीचो-बीच खिला हुआ फूल (१५) अन्धकारके चमकीले निर्झरमें, तुम्हारे स्वर चमकते हैं (१६) ख़ून बजता है हवामें । आदि-आदि ।

ये सारे बिम्ब निषेधकी प्रक्रियामें सन्तुलित हैं । उनका अस्तित्व लगभग घुलकर रिक्त होने जानेके क्षणमें है । उनकी चमक, उनकी पारदर्शिता और उनकी गत्यात्मकता इसीसे उपजती है । इसके अलावा वे उसी घिरे हुए असीममें अटके हुए हैं; अन्धकारका चमकीला निर्झर उस असीममें गिर रहा है, लेकिन उसमें चमकता हुआ स्वर उसे पूराका पूरा नहीं भरता । इस सन्तुलनमें एक थरथराहट है । यह थरथराहट एक गतिमें फँसी हुई प्रतिगति है । बिम्ब न सही तो थरथराहट, झिलमिलापन उस असीमको भरता हुआ दिखता है । घिरे हुए असीमको भरती दिखती हुई बिम्बोंके साथकी थरथराहट, या चमक ही उनकी बिम्बलौकिकता है । इस बेचैन, छीजते हुए सन्तुलनको हम पदार्थोंकी रेडियो-प्रक्रियाके दृष्टान्तसे समझ सकते हैं ।

मैंने 'बिम्बलोक' शब्दका प्रयोग किया है । बिम्ब और बिम्बलोकके अन्तरको स्पष्ट करना यहाँ आवश्यक है । यह लगभग उसी तरहका अन्तर

है जो विष्णु और विष्णुलोकमें है। विष्णुतत्त्व और विष्णुलोकमें अन्तर है। उसी तरह बिम्बके बिम्बतत्त्व और बिम्बलौकिकतामें अन्तर है। शमशेरकी कवितामें घिरे हुए असीमको बिम्बकी बिम्बात्मकता नहीं, उसकी बिम्बलौकिकता भरती है। अन्तिम रूपमें शमशेरकी काव्यानुभूति बिम्बकी नहीं, बिम्बलोककी अनुभूति है। इसीका निर्माण वे बार-बार करते हैं, और विविध बिम्बोंके बावजूद एक ही कविता लिखते हैं। अन्ततः इस बिम्बलोकमें बिम्बका भी पर्यवसान हो जाता है। लेकिन बिम्बका पर्यवसान उस लोकका भी पर्यवसान है।

निषेधका अन्त नहीं है। विधेय रूपमें निषेधको आत्मसात् करनेपर भी वह निषेध ही बना रहता है। उसका अन्त नहीं होता। निषेधका अन्त वहाँ है जहाँसे विधायकताका आरम्भ होता है। शमशेरका बिम्बलोक कबतक इस निषेधात्मक यूटोपियासे घिरा रहेगा? अवतारको लीला रूपमें देखनेकी कोशिश तात्त्विक दृष्टिसे घटित होनेको केवल होनेके रूपमें देखना है। आप देखेंगे कि यही समस्या भक्तिकालकी भी दार्शनिक समस्या है। यूरोपके अस्तित्ववादी दार्शनिक यास्पर्सने कहा है कि असली प्रश्न यह है कि क्या नास्तिक सन्त होना सम्भव है? यास्पर्सका दर्शन इस प्रश्नका उत्तर देनेकी कोशिश है। शमशेरकी काव्यानुभूतिके मौन विस्तारमें भी यही प्रश्न मँडराता रहता है।

काव्यानुभूतिकी इस बनावटका शिल्पके स्तरपर एक नतीजा यह निकलता है कि शब्द जो जड थे, सहसा पोले पड़ने लगते हैं। शब्दकी जड अवस्था वह है जो उनको रूढ़ अर्थोंके पाशमें बाँधती है। शब्द और अर्थका सम्बन्ध एक अचल स्थिरताकी तरह परिभाषाबद्ध हो जाता है। उनके पोले पड़नेका मतलब है कि अर्थको परिभाषाके तात्त्विक कैवल्यकी भाँति नहीं बल्कि प्रक्रियाकी तरह देखा जाये। तब शब्दके पाश टूटने लगते हैं, और वे परिभाषाका अर्थ नहीं, जीवनकी अनुभूतिका अर्थ देने

लगते हैं। शब्दकी अर्थशक्तिमें इतना बड़ा परिवर्तन हिन्दुस्तानमें एक बार और हो चुका है जब गुमनाम ध्वनिकारने व्यंजना शक्तिका आविष्कार किया। उस समय शब्दोंके पास टूटनेकी अनुभूति हुई होगी। ध्वनि सिद्धान्त तत्त्वतः घटितको अस्तित्वकी तरह फैलता हुआ देखनेका प्रयास है। क्या ध्वनि सिद्धान्त और बादमें विकसित होनेवाले विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैतमें कोई असंलक्ष्यक्रम रिश्ता है? आप विद्वज्जनोंके सम्मुख मैं इस खतरनाक क्षेत्रमें प्रवेश करनेकी मूर्खता नहीं करूँगा। इस गुत्थीको खोलना समर्थ व्यक्तियोंका काम है। मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि शब्दोंके प्रति शमशेरकी, और समूची नयी कविताकी दृष्टि हिन्दुस्तानकी पुरानी उपलब्धियोंसे अलग नहीं है, बल्कि ठेठ उनके मध्यमें स्थापित है। आजकी कविताकी समस्या लगभग उसी शक्लमें सामने आती है, जिस तरह वह ध्वनिकारके सामने आयी थी। उसमें पहलेकी सभी दृष्टियोंका समाहार हो गया। शमशेरकी कविता, या समूची नयी कविताको ठीक-ठीक देखनेके लिए नयी कविताके प्रतिमानकी ज़रूरत नहीं है, बल्कि कविताके नये प्रतिमानकी ज़रूरत है।

जब एक बार शब्दोंको जकड़े हुए अर्थोंके पाश टूट जाते हैं, तब उनको इस नयी मुक्तिकी अवस्थामें, उन्हें नये-नये रिश्तोंमें जोड़ना सम्भव होने लगता है। शमशेरके शब्दोंमें :

> "जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
> सजग-सा हो कर पसरने लगा
> आप से आप।"

ऐसी अवस्थामें ऐसे-ऐसे शब्द साथ-साथ आने लगते हैं, जिनके साहचर्यकी कल्पना पहले नहीं की गयी थी, और 'साँस की गंगा', 'हलकी मीठी चा-सा दिन', 'हँसी का फूल', 'मौत के रंगीन पहाड़,' 'अगोरती विभा,' 'काग़ज़ी विस्मय', 'सुलगता हुआ पहरा', 'मोतियोंको चबाता हुआ गुल' जैसे प्रयोग सिर्फ़ चौंकानेवाले करिश्मे नहीं लगते, बल्कि एक

गूँजते हुए अर्थसे भर जाते हैं। कविता शब्दों और शब्दोंके संयोगसे नहीं बनती, बल्कि शब्दोंका जाल जो यथार्थपर फेंका जाता है उससे बनती है। यह फेंका हुआ जाल ही अर्थ है। और अगर यथार्थ स्थिरता नहीं, गत्यात्मक प्रक्रिया है तो शब्दार्थको भी गत्यात्मक प्रक्रिया होना पड़ेगा। यही शमशेरके शिल्पकी समस्या है।

मैंने आपके सम्मुख काव्यानुभूतिकी बनावट प्रस्तुत की। ऐसे बहुत-से सवाल हैं जो मैंने छोड़ दिये हैं। इस बनावटसे कविका जो स्पृहात्मक सम्बन्ध है उसकी प्रकृति क्या है? यह 'सौन्दर्य'की तरह क्यों आभासित होता है? इस समूचे अस्तित्वका हमारे रोज़मर्राके जीवनसे क्या सम्बन्ध है? छायावाद या हिन्दी काव्यकी परम्परासे इसका किस तरहका रिश्ता है? सबसे बढ़कर वह भावात्मक अवस्था जो इस बनावटको ऐन्द्रिकता देती है उसका व्यापार किस तरहका है, यह सब मैंने छोड़ दिया है। इनमें-से कुछ प्रश्न तो ढाँचेकी इस विवेचनाके बाहर हैं, और कुछका उत्तर देना शमशेरके ही शब्दोंमें मुझसे ज्यादा 'ऊँच रुचि और मति' वाले विद्वानोंका काम है।

इसलिए शायद आपको लगे कि काव्यानुभूतिकी बनावटकी इस विवेचनामें मैंने शमशेरकी कविताके रेशे-रेशे बिखेरकर रख दिये और कविताकी इहलीला समाप्त हो गयी। आखिरकार विश्लेषण कविताकी जगह तो नहीं ले सकता। क्षमा याचनाके रूपमें मैं आपके सामने शमशेरकी दो बहुत मार्मिक कविताएँ 'सागर तट' तथा 'लौट आ ओ धार' आपके सम्मुख रखकर इस विवेचनाको समाप्त करूँगा। इन कविताओंमें जो अवतरित होता हुआ सौन्दर्य है, यथार्थपर थपेड़े मारता हुआ चेतनाका जो स्पन्दन है, यदि उसकी धड़कनको कुछ अधिक गहराईके साथ आप महसूस कर सकेंगे तो मैं अपने इस प्रयासको सफल समझूँगा: आपके प्रति भी और कवि शमशेरके प्रति भी।

● ●

शमशेर बहादुर सिंह

एक पर्सनल ख़त जो निबन्ध होते-होते बच गया*

सवाल यह है कि

"क्या सवाल है ?"

सवाल यह है कि—मैं खत क्यों नहीं लिखता? इसलिए कि ऐसा करनेसे मुझे कुछ सहूलत और आराम हासिल हो जायेगा ? (जब कि सहूलत और आराम मेरे स्वभावको बिगाड़ देगा : क्योंकि वह मुझे नॉर्मल बना देगा ?) ।

(हाँ) । खत लिखनेमें क्या ज़ोर पड़ता है ? क्या नुक़सान होता है, यानी कौन-सा बड़ा सुख छिन जाता है, समझमें नहीं आता । ज़रूर कोई बहुत बड़ा चैन और आराम छिन जाता होगा···और वह है अपने अकेले-पन, अपने निसंगपनका 'सुख' । (वाह !)

दूसरी बात···बहुत गुप्त, बहुत सीक्रेट,—यह, कि दोस्तियाँ उस्तवार हो जायेंगी, उन्सियत बढ़ जायेगी···ग़र्ज़े कि मैं 'बँध' जाऊँगा । (वाह, वाह, वाह !) तीसरी बात यह है कि

मेरा फ़लसफ़ा है कि

हर चीज़ न सिर्फ़ एक-दूसरेसे बँधी और जुड़ी हुई है, बल्कि : अन्दरसे एक ही है । मिसाल :—

१. मेरा दोस्त x मैं हूँ । उसको पुकारना अपना नाम पुकारना है । वह इस बातको न जाने, न जाने ।

* तीसरा सप्तक : अज्ञेय

२. ख़त लिखना शेर लिखना है। यानी गद्य लिखना कविता लिखना है। धोबीका हिसाब लगाना एक ख़ूबसूरत (जानवर या इन्सानकी) तसवीर बनाना है। दूसरेको प्यार करना ख़ुदको चिढ़ाना। ख़ुद खाना दूसरेको खिलाना है। दूसरेका (उधार) पैसा ख़र्च करना अपना पैसा ख़र्च करना है। दूसरेको प्यार करना ख़ुद एक डकार-सी लेना है। ख़त न लिखना बिलकुल ख़त ही लिखना है।

३. जी हाँ। मैं हूँ नहीं : गोया कि मैं हूँ। फिर सवाल यह है कि फिर मैं यह ख़त क्यों लिख रहा हूँ : जिसमें सवाल यह है कि क्या यह मैं ख़त लिख रहा हूँ ?

जवाब : मैं ख़ुदसे बातें कर रहा हूँ। और वही आप सुनना चाहते हैं और वही मैं बताना नहीं चाहता। मगर आप चाहते हैं कि मैं बताऊँ ही बताऊँ यानी कि ख़त लिखूँ ही लिखूँ।....चुनाँचे मैं (अपने आपसे चिढ़कर) लिख रहा हूँ। ख़त। अगर्चे ऐसा करनेमें बातें धीमी होते-होते बन्द, बन्द-सी हो जाती हैं; और आख़िरमें सिर्फ़ दस्तख़त करनेको मन होता है—'तुम्हारा शमशेर'।

("बुरा मान गये, मेरी जान ?") ("अरे कोई नाँ, कोई नाँ !!")

२

लोग, मेरे करमफ़र्मा, मुझसे थीसोज़ चाहते हैं (ख़ामख़ाह)। (मैं कोई हनुमानजी हूँ, पहाड़ उठाऊँ ?) ख़ामख़ाह चाहते हैं, बनूँ ! क्यों बनूँ ? क्यों ख़ुश करूँ किसीको ? कोई नाराज़ होना क्यों नहीं चाहता ? ए काश, कोई चाहता, मैं उसे नाराज़ करूँ ! वाह री मोहब्बत, वाह रे इश्क ! (अरे वाह रे !) वह क्या ग़ज़ल है 'ज़फ़र' की ? 'बस, अजी बस' ?

दिल मेरा लेके किया आपने वापस—अजि बस !
हौसला देख लिया आपका : बस, बस !—अजि बस !!
नासहा, कीजिए यह पन्दो-नसीहत मौक़ूफ़ !

बस में दिल और के है। मेरा नहीं बस। अजि बस !
हम भी रखते हैं ज़बाँ, मुँह को सँभालो अपने !
गालियाँ दे चुके इक बोसे पे दस-दस ! अजि बस !
ख़ैर। हमें किसीकी गालियाँ नहीं सुननीं !
—'शम्स' मज़े में है कि हम इश्क में मुब्तिला नहीं !

३

साफ़-साफ़ कहा जाये तो, तो देखिए, हमारी-आपकी ज़बान नहीं मिलती। मैं कुछ कहूँगा, आप कुछ समझेंगे। और समझनेकी बातें कही जाती नहीं, समझी जाती हैं। वहाँ नस्र और नज्म नहीं। यानी न गद्य न पद्य। जो हुज़ूर, वहाँ तो दिलकी बातें हैं। सो, उनपर, मेहरबान मन, दिलके कान लगाओ। यों क़िस्से सुनानेको बहुत हैं।

मान लीजिए, मैंने लिखा—मैं आपके दुश्मनसे आज मिला था। क्या आप मुझे जवाबमें खत लिखेंगे कि 'ख़ूब किया ? कोई हर्ज नहीं, आदमी वह भी है !' हर्गिज़ नहीं। मैं फ़ौरन आपकी नज़रमें दुश्मनके दूरके रिश्ते-का भाई हो जाऊँगा और आपके अन्तरंगसे बाहर। बस, समझिए, कान पकड़कर निकाल दिया गया। (इस कामको शराफ़तसे करनेके बहुत-से ख़ूबसूरत तरीक़े हैं; मैं सब जानता हूँ।)

और

मान लीजिए, मैंने लिखा कि जनाबकी चीज़ तो मुझे पसन्द नहीं आयी। दरअस्ल, मैंने पढ़ी नहीं। मगर हाँ, आपकी छोटी बहन मुझे आज मिली थीं, या आपकी बीवी साहबा, वह मुझे बेहद अच्छी लगीं। क्या आपका प्यार मेरे लिए उमड़ने लगेगा एकदम ? मुझे शक है।

दरअसल एक बड़ा खालिस और निख़ालिस यथार्थवादी फ़ल्सफ़ा है—जिसे विजयदेव नारायण साहीने बहुत थोड़े-से और बहुत पुर-असर शब्दोंमें बयान करके रख दिया है : और वह यह है—

"सब से अकलमन्द मैं हूँ, दुनिया-भर में ।"
"किसी का कहना मत मानो : सबसे इन्तहाई
ऊँचा धर्म यही है दुनिया भर में ।"

मैंने शायद कुछ-कुछ अपने शब्दोंमें उनके शब्दोंको रख दिया है। कारण इसका, यही फ़ल्सफ़ा है । मैं जानता हूँ कि इस फ़ल्सफ़ेके सब क़ायल हैं । मगर कोई न कहेगा । सिवाय मेरे और विजयदेव नारायण साहीके । हम दोमें-से ही कोई सबसे ज़्यादा अक़्लमन्द है दुनिया-भरमें । शायद विजयदेव नारायण साही ही हैं । मगर वह इस बातको न मानेंगे—वह इस क़दर पक्के हैं अपने फ़ल्सफ़ेके ।

अब मुझे एकाएक सर्वेश्वरदयाल सक्सेनाकी याद आ गयी है, जिनका कलाम 'तीसरे सप्तक' के अख़ीरमें मय उनकी भूमिकाके, जिसे 'वक्तव्य' कहा गया है, शामिल है । क्या उनकी कविता उनका वक्तव्य नहीं है ? फिर, देखिए, विजयदेव नारायण साही ही सबसे अक़्लमन्द साबित हुए ! उन्होंने अपनी भूमिकाको 'पच्चीस शील'—जिनमें वह 'पाँच' नहीं हैं, मैंने ख़ूब ग़ौरसे देखा है; हाँ तो—'शील' कहा है । शील यानी सज्जनता-का नियम । यों कोई दो लफ़्ज़ एक मानी नहीं रखते । इसलिए एकदम सज्जनता भी उसे नहीं कहेंगे; और उसका नियम भी नहीं । लफ़्ज़के मानीको हमेशा उसका अनुवाद ही समझना चाहिए, 'मूल' का जुड़वाँ बिरादर नहीं ।

अहाहा ! हम्टी-हम्टी कहता है : 'रातको (बारह बजेके बाद) लफ़्ज़ (यहाँ वह अँगरेज़ी लफ़्ज़ोंकी बात कर रहा है । हाँ तो) लफ़्ज़ रातको उसके पास अपनी पगार लेने आते हैं, यानी मजूरी । काहेकी ? बहुत-से मानी और मतलब (=अर्थ) ढूँढ़ने पड़ते हैं । हम्टी-हम्टी उनसे बहुत भारी-भारी काम लेता था । जैसे अरबी और संस्कृतके लफ़्ज़ों-से आजकल भारत और पाकिस्तानमें लिया जाता है । (मैं तो भई किसीसे कोई भारी काम नहीं लेता, कभी । ख़ुदसे भी नहीं ।) हाँ तो

मैं यह कह रहा था कि—देखा, आपने ? सबसे अक़्लमन्द निकले श्री वि० दे० ना० साही। लेकिन सबसे बड़ा अक़्लमन्द सबसे बड़ा कवि भी होगा, यह 'पच्चीस शीलों' में कहीं नहीं मिलता। चुनाँचे इसके लिए और आगे-पीछे देखिए। मगर मैं क्यों देखूँ, श्री वि० दे० ना० साही देखें; और फिर वह भी क्यों देखें ? यह कोई अक़्लमन्दीका काम होगा ?

तो मुझे सर्वेश्वरदयाल सक्सेनाकी याद एकाएक आ गयी थी। क्यों ? उन्होंने एक दिन देहलीकी एक हलकी-हलकी बीमार साँझके किनारे मुझसे कहा था कि "मैं ग़ज़ल लिखकर तुम्हें भेजूँगा : इस्लाह तुम कर देना।" मैंने कहा था—"भाई, यह काम मुश्किल है। मगर तुम ग़ज़ल लिखो ज़रूर, और मैं शौक़से उन्हें देखूँगा। और वह बग़ैर कहे ही बार-बार कह रहे थे कि "देहली कितना बोर शहर है !" आज मैं सोचता हूँ तो इस पंक्तिका मतलब साफ़ समझमें आने लगता है। यानी कि शहर देहलीकी नाक बहुत ऊँची है। आप कुतब मीनारपर चढ़कर उसे छू सकते हैं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना मेरे दोस्त हैं।

(अदबी दोस्त='साहित्यिक मित्र') [:—बताइए, वह बात कहाँ रही जो 'दोस्त' और 'अदबी दोस्त'में है !·······मैं इन्हें चारुमित्राके ज़माने-में नहीं ले जा रहा। और मैं कोई किताब नहीं लिख रहा हूँ—(=पाठ्य पुस्तक), ख़त लिख रहा हूँ। अगर ख़त समझिये तो। वर्ना बातें कर रहा हूँ। एकतर्फ़ा। यानी मोनोलॉग। हाँ तो, सर्वेश्वरदयाल। सर्वे-श्वरदयाल खीझकर व्यंग्य कहते हैं। और जितना ही खीझते हैं, उतना ही अपना बाल नोचते हैं, और उतना ही कसकर व्यंग्य कहते यानी लिखते हैं। ख़ुदा करे वह और खीझें, और यह दुनिया उन्हें और खिझाये। (मेरे दुआ न करनेसे क्या वह कम खिझायेगी ?) हद है, कि उनकी परछाईं तक उन्हें चिढ़ाती है। हाय हाय ! उनकी बीवीको कितना बुरा लगता होगा। इसी झींखनेपर उन्होंने ख़ुद एक पड़ोसिन, बेहद समझदार हमदर्द पड़ोसिनसे कहलवाया है, और बार-बार कहलवाया है :

चुपाय मारो दुलहिन !

इतना मनका दुबला आदमी मैंने नहीं देखा। गुस्सा करते-करते आदमीका दिल बहुत कमजोर हो जाया करता है। कुछ भी उसे अच्छा नहीं लगता। न अपने नाखून, न क़ैंची, न अख़बार, न क़लम, न गौरैयाका बच्चा, न ख़ुद अपनी जमुहाई, न शान्ति, न जंग (यानी अगर 'कॉमन नाऊन' हैं तो। वर्ना 'जंगबहादुर' और 'शान्तिदेवी'से एक-सा ऐक्टिवन्यूट्रल रवैया है : जो कि दफ़्तरके कामकी तरफ़ न्यूट्रल ऐक्टिविटीका-सा रवैया है। दोनों फ़ल्सफ़ोके नज़रियेसे एक ही हैं, लगभग।) बहरहाल। तो सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ऐसी मामूली-मामूली चीज़ोंपर कविताएँ ऐसी-ऐसी ग़ैर-मामूली लिखते हैं कि मैं हैरतसे देखता या सोचता ही रह जाता हूँ कि इसकी क्या वजह है कि वह इतने मोटे होते जा रहे हैं यानी इतने इम्पॉर्टेण्ट। भूमिकामें इनके महज़ खीझ है जिसके लिए इन्होंने सोसायटीके समान और विरोधी क्लबोंको धन्यवाद दिया है जिन्होंने उन्हें कविता करनेपर मजबूर किया। 'तीसरे सप्तक' से यह भी कुछ-कुछ पता चलता है कि आप गद्य भी अच्छा और क्यूबिस्ट क़िस्मका (अर्थके लिए देखिए 'साहित्य कोश', ज्ञानमण्डल। न भी देखें, तो कोई हर्ज नहीं।) लिखते हैं।

अब मैं मुख्तसर तौरसे श्रीमती कीर्ति चौधरीकी तरफ़ आऊँगा और पहले उनके गद्यकी दाद दूँगा। सजीला और शर्मीला गद्य है वैसे : बिलकुल जैसे खुला और स्निग्ध उनका काव्य है। फूलोंको छूकर बहती हुई अयानी मुक्त हवा-सा जो बाग़के छोर तक पहुँचकर, यानी कविताकी आख़िरी पंक्तियोंमें घुलकर, ख़ासी सयानी लगती है। कीर्ति चौधरी एक सच्ची कवि है। उसके पास खुला हुआ सच्चापन है और उसके पास जो एक रंगीन हृदय है, उसमें बड़ी मोहक सादगी है।

(मगर थॉट। थॉटकी कमी है। एँ ? कवितासे क्या उसका कोई क़रीबी रिश्ता है ? आधुनिक कवितासे है : ऐसा कुछ बहुत समझदार लोग कहते हैं। वाज़े रहे, कि मैं नहीं कहता। कीर्ति चौधरी मेरी रायमें,

थॉटको छानकर, चायकी पत्तोंकी तरह, अलग कर देती हैं। वह हलकी नीट टी पेश करती हैं, एक शिष्ट पिकनिककी बेतकल्लुफ़ीके साथ।)

अब मैं अपने फ़ेवरिट कविका ज़िक्र करता हूँ। वह है मदन वात्स्यायन। जियो, कवि! तुमने मेरी तबियत खुश कर दी है। भूमिकासे अलग और कविताओंसे अलग। मैं उन्हें हमेशा, हर रोज़ पढ़ सकता हूँ। (यह नहीं कि पढ़ता हूँ, पढ़ सकता हूँ।) तुमको देखा था तुम्हारे छोटे-छोटे-से बाज़ू और इकहरा यों-ही सा जिस्म। तुम्हारे अन्दर वह ताक़त कहाँ छिपी हुई है, जो मशीनोंका दिल हिलाती है, और मशीनें चलानेवालोंको देखनेवालोंको एक अजीब कैफ़ और खुमारमें सुलाती (मगर दरअस्ल जगाती) है। फ़ोक गीतको भाषाका आधुनिक जामा पहनाया गया है और जो उनपर फबता है। सर्वेश्वरके पास तुम्हारी बहुत-सी कविताओंके जवाबमें एक ही लाइन है। (अगर्चे वह ग़ज़ब है)—"चुपाय मारो दुलहिन!" मगर तुम तो कवितामें ड्रामा कण्डक्ट करते हो। वह ड्रामा तुम्हारा है। हम अगर्चे उससे बहुत दूर हैं, मगर वह हमारा भी है, न जाने कैसे!—और इसीको मैं तुम्हारा जादू मानता हूँ। तुमने आजकी कवितापर बहस भी एक, खुली आँखों और खुले दिलो-दिमाग़से शिल्प और भावनाके कच्चे मालको परखनेवालेकी हैसियतसे की है। बारीक बहसोंको बड़े साफ़ और मोटे ढंगसे क़रीब-क़रीब तै कर दिया है। मुझे पूरा यक़ीन होता है कि विद्यार्थियोंको 'मशीन और मनुष्य' और दूसरी ऐसी ही दो-चार कविताएँ ज़बानी याद करानी पड़ेंगी। मगर विद्यार्थियोंको बिला शुबह उनमें बड़ा मज़ा आयेगा। ऐसी चीज़ें हिन्दीमें कहाँ हैं। और, और बाहर भी खोजिए। शायद बँगलामें हों। योरॅपमें तो होंगी ही। अरागोंने 'एस. एस. एस. आर. रेलवे'का सफ़र आवाज़ोंके इशारोंमें इस तरह बाँधा है कि आपके सामने एक नयी सोसायटीका बनता हुआ नक़्शा फ़िल्मकी तरह गुज़रता चला जाता है। उर्दूमें मजाज़की 'रेल और रात' भी पढ़नेसे ताल्लुक़ रखती है। मगर वह बहुत रोमानी गूँज और

गरजकी नज़्म है; बहुत रोमानी। जबकि मदन वात्स्यायनके यहाँ यथार्थके सामाजिक विश्लेषण ड्रामायी असरके साथ है। हिन्दीमें कभी सैयद मुत्तलवीकी मशहूर नज़्म "हैया! हैया!" ('जोर लगाओ हैय्या!!') छपी थी। बहर कैफ़।

केदारनाथ सिंहपर इसलिए कम-से-कम कहना चाहता हूँ कि काफ़ी लोकप्रिय वह हैं, और उनपर ख़ास तौरसे काफ़ी लोग लिखेंगे, और लिखना भी चाहिए। सपना और उच्छ्वास और एक युवकके आदर्शोंकी पवित्र-रंगीनी उनके यहाँ ख़ास तौरसे मिलेगी। आपको रवीन्द्रनाथ और येट्सके स्वर, कुछ आधुनिक स्वर, नये—केदारके अपने—साँचेमें ढले हुए मिलेंगे। युवकोंके वह प्रिय कवि हैं। एक टटकापन उनके, प्रकृतिके रोमानी-से चित्रमें मिलेगा। शब्दोंकी मधुरतापर वह ख़ास ध्यान देते हैं।

प्रयागनारायण त्रिपाठी मेरे लिए नये निकले। एकदम बिलकुल नहीं। मगर असली मानोंमें बिलकुल नये। इनका जीवन पढ़नेके क़ाबिल है। इन्होंने अपनी कविताकी बुनियाद ठोस ज़मीनपर रखी है। आधुनिक, ख़ासकर अज्ञेयजीके रंगको उन्होंने ख़ूब-ख़ूब समझा है और उससे अपनी शैलीको पुष्ट किया है। अभी इनके अपनेपनमें उभार नहीं आया है, पूरा-पूरा। मगर आयेगा; शायद आयेगा। एक चीज़ होती है र्‌हेटॅरिक। बड़े कामकी चीज़। शब्दोंके शिल्पकी जान। द्विवेदी युगमें इसी लाठीको मजबूतीसे पकड़कर कविताके नदी और नालेको भावुक यात्री पार करते थे। इस लाठीसे बहुत-से करतब भी दिखाये जा सकते हैं। यह द्विवेदी युगके ज़रा बाद देखनेको मिला। बिहारके मशहूर कवि 'दिनकर' को जिन्होंने पढ़ते सुना होगा, मुग्ध हुए बिना न रहे होंगे। र्‌हेटॅरिकमें एक ही ख़राबी होती है, कि हर-कोई ख़ूब मेहनत और मश्क़से इसके हाथ दिखा सकता है। इसकी बहार ही अलग है। इसके 'शो' से जो बचा, या अपनेको बचा ले गया, वही उस्ताद है। जिसने चमत्कार दिखाया; वह चमत्कारमें गया। मैं यही कहना चाहता था कि श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी, शुक्र है, अपनी भाव-

नाओं और अनुभूतियोंके ज़ोरपर ही शब्दोंको कुशलतासे सजाते हैं।

अब कौन रहा ? कोई नहीं । हाँ···श्री अज्ञेयकी भूमिका।

उन्होंने 'विषय' और 'वस्तु' का भेद ध्यानमें रखनेके लिए कहा है। यह उनकी बड़ी ज़्यादती है। दोनोंका घपला बहुतोंको मशहूर किये हुए है। उनका क्या होगा ? बारीकियोंको जनता पसन्द नहीं करती और आलोचक लोग ऐनककी पॉवर बदलना नहीं चाहते। मेरी भी राय नहीं कि वह बदलें। सबकी राय मिल गयी तो क्या मज़ा रहा! मिर्ज़ा असदुल्ला ख़ाँ ग़ालिब कहते हैं—

"यार से छेड़ चली जाय 'असद'
कुछ नहीं है तो अदावत ही सही।"

नयी कविता कोई उत्तू करानेकी चीज़ तो नहीं। नयोंको नया पसन्द है और पुरानोंको पुराना। इसमें बहस क्या। पुराने लोग नयी कविताके फेरमें पड़ते ही क्यों हैं। उनकी समझमें न आयेगी। न इसका अच्छा पहलू, न बुरा। इसपर नयोंको ही झगड़नेके लिए छोड़ दिया जाये तो अच्छा। नयोंकी गरमागरमी ज़्यादा अच्छी होती है। पुरानोंके मुँहमें अपशब्द शोभा नहीं देते। यह नयोंको ही फबते हैं। मगर मेरी नाचीज़ राय यह है कि ख़ुद कवियोंको ज़्यादा आलोचना (नयी कविताकी) नहीं पढ़नी चाहिए। उससे नुक़सान ही ज़्यादा होगा, और फ़ायदा कम। वह आलोचकोंके बजाय दर्शन, इतिहास, मनोविज्ञान, प्राचीन श्रेष्ठ साहित्य (देसी और बिदेसी दोनों) पढ़ें। (मेरी कुछ 'ग़लत'-सी राय यह है कि साहित्य और कलामें देसी-बिदेसीका भेद कुछ जात-पाँतकी तरहकी चीज़ है। यद्यपि मैं इसका भी क़ायल हूँ कि जात-पाँतके माननेवालोंको कभी नहीं टोकना चाहिए। न उनसे कभी भूलसे भी बहस करनी चाहिए, सिवाय उनसे सहमत होनेके इरादेसे। चुनाँचे मैं घोषित कर सकता हूँ कि हिन्दी संसारकी सर्वश्रेष्ठ भाषा और हिन्दी साहित्य सर्वोच्च साहित्य है। (केवल संस्कृत ही, उसकी माता होनेके कारण, उससे ऊँची है।)

खैर, कहनेका मतलब यह कि नयी कविताका अपना नया युग है। वह पुराने युगसे क्यों झगड़े। नये लोग पुरानोंसे केवल शिल्प और सिद्धान्त सीखें और उन्हें समझें, (यह मतलब नहीं इसका, कि वह उन्हें मान लेनेको बाध्य हैं।) उससे फ़ायदा उठायें, और आगे चलें, आगे देखें। इसकी शानदार मिसाल मदन वात्स्यायनने पेश की है। इसकी स्पिरिट अज्ञेयकी सभी अच्छी कविताओंमें मिलती है। मेरा मतलब यह नहीं कि कविकी हैसियतसे दोनों वात्स्यायन औरोंके लिए मॉडेल हैं। क़तई नहीं। व्यक्तित्व हरेकको अपना-अपना ही बनाना, उठाना और पुष्ट करना है। मगर उसकी दृष्टि और परखसे बहुत फ़ायदा उठाया जा सकता है। और उनकी सीमाओंके अध्ययनसे भी।

आइडियॉलॅजी। कविताका सम्बन्ध आज इस लफ़्ज़से सगा-जैसा है। मगर एक बात हमें हमेशा याद रखनी है कि अगर अच्छी आइडियॉलॅजी हमें अच्छा कवि बनानेके बजाय किसी वजहसे दम्भी, पूर्वग्रही, संकुचित (बायें पहलूसे या दायें) और भोंडा कवि बनाती है, तो उससे अच्छी वह 'आइडियॉलॅजी' जो कविकी वाणीको धार और असर दे। ज़ाहिर है, यहाँ अनैतिकताका समर्थन नहीं किया जा रहा है, मगर 'अच्छी कलाका जिसका असर दीर्घकाल तक रहे, उसका। पैसा घिसा हुआ भी हो तो चल जायेगा, मगर असली ताँबेका उसी वज़नका टुकड़ा उसकी जगह नहीं ले सकता।

मुझे याद आया। एक नाम भूल गया हूँ। कुँअरनारायण। शायद इस भूलनेकी वजह यह हो कि मैं कभी अलगसे उनपर लिखनेकी इच्छा रखता हूँ। कह नहीं सकता। मुझे यह माननेमें कोई ताम्मुल नहीं कि वह आजके एक बहुत अच्छे कवि हैं। मगर अपनी कमज़ोरी भी बयान कर दूँ, कि मैं उनकी कवितामें अधिक रस नहीं ले पाता; इसलिए मैं उनके साथ इन्साफ़ भी नहीं कर सकूँगा। उनकी भूमिका भी एकाडेमिक और कुछ लेबोरेटरीकी चीज़ है : जो कवियोंके लिए तो कामकी है, मगर

शायद पाठकके लिए नहीं। शायद मैं ग़लतीपर हूँ।

यह 'तीसरा सप्तक' उस कड़ीको पूरा कर देता है जो 'तार-सप्तक' से शुरू हुई। इन तीनों सप्तकोंने जो नमूना नयी कविता और उसकी तरक़्क़ीके जो ज़ीने हमारे सामने रखे हैं, उनपर चढ़कर पिछले १५ सालका बहुत अच्छा सर्वे किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि आजकी कविताके यहाँ भाषामें जो सहजता है, अभिव्यक्तिमें जो आत्मविश्वास है, अनुभूतियोंमें जो शिल्पगत सच्चाईके अलावा जीवनकी भी प्रचुर सच्चाई है, वह इस संग्रहको अकसर ही और बार-बार उठाकर पढ़ने और आनन्द लेनेकी चीज़ बना देती है—केवल अनुशीलनकी नहीं। इस वाक्यको अगर अक्षरशः न लिया जाये तो काफ़ी भले लोग मुझसे सहमत होंगे, ऐसी (चाहे ख़ामख़ाह ही) मुझे उम्मीद है। आमीन !

● ●

लालसे, मैं वंशी आदि) इस संग्रहमें हैं।

'वंशी और मादल'के गीतोंकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी सहजता है। प्रत्येक कविता अपने पूर्णरूपमें ही अवधारित की गयी है और प्रत्येक बिम्बका रंग पूरे प्रभावपर निर्भर करता है जो हर एक पदमें बनता जाता है; इस प्रकार सारे पद एक-दूसरेसे सम्बद्ध हो प्रभावकी एकताका निर्माण करते हैं। आजकल हिन्दीमें लिखे जानेवाले अधिकांश गीतोंकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यही है कि उनमें प्रत्येक पद स्वतन्त्र होकर पूरी रचनामें बिखराव पैदा करता है और प्रभावकी तीव्रताको नष्ट करता है। 'वंशी और मादल' में इस दोषका नितान्त अभाव है और ऐसे सुगठित गीत हिन्दीमें आज दुर्लभ हैं।

इन गीतोंकी दूसरी विशेषता यह है कि ये तुकोंसे परिचालित नहीं होते। कविने बड़ी सतर्कतासे सभी अनावश्यक तत्त्वोंको अलग कर अपनी बात सीधे तरीक़ेसे कही है और वह बात सीधे दिल तक उतर जाती है।

कविने नितान्त घरेलू वातावरण और पारिवारिक परिस्थितियोंसे लेकर विशाल परिवेश और बृहत्तर जीवनके अनेक चित्र उपस्थित किये हैं। 'नदियाका घना-घना कूल' और 'पर्वतकी घाटीका जल चंचल', 'फूला इचाक्' और 'आछीके वन', 'जंगलमें आग' और 'पर्वत-पर्वतपर सरसों', सभीको उसने देखा है और पूरे रंगोंमें उभारा है। उसने अकुशीको चिल्हकते, पिड़कुलको सूनी दोपहर जगाते, बजती फ़सलों और यूकैलिप्टसका स्वर सुना है और इसके सुननेमें उससे कभी भूल नहीं हुई। कविताओंकी विषय-वस्तु वह भूमि ही है जो उसके सामने थी; उसका प्राकृतिक सौन्दर्य, उसके रस्म-ओ-रिवाज, उसके चरित्र और उनके साथ कविका अपने जीवनसे सम्बन्ध। कवि प्रकृतिका निरीक्षण करता है, पर उसे बदलनेके लिए और न उसपर अभियोग लगानेके लिए, वरन् उसकी शक्ति और सौन्दर्यसे आनन्दित होनेके लिए। पूरे संग्रहमें स्थान-स्थानपर प्रकृतिका मुक्त उल्लास और रहस्यमय विलक्षणता मिलती है। उदाहरणके लिए—

झर झर झर झर
जैसे यूकिलिप्टस के स्वर
बरसो बादल बस एक प्रहर

ओरी मेरी बरस रात भर
नन्हें छत्रक दल के ऊपर
इन्द्रदेव तेरा गोरा जल
मेरे द्वार बिहँसता सुन्दर
तेरे स्वर के बजते मादल

रात रात भर······

या 'पर्वतकी घाटीका जल चंचल' आदि कविताएँ ली जा सकती है। इन कविताओंकी गति और शब्द-विन्यास, कविकी सूक्ष्म निरीक्षण-क्षमता और ध्वनि-संगीतकी पहचानका परिचय देती है।

विभिन्न ऋतुओंके रंगों, ध्वनियों और 'मूड्स' को लेकर अनेक कविताएँ इस संग्रहमें मिलती हैं। इन गीतोंमें उन आकृतियों और लालसा-आकांक्षाओंकी भीड़ है जो हमारे साथ रहती हैं और हमें एक-दूसरेसे सम्बद्ध करती हैं। अनेकानेक उपमानों और चित्रोंसे ये गीत समृद्ध हैं। "बिंधे फूल-सा मन, जामुन-सी काली भौंहें, बूँदोंकी झालर पहने हवाएँ, सेंदुरका पेड़, लता काजलकी, मँहमँहका पथ" आदि कितने ही नये प्रयोग इस संग्रहमें पड़े हैं। पानीके ही अनेक रूपोंका ['इन्द्रदेव तेरा जल', 'फिर है नदिया का गोरा जल जामुनी', 'झरने का दूध धवल' आदि] वर्णन इन गीतोंमें है !

ठाकुर प्रसाद सिंहने चित्रों-द्वारा ऐसी वस्तुओंके गुणों (या वातावरण) के बीच समानता स्थापित की है जो पहली दृष्टिमें बिलकुल अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। एक कविता है—

झरती है तुलसी की मंजरी
निखर रहे पात रे

बजती है पिअवा की बंसरी
सिहर रहे गात रे

यहाँ पहली और अन्तिम दोनों पंक्तियाँ बिलकुल असमान होते हुए भी पूरी कविता सुसम्बद्ध, संगठित और अपनेमें सम्पूर्ण है। ऐसी ही और कविताएँ हैं 'नहीं छूटते सूख गये पत्ते खिजूर के' और 'गाँवके किनारे है बरगदका पेड़'। इस प्रकार अप्रत्याशित ढंगसे असम्बद्ध और असमान वस्तुओंको एक साथ रखकर साधारण वस्तुओंमें (जिन्हें हम शायद देखते भी नहीं) नया जीवन भर दिया गया और कविताओंको नयी अर्थवत्ता दी गयी है।

'वंशी और मादल' की अधिकांश कविताएँ प्रेम (या उसकी सजग अनुपस्थिति) ही कविका स्थायी भाव है और दोनों स्थितियोंमें उसने मार्मिक कविताएँ लिखी हैं। कविको सबसे अधिक सफलता उन स्थितियोंमें मिली है जहाँ लालसाके बादका पानी निथरकर शान्त हो चुका होता है और स्मृति स्वयं अपने लिए नये-नये बिम्ब बनाती है। 'पाँच-जोड़ बाँसुरी,' 'नदियाका घना-घना कूल है,' 'अब मत सोचो प्रिय रे' ऐसी ही प्यारी रचनाएँ हैं।

आज जब अधिकांश लेखन या तो ठण्डा और बौद्धिक हो गया है, या फिर अनिश्चित और बचकाना है, ठाकुर प्रसाद सिंह उन कवियोंमें अद्वितीय हैं जिनकी रचनाओंमें ताज़गी और नये राग-बोधोंके साथ एक ऊष्मा भी मिलती है। यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि वे खुली हवामें अपनी क़लमसे लिखते हैं न कि पुस्तकालयके घुटते वातावरणमें टाइपराइटरका इस्तेमाल करते हैं और इसलिए उनकी रचनाएँ साँस लेती हैं। मैं ज़ोर देकर कहना चाहूँगा कि इन कविताओंको आंचलिक बनाकर किसी भौगोलिक परिवेशमें नहीं बरन् ऐतिहासिक सन्दर्भमें रखकर देखा जाये। वास्तवमें 'वंशी और मादल' पिछले दशकके काव्य-साहित्यकी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कृति है।

● ●

स. ही. वात्स्यायन

कनुप्रिया : राग-सम्बन्धोंकी वैचारिक पृष्ठभूमि *

जिस युगमें सभी कुछका नये सिरेसे मूल्यांकन हो रहा है, क्योंकि पुराने और प्रतिष्ठित मूल्य सन्दिग्ध हो गये हैं, उसमें प्रेमके मूल्यका अन्वेषण हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है। और जिस युगमें सभी रस मिश्र-रस हों, उसमें यदि राग-सम्बन्धोंको भी एक वैचारिक पृष्ठभूमि दी जाये, तो वह भी अकल्पनीय नहीं है।

किन्तु 'कनुप्रिया' में धर्मवीर भारतीने कृष्णके प्रति राधाके प्रेमको जिस नये रूपमें देखा है या दिखाना चाहा है उसका आधार केवल पुरानी बातको नये मुहावरेमें ढालनेका प्रयत्न-भर नहीं है। भारतीका उद्देश्य इससे बड़ा है, क्योंकि वह राधा-कृष्णके प्रेमको भी एक बृहत्तर रूपमें देखते हैं—ऐसा रूप, जिसे देश-कालातीत कहा जा सकता है, क्योंकि वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक है।

पौराणिक चरित्र ऐतिहासिक नहीं होते—या कि निरे ऐतिहासिक नहीं होते। उनके ऊपर जो प्रतीकत्व आरोपित हो जाता है, वह वास्तवमें एक जातिके गहनतम विश्वासों, आदर्शों या कामनाओंका प्रतिरूप होता है। राम और कृष्ण, सीता और राधा और मन्दोदरी, रावण और हनुमान् ऐसे ही प्रतीक-चरित्र हैं, जिनके माध्यमसे भारतीय जाति अपनी मूल प्रतिभाको मूर्त्त रूप देती है। गोकुलका नटखट ग्वाल बालक और महाभारतका परम कूटनीतिज्ञ—जिस कृष्णमें ये दोनों रूप समन्वित होते

---

* कनुप्रिया : धर्मवीर भारती

हैं, वह केवल राधाका प्रेयस् या वैष्णव सम्प्रदायका उपास्य नहीं है, बल्कि समूची भारतीय प्रतिभाका शलाका-पुरुष है।

'कनुप्रिया'में कृष्णके इस रूपको लिया गया है अवश्य; लेकिन भारती पुराणकार नहीं हैं, आधुनिक कवि हैं, इसलिए उन्होंने इस पौराणिक चरित्रके माध्यमसे एक समकालीन विसंगतिको भी विराट् रूपमें देखनेका प्रयास किया है। ऐसा प्रयास नया नहीं है; हमारे युगमें भी नया नहीं है; पुरानी कहानीको निरन्तर नया सन्दर्भ देकर ही कवि-प्रतिभा सफल होती है और उस देश-कालातीत राग-तत्त्व तक पहुँच सकती है जो कवि-सत्यको उसकी गहराई देता है।

'कनुप्रिया' पाँच खण्डोंमें बँटी है : 'पूर्व राग', 'मंजरी परिणय', 'सृष्टिसंकल्प', 'इतिहास' और 'समापन'। इनके द्वारा भारतीने प्रयत्न किया है कि राधाके सहज तन्मयताके क्षणोंका संकेत करें, और फिर कृष्णके महान् और आतंककारी इतिहास-प्रवर्त्तक रूपका इंगित देकर राधाके आन्तरिक संकटको पाठकके सम्मुख ले आये। इतिहास-पुरुषका यह महाकाय रूप, राधाकी सहज कैशोर्यसुलभ आत्म-विभोरतासे मेल नहीं खाता। किन्तु राधाका आग्रह है कि वह अपने प्रियको इसी सहजता-के स्तरपर समझेगी और ग्रहण करेगी—क्योंकि प्रेमका आयाम सहजताका ही आयाम हो सकता है; दूसरे सब आयाम प्रेमके नहीं, बुद्धिके हैं—रागके नहीं, चिन्तनके हैं।

सहजता या हार्दिकताके इस आग्रहको कोई भी वैष्णव समझ सकता है। लेकिन भारतीके आग्रह और राधाके आग्रहमें अन्तर है। भारती रागाश्रित सहजताको एक बौद्धिकके नाते ग्रहण करते हैं। "जीवनके मूल विपर्ययका कोई हल निरी बुद्धिसे, निरे ऐतिहासिक चिन्तन और विश्लेषणसे नहीं निकल सकता, मानवताकी समस्याएँ मानवकी जिस अखण्ड एकताके स्तरपर हल की जा सकती हैं, वह विज्ञान अथवा तर्कका स्तर नहीं बल्कि सहज रागात्मक सम्बन्धका स्तर है", यह भारतीकी

बुद्धिगत उपलब्धि है; जिसे वह काव्यमें प्रतिष्ठित करना चाहते हैं क्योंकि वह आधुनिक कवि हैं—कवि होते हुए भी आधुनिक हैं।

इस प्रकार भारतीने अपने समक्ष जो लक्ष्य रखा है उस तक पहुँचना कठिन तो है, परन्तु असम्भव नहीं। उसकी चुनौतीको कविने स्वीकार किया है तो उसकी प्रशंसा ही होनी चाहिए, इसलिए और भी अधिक कि वह चुनौती किसी दूसरेकी दी हुई नहीं है। कवि अपना अन्तर्भूत संघर्ष हमारे सम्मुख रखकर अपना प्रयास हमें देखने देता है, हमें साक्षी बनाकर अपनी हार-जीत कुछ भी हमसे नहीं छिपाता, तो वह हमारी गहरी सहानुभूतिका पात्र है और उसकी प्रगतिके हर पगकी हमें दाद देनी चाहिए।

'अन्धा युग'में भी भारती मूलतः इसी समस्यासे उलझ रहे थे। लेकिन 'अन्धा युग'का स्तर अधिक बौद्धिक था। राग-तत्त्वकी प्राथमिकता रागात्मक ढंगसे ही प्रतिष्ठित की जाये, कविके लिए यह प्रगति है और इस दृष्टिसे मानता हूँ कि 'कनुप्रिया' 'अन्धा युग'से एक चरण आगे है। उसकी कल्पना अधिक स्पष्ट है, उसकी दृष्टि अधिक गहरी और उसकी मानवीयता अधिक पूर्ण। इसलिए कहना चाहिए कि उसका काव्यत्व भी अधिक उन्नत है। (यह शास्त्रीय आलोचना नहीं है; लेकिन मैं कोई लाचारी नहीं देखता हूँ कि केवल शास्त्रीय आलोचना करूँ: शास्त्रीय आलोचनाका अपना एक स्थान अवश्य है लेकिन वहाँ आसन जमानेकी मेरी कोई आकांक्षा नहीं है।)

लेकिन मैं कहूँ कि 'कनुप्रिया'में जहाँ कुछ बहुत मर्म-स्पर्शी और द्रावक स्थल हैं, और कुछ अंशोंका संयत और उदात्त स्वर हृदयपर एक गहरी छाप छोड़ जाता है, वहाँ बहुत-कुछ ऐसा भी है जिससे निराशा या झल्लाहट होती है। भले ही झल्लाहटका कारण यह हो कि हमारी आशाएँ ही असन्तुलित थीं।

कविसे यह माँग तो नहीं की जा सकती थी कि वह स्वयं वैष्णव

हो; किन्तु जब वह राग और बुद्धिकी विसंगति हमारे सम्मुख रखना चाहता है तब यह आवश्यक हो जाता है कि वह हमारे सम्मुख राग-पक्षको भी उतना ही यथार्थ संवेद्य बना सके। इसके लिए वह कृष्णके उस रूपका आश्रय लेता है जो परम्परासे राधा-द्वारा देखा गया रूप माना चला आता है, तो उसमें अनुचित कुछ नहीं है; लेकिन वह इसको अनिवार्य बना देता है कि कवि वैष्णव संस्कारको हमारे सम्मुख जीवन्त रूपमें खड़ा कर सके।

इसके लिए जितनी जानकारी चाहिए वह भारतीके पास है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उसे हमारे सामने जीवित मूर्त रूप देनेके लिए जो भाषा अपेक्षित है वह 'कनुप्रिया'में नहीं है। यही मेरी समझमें उसकी मुख्य कमजोरी है, और इसीके कारण हम भावनाके उस स्तर तक नहीं पहुँच पाते जिसपर ले जाना कविका अभीष्ट है—या जिसपर पहुँचना काव्यके रसास्वादनके लिए आवश्यक है। भारतीकी भाषाका संस्कार रोमानी है; उनके शब्द-चित्र हमें न केवल वैष्णव संस्कारकी ओर नहीं ले जाते बल्कि उससे दूर खींचकर एक पश्चिमी संस्कारकी ओर ले जाते हैं। (उस पश्चिमी संस्कारके मूलमें भारतकी भी देन रही है यह अप्रासंगिक है।) मूल विपर्यय यह है कि वैष्णव-संस्कार भावनाके सागरमें डूबनेकी माँग करता है; और रोमानी संस्कार कल्पनाके आकाशमें उड़नेकी।

फिर भारतीकी भाषाका संस्कार एक मिश्र संस्कार है। मैं भाषाके क्षेत्रमें शुद्धिवादी नहीं हूँ; लेकिन यह मानता हूँ कि ऐसे स्थल होते हैं जहाँपर शब्द-धातुका विचार करना पड़ता है। यों तो हर शब्दका अपना संस्कार होता है, और सुकवि उस संस्कारका उपयोग अर्थ पुष्टिके लिए करता है। पर 'कनुप्रिया' जिस कथा-वस्तुको लेकर चली है, उसमें तो इसका विचार और भी प्रयोजनीय हो जाता है। भारती अपने काव्यमें साधारण बोल-चालके जिन उर्दू शब्दोंका प्रयोग करते हैं, वे उनके रोमानी गीतोंमें

तो न केवल खप जाते हैं बल्कि अतिरिक्त प्रभावशाली होते हैं; राधा-कृष्णके प्रसंगमें उनका प्रभाव विनाशकारी होता है क्योंकि जिस देश-काल-को कवि हमारे सामने मूर्त्त करना चाहता है उसका वे खण्डन करते हैं और 'अनन्याश्चिन्तयन्ती' राधाके साथ जो भावैक्य पाठकका होना चाहिए, एक झटकेसे उसकी सम्भावनाको मिटा देते हैं। तत्सम और देशजके जोड़ भी ऐसा ही प्रतिकूल प्रभाव रखते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

"शोख चंचल विचुम्बित पलकें, आम्र-बौर, महासागर मेरे ही निरावृत जिस्मका उतार-चढ़ाव है, निर्वसना जलपरी, शिथिल गुलाबतन, साबित मणिजड़ित दर्पण, तुम्हारी बावरी मित्र, तुम्हारी मुँहलगी ज़िद्दी नादान मित्र, वह मेरी तुर्शी है जिसे तुम मेरे व्यक्तित्वमें विशेष रूपसे प्यार करते हो।"

राधाका परियों या जादूकी बात करना मेरी दृष्टिमें उतना ही असंगत है जितना हमारा कृष्णके 'हरम'की बात करना—इन शब्दोंसे, और इनको अर्थ देनेवाली संस्कृतिसे हमारा परिचय उस कालके हज़ारों वर्ष बाद हुआ जिसमें कवि हमें ले जाना चाहता है। और राधाका अपनेको 'सखी' न कहकर 'मित्र' कहना तो हमें बीसवीं सदीमें ले आता है ('गर्ल फ्रैण्ड !')।

और भी शब्द-प्रयोग हैं, जिन्हें कमसे कम मैं स्वीकार नहीं कर पाता। जैसे सम्बोधन-रूप 'राधन्'। भारतीजी अगर कृष्ण-द्वारा राधाको 'रद्दू-बुद्धू' भी कहलाते तो मुझे वह उतना असंगत नहीं लगता, क्योंकि प्यारके नाम अर्थहीन तो हो ही सकते हैं। किन्तु ऐसा पुंवाची नाम क्यों? निःसन्देह प्रेमी ऐसा भी नाम रख सकते हैं, लेकिन किसी चीज़का सम्भव होना ही यथेष्ट नहीं, वह सम्भावना ऐसी भी होनी चाहिए कि उसपर विश्वास हो सके।

मैं राधाके मुखसे यह भी न कहला सकता कि "कनु मेरा लक्ष्य है, मेरा गन्तव्य।"

"तुम्हारे जादू-भरे ओठोंसे रजनीगन्धाके फूलोंकी तरह टप-टप शब्द झर रहे हैं।" रजनीगन्धाके फूल झरते नहीं, डालपर ही सूख जाते हैं। झरते भी—जैसे बकुल या शेफालीके झरते हैं—तो उस झरनेकी नीरवता ही लक्ष्य होती।

ऐसे उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं, किन्तु उसकी आवश्यकता नहीं है।

अन्तमें एक बार फिर कहूँ कि 'कनुप्रिया' में मुझे जो अच्छा लगता है, वह है परिकल्पनाका साहस; राधा-कृष्णके व्यापक प्रेमको नया सन्दर्भ देनेका, और इस प्रकार आधुनिक संकटको गहराईका एक नया आयाम दे देनेका प्रयत्न। इस साहस-कर्ममें उन्हें सम्पूर्ण सफलता नहीं मिली है, तो भी हमारी सहानुभूति उनके साथ है; तो भी 'कनुप्रिया' रोचक और पठनीय है।[1]

● ●

१. इस समीक्षाके सम्बन्धमें लेखक श्री वात्स्यायनजीका एक पत्र । सम्पादकको प्राप्त हुआ था। लेखककी इच्छानुसार उक्त पत्रको ज्योंका त्यों हम यहाँ दे रहे हैं : "......आपका पत्र मिला है। जैसे मैं निवेदन कर चुका हूँ, 'कनुप्रिया' वाली उस टिप्पणीको मैं समीक्षा नहीं मानता हूँ। भारतीजीके नाम एक निजी पत्रका वह अंश उन्होंने छपा दिया; यह मेरे लिए ही विस्मयकी बात थी—मैं उसे अब भी 'समीक्षा' के नामपर प्रकाशन-योग्य नहीं समझता क्योंकि उस 'ईक्षा' को 'सम' करनेके लिए और कुछ होना चाहिए। फिर भी आप उसे छापने (दुबारा छापने !) पर ही तुले बैठे हैं तो लीजिए यह पत्र विधिवत् अनुमतिका पत्र है ! उस टिप्पणी-को आप चाहें जितनी बार छपाइए; बल्कि साथमें इस पत्रको भी सनदके लिए छपाते चलिए तो और भी अच्छा !..."

आधुनिक संवेदनाके स्तर *

हिन्दी साहित्यके इधरके दशकोंमें आधुनिक भाव-बोधके स्तरोंमें भारी व्यतिक्रम और परिवर्तन परिलक्षित होता है। विशेषकर यह स्थिति काव्य-में अधिक है। इसका कारण है कि आधुनिक हिन्दी काव्य, विकासकी अनेक सरणियोंको सीमित अवधिमें पार करनेमें प्रयत्नशील रहा है। उसका यह प्रयास भाव-बोधके व्यवधानको दूर करनेमें जितना संलग्न रहा है उतना ही शैली, शिल्प और अभिव्यक्तिके क्षेत्रमें भी सक्रिय देखा जा सकता है। यद्यपि इस विकास-कालके संहति (कॉम्प्रेस) करनेकी प्रक्रिया पाश्चात्त्य काव्य-धाराओंकी संवेदनाओंके समवर्त्ती होनेके कारण अधिक सक्रिय है, पर मुख्यतः इसकी मूल प्रेरणा कविको अपने युगके सन्दर्भमें विकसित होते भाव-बोधसे मिली है। हमारा जन-जीवन भले ही संसार-व्यापी मानवीय मूल्योंके संकट, उनकी संक्रान्ति और नये मूल्योंके अन्वेषणकी छटपटाहटसे अपरिचित रहा हो, पर हमारा उद्‌बुद्ध साहित्य-कार इनके प्रति जागरूक ही नहीं है, संवेदनशील भी हुआ है। पाश्चात्त्य काव्यमें भाव-बोधके विकसित होनेमें और काव्य उपलब्धिके रूपमें उसके प्रतिष्ठित होनेमें अपेक्षाकृत समय लगा है, यद्यपि आधुनिक युगमें वहाँ भी वैज्ञानिक प्रगतिके साथ सामाजिक मूल्योंके संक्रमणकी जो स्थिति रही है, उससे काव्यानुभूतिमें क्षिप्र और तीखे अन्तर आते गये हैं। किन्तु हमारे साहित्यमें केवल ऐसा ही नहीं हुआ कि वह सारा क्रम कम अवधिमें

---

* काठकी घण्टियाँ : सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

प्रतिघटित हुआ हो, इसमें अनेक स्थितियाँ काव्य-बोधके एक ही स्तरपर सक्रिय हुई हैं।

ऐसा इसलिए भी हुआ कि हमारे युग-जीवनमें योरॅपके सम्पर्कके कारण विकासकी अनेक स्थितियाँ अनेक स्तरोंपर एक साथ आभासित हुई हैं। पर हमारे कविने अपने युग-जीवनकी शिथिल प्रक्रियासे कहीं व्यापक परिवेशसे अपनी काव्य-प्रेरणाएँ ग्रहण की हैं। इस कारण उसके काव्यमें यह भाव-बोधके संक्रमणकी स्थिति विषमरूपसे मिलती है। इसके परिणाम-स्वरूप एक ओर हिन्दी नये काव्यके भाव-बोधका स्तर सामान्य युग-जीवनके स्तरके आगेका है, जिसका सहभोग कविके समान अधिक प्रखर संवेदनवाले पाठक ही कर पाते हैं; और दूसरी ओर काव्य-प्रवृत्तिको निश्चित भाव-बोधके स्तरपर उपलब्ध होनेका पूरा अवसर नहीं मिल पा रहा है। नयी कवितामें जितनी शीघ्रतासे इन स्तरों और आयामोंका परिवर्तन देखा जा सकता है उतनी ही सरलतासे अपने लिए अपनी रूढ़ियाँ बनानेकी स्थिति भी देखी जा सकती है। यह उसकी प्रक्रियाका ही जैसे अंग हो गया हो।

कुछ विचारक हिन्दीके प्रयोगशील काव्य और जिसको अब नया काव्य कहने लगे हैं, इनमें अन्तर करना पसन्द नहीं करते। प्रयोगकी सम्भावनाओंकी दृष्टिसे इस काव्यमें प्रयोगशीलताकी स्थिति आज भी परिलक्षित है, क्योंकि जिस क्षिप्रतासे काव्यमें भाव-बोधके नये आयामोंको उद्घटित करनेका कवि प्रयत्न कर रहा है, उसीके अनुसार उसे शैली तथा शिल्पके अन्वेषणमें संलग्न रहना भी है। परन्तु एक अन्तर हिन्दीके ऐतिहासिक स्थिति-प्राप्त प्रयोगशील काव्य और आजके नये काव्यमें जरूर है। यह अन्तर किन्हीं विशिष्ट कवियोंसे कुछ कवियोंको अलग करके देखनेके लिए महत्त्वका नहीं है, क्योंकि वे विशिष्ट कवि इसका काव्यान्दोलनके साथ आज भी सम्पृक्त हैं। यह हिन्दी काव्यके मनोभावको समझनेके लिए ही अधिक सार्थक है।

छायावादी काव्यकी काल्पनिक आदर्शोन्मुखी गम्भीरता और गरिमा तथा छायवादोत्तर रोमैण्टिकों और प्रगतिवादियोंकी यथार्थोन्मुखी अगम्भीर तथा काल्पनिक भावावेशसे मुक्त होकर सहज और यथार्थ काव्यभूमिका अन्वेषण पहले प्रयोगशीलोंकी दिशा थी। उद्देश्यकी महिमामयी गम्भीरता, यथार्थोन्मुखी आदर्शकी स्थापना, तथा काल्पनिक यथार्थवादिता और शक्तिहीन भावावेशकी स्थितियोंसे काव्यको व्यक्ति और युगके जीवनपर प्रतिष्ठित करनेका आग्रह भी इस प्रयोगशीलताका प्रधान लक्षण था। इसी कारण प्रयोगशीलोंमें सभी मतों और विश्वासोंके कवि अन्वेषणकी दिशामें एक साथ चल सके थे।

परन्तु नयी कवितामें अन्वेषणकी दिशाके साथ नये क्षितिज आविर्भूत हुए हैं, यथार्थकी नयी दृष्टि विकसित हुई है, संक्रमणके बीच नये मूल्योंकी सम्भावनाका आभास मिला है। इतना ही नहीं, नया कवि भाव-बोधके इन नये स्तरों और आयामोंको उद्घाटित करनेके उपयुक्तभाषा, शैली तथा शिल्पका अन्वेषण करनेमें सफल भी हुआ है। इस स्थितिको इस प्रकार भी रखा जा सकता है कि जब आधुनिक काव्य, प्रयोगशीलताकी दिशामें इस सीमापर पहुँचता है तो उसे 'नयी कविता' कहा जाने लगा है।

सर्वेश्वरका काव्य-व्यक्तित्व 'नयी कविता' के इन तत्त्वोंको समझनेमें पूर्णतः समर्थ है। वस्तुतः सर्वेश्वरकी कविता प्रयोगशील काव्यके इस नये मोड़का प्रतीक है, उसने प्रयोगशीलताको वहाँसे ग्रहण किया है जहाँसे वह काव्यकी नयी भाव-भूमियोंमें प्रवेश करती है। यह ठीक है कि काव्यकी दृष्टिमें मूल्योंका अन्वेषण और उनकी उपलब्धि, दिशाओंकी खोज और क्षितिजोंका आविर्भाव, भूमियोंकी खोज और उनपर संचरण, समान महत्त्व रखते हैं। पर काव्य-परम्पराको समझनेके लिए यह अन्तर ध्यानमें रखना होगा। सर्वेश्वर तथा उन-जैसे कुछ कवियोंके काव्यके आधारपर इस अन्तर या मोड़को समझा जा सकता है और एक प्रकारसे नये काव्य-तत्त्वोंका विकास इन्हीं कवियोंमें प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

सर्वेश्वरने 'काठकी घण्टियाँ' में अपनी कविताओंके चयनके बारेमें मोहसे काम लिया है। कविके संघटित व्यक्तित्वकी दृष्टिसे शायद इससे कुछ हानि हो, पर उसके विकास-क्रमको समझनेके लिए दृष्टि भी मिलती है। सर्वेश्वरकी प्रारम्भिक काव्य-भूमि रोमैण्टिक भावावेशके भ्रम टूटनेसे शुरू होती है। छायावादोत्तर रोमैण्टिकोंने भावावेशका बड़ा बवण्डर बाँधा था जो वर्तमान युगकी कठोर यथार्थ भूमिसे टकराकर गैस निकल जानेके बाद पिचके गुब्बारेके समान लगता है। रोमैण्टिक भावावेगकी इस परिणतिमें कवियोंके मनका रोमैण्टिक मनोभाव विषाद, अवसाद, निराशा तथा खिन्नतासे मुक्त हो गया। हिन्दीके गीतकारोंने जिस प्रकार उस रोमैण्टिक भावावेगको एक छिछले स्तरपर ग्रहण किया था उसी प्रकार वे इस मनःस्थितिका ऊपरी स्पर्श मात्र कर सके। इससे अधिक उनसे आशा की भी नहीं जा सकती थी, इनकी रूढ़ियोंका विकास वे भले ही आज भी करते आ रहे हैं।

परन्तु रोमैण्टिक अवसादका यह मनोभाव आधुनिक युगके कवियोंमें वैयक्तिक जीवनकी यथार्थ विषमतासे उद्भूत है, युग-जीवनकी कठोरतासे व्यक्तिकी कोमल भावनाओंकी टकराहटका परिणाम है। सर्वेश्वरने रोमैण्टिक मनोभावोंकी निर्भ्रान्ति (डिस्-इल्यूज़नमेण्ट) की इसी स्थितिसे ग्रहण किया था। प्रारम्भमें यह भ्रम टूटनेकी स्थिति आधुनिक जीवनके यथार्थ सम्पृक्त दृष्टिका परिणाम थी जो वस्तुओं और स्थितियोंके प्रति काल्पनिक मोह तथा आकर्षणसे मुक्त करनेमें सहायक हो सकती है। परन्तु प्रयोगशील तथा नये कवियोंमें अधिकांशके मनमें यह निर्भ्रान्ति स्वतः अपने मोह तथा आकर्षणमें रोमैण्टिक मनोभावमें प्रतिघटित हो गयी है। इस क्षेत्रमें सर्वेश्वरकी स्थिति बहुत-कुछ ऐसी है और यह मनोभाव निरन्तर उसके काव्यमें लगा चला आ रहा है, जैसे कविको इससे मुक्ति नहीं। ऐसा लगता है जैसे कवि अपने इस भावसे मुक्त होना चाहता भी नहीं।

कहीं-कहीं इस रोमैण्टिक मनोभावके घने अवसादमें मृत्यु-जैसा ठण्डापन और निर्ममता है (ये तो परछाईं है, मैंने आवाज़ दी है...., यह साँझ, आदि)। कहीं यह अवसाद, मात्र अतृप्ति और निराशाकी व्यंजना करता है (यह भी क्या रात, सुहागिन का गोत, विवशता)। वस्तुतः 'बीसवीं शताब्दीके एक कविकी समाधिपर' नामक कवितामें ऐसे ही रोमैण्टिक कविकी असफल भावनाओंकी व्यंजना है—

"फिर उस युग के कवि !
दर्द दर्द जिनकी कविता,
गोधूली की थी महज़ गर्द
जिनकी कविता।"

प्यारकी पीड़ा और निराशाका स्वर भी मुखर हुआ है (एक प्यासी आत्माका गीत, फुलझरियाँ छूटीं)। और उसकी स्मृति तथा उसकी क्षणिकताकी कसक भी बार-बार कविको खिन्न करती है—

"प्यार का उन्मेष कितना प्रबल
पर कितना क्षणिक है। (शान्त ज्वालामुखी-सी तुम)"

इसी प्रकार 'एक नयी प्यास' 'चाँदनीसे कहो' तथा 'प्रेम नदीके तीरा' आदि कविताओंमें बीते प्यारकी मधुर कसक जैसे कविको निरन्तर आकर्षित किये हुए है।

सर्वेश्वरका प्रकृतिसम्बन्धी दृष्टिकोण भी रोमैण्टिक भावनासे अनुप्राणित है। जिन कविताओंका ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें प्रकृतिके वातावरणका सहारा लिया गया है। 'सन्ध्याका श्रम', 'भोर' तथा 'कल रात' जैसी कविताओंमें आरोपगत वैचित्र्य ही प्रधान है। पहली दोनों कविताओंमें आरोप भी परम्परागत नारीके रूपका है, तीसरी कवितामें भाव-बोध तथा प्रतीक योजना नवीन है।

यहाँतक सर्वेश्वरके काव्यकी वह भावभूमि है जिसका सम्बन्ध

पिछले युगसे है, पर यह उनकी कविताकी वास्तविक भूमि नहीं है। यह अलग बात है कि उनकी कवितामें इस बीते युगकी गूँज-अनुगूँज आती रहे। समसामयिकताका दायित्व तथा लोक-सम्पृक्तिका भाव सर्वेश्वरकी कवितामें जिस आधुनिक संवेदनके स्तरपर व्यक्त हुआ है वैसा आजके किसी कविमें नहीं मिलता। और इन दोनों प्रधान तत्त्वोंके अनुरूप सर्वेश्वरकी भाषा और शैली भी है। इस क्षेत्रमें वस्तु और शिल्पका इतना पूर्ण सामंजस्य कविकी प्रधान उपलब्धि है।

वस्तुतः समसामयिक होना-भर आधुनिकता नहीं है, और कुछ विचारक समसामयिकताको मात्र इतिहास मानकर काव्यानुभूतिके स्तरपर स्वीकार करनेमें हिचकिचाते हैं। इसका कारण है कि प्रगतिशील लेखकोंने सामाजिक यथार्थके नामपर समसामयिकताके संवेदनको विकृत किया है। परन्तु समसामयिक जीवन और उसकी समस्याओंकी ओर आकृष्ट होना, व्यक्तिगत संवेदन अथवा सामाजिक परिवेशके रूपमें, आधुनिक दृष्टि है। यह आधुनिक भाव-बोधका अंग तभी बन पाता है जब कवि उसको भावावेश अथवा अतिरिक्त दायित्वके रूपमें न ग्रहण कर अपने काव्यानुभवका अंग बनानेमें समर्थ हो। कविके व्यक्तित्वमें संवेदन और भाव-बोधका परिवर्तन और विकास अपने युग-जीवनके सन्दर्भमें होता है। यह अलग बात है कि बदले हुए या नये भाव-बोधको अपने काव्यानुभवके रूपमें सम्प्रेषित करनेमें कवि समसामयिकतासे बँधकर रह न जाये। पर उसके अनुभवकी सीमा विस्तारके लिए आवश्यक नहीं है कि युग-जीवनके सन्दर्भोंसे काव्यको अलग रखा जाये। केवल आवश्यक है कि इन सन्दर्भोंको गहन आत्मानुभवके स्तरपर ही ग्रहण किया जाये।

सर्वेश्वर समसामयिक होकर भी अपने युग-जीवनकी गहरी सम्पृक्तिको गहन अनुभवके स्तरपर ग्रहण करनेमें समर्थ हो सके हैं, नये काव्यमें उनकी यह बहुत बड़ी सफलता है। उनके अनुभवमें व्यक्ति और युग-जीवन इस प्रकार सम्पृक्त हैं कि चरम अनुभूति और संवेदनके क्षणोंमें भी

युग-जीवनके स्पन्दन सम्मिलित हो गये हैं। 'ताँबेके फूल' तथा 'नीला अजगर' जैसी कविकी व्यक्तिगत अनुभूतियोंको व्यक्त करनेवाली कविताओं-में यह भाव व्यंजित है। 'नये वर्ष पर' लिखी गयी कवितामें व्यक्तित्वके गहन-तम अनुभवोंको सामाजिक सन्दर्भके घने वातावरणके साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि व्यक्तिके संवेदनमें युगका व्यापक संवेदन समाहित हो गया है।

आजके युगमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्वके प्रति जागरूक है। यह व्यक्तित्वका बोध सर्वेश्वरमें भी मिलता है, पर कविने कभी अपने व्यक्तित्वको समाजके, युगके परिवेशको चुनौती देनेवाले दर्पपूर्ण अहंके रूपमें नहीं देखा है। अपनी सारी आत्मचेतनामें भी कवि अपने व्यक्तित्व-को समष्टिकी व्यापक चेतनाकी अभिव्यक्तिका माध्यम स्वीकार करता है। 'काठकी घण्टियाँ' में अपने व्यक्तित्वका इसी माध्यम बननेके लिए आवाहन है :

"जितनी भी ध्वनि शेष है
इन सूखी रगों में,
तजो
ओ काठ की घण्टियो,
तजो।"

'आत्मसाक्षात्कार'-जैसी कवितामें कवि अपने व्यक्तित्वका जो पुनः अन्वेषण करता है उसमें सामाजिक भावनासे संघटित और स्पन्दित व्यक्तित्व ही उभरता है।

युग-जीवनकी सम्पृक्तिके कारण सर्वेश्वरमें दायित्वका सक्रिय अनुभव मिलता है। यद्यपि उसने कभी इस दायित्वको अपनी सर्जन-प्रक्रियासे भिन्न नहीं माना। नयी कविताकी यह दृष्टि कविका प्रथम और अन्तिम दायित्व कवि-कर्ममें ही है, सर्वेश्वरमें दायित्वकी भावनाको इसी स्तरपर संघटित करती है। उसने अपने संवेदन और आत्माभिव्यक्तिके मूलमें

ऐसे ही मूल्योंका स्रोत माना है जो बाह्यारोपित न होकर व्यक्तित्वका सतत अन्वेषी अंश है और वस्तुतः युग-युगकी मानवताका प्रतीक है। यही है जो व्यक्त होकर कभी पूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाता और मानवका व्यक्तित्व उसकी अनुकृति मात्र है :

"सब कुछ कह लेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है,
तुम उसको मत वाणी देना।

× × ×

वह मेरी कृति है
पर मैं उसकी अनुकृति हूँ,
तुम उसको मत वाणी देना।"

कवि युग-यथार्थको ग्रहण करना अपना कवि-धर्म मानता है। रोमैण्टिकों-की भाँति 'मर्म सहला कर व्यथा सुला देना' या 'पिचके गुब्बारोंको गैस भर फुला देना' वह अपना कवि-कर्म स्वीकार नहीं करता (मैंने कब कहा) ! वह सत्यकी 'गहरी चोटका अनुभवी नया कवि' है। 'प्लेटफ़ॉर्म' के बिखरे हुए चित्रों और बिम्ब-विधानसे संवेदनकी जो सघनता उत्पन्न हुई है उसका संकेत और व्यंजना व्यक्तित्वके मूल्य-वाहक होनेकी ही है। वह सघनतम क्षणोंमें अपने व्यक्तित्वकी सार्थकता इसीमें मानता है कि :

"अनुभव करूँगा—
इन सबके साथ
कहीं मैं भी बँधा था,
कहीं मेरा भी योग था।"

इस प्लेटफ़ॉर्मके व्यापक अनुभवसे ही उसका व्यक्तिगत अनुभव पूर्ण हो सका है। अपनी अभिव्यक्तिकी आकांक्षाके चरम क्षणोंमें भी कविने अपने पंखोंकी माँग ऐसे सर्जनके लिए ही की है—

"ढाँक मैं जिससे सकूँ जलते हुए सम्पूर्ण वन को,
छाँह जिससे दे सकूँ, बेदम परिन्दों को, गगन को,
फिर न पलकें गिरा, आँसू छिपा, गरदन मोड़,
कहूँ 'इस तूफ़ान ने मेरे दिये पर तोड़'' ।

सर्वेश्वरने विसंगत बिम्ब-विधान या प्रतीक-योजनाका आश्रय मर्म-स्थलोंपर लिया है । पर 'कॉफ़ी हाउसमें एक मेलोड्रामा' में इसी स्तरपर वह आधुनिक मानव-मूल्योंकी व्यंजना करनेमें समर्थ हुआ है ।

सर्वेश्वरने नयी कविताके साथ जीवनकी दृष्टि जिन मूल्योंके आधार-पर संघटित करनेकी चेष्टा की है उसमें यथार्थका उल्लेख किया जा चुका है । यह यथार्थ वस्तुत: सारे जीवनका मौलिक भाव-बोध प्रस्तुत करता है । इस स्थितिमें पुराने मूल्योंका विपर्यय भी दिखाई देता है । 'सुबह हुई' में सुबह और शामके दो चित्रोंके माध्यमसे प्रगतिके दृष्टिकोणके अन्तरको व्यक्त किया गया है । सुबह गौरैयाके बच्चेका प्रयत्न है और शामको पीठपर चारा लादे ऊँट है । सुबह और शामकी प्रगतिके दृष्टिकोण-को कवि यों रखता है—

"आप इसे प्रगति कहें ?
मेरे लिए
स्वावलम्बी गौरैयेका बच्चा ऊँट हो गया"

इसके अतिरिक्त अस्तित्वकी सार्थकता (थरमस), सत्यका अन्वेषण (दो अगरकी बत्तियाँ), दर्दसे मँजकर सार्थक होना (आज पहली बार) तथा 'सहना ही जीवन स्वीकार करना' (तुम कहो) आदि ऐसे मूल्योंकी व्यंजना है जो अपने संवेदनमें आधुनिक हैं और सन्दर्भमें नये हैं ।

आजका युग संक्रान्तिका है, अत: इसमें अनेक विरोधाभास, असंगतियाँ और विकृतियाँ हैं । युग-जीवनसे सम्पृक्त नया कवि इनका संवेदन बहुत गहराईसे करता है । सर्वेश्वरमें न केवल समसामयिकताके भाव-बोधके गहनतम स्तर उद्घाटित हुए हैं वरन् उसमें इस युगकी समस्याओंके प्रति

साहसिक जागरूकता है। और क्योंकि इन समस्याओं, स्थितियों और प्रश्नोंको कविने कवि-कर्मके अन्तर्गत संवेदन तथा अनुभवके स्तरपर ही ग्रहण किया है, अतः इसमें निहित असंगतियों, विकृतियों तथा विरोधाभासोंका विसंगतिजन्य व्यंग्य ही प्रधानतः उभरा है। इसी स्तरपर वह समसामयिकताको व्यापक आधुनिक काव्यानुभव बनानेमें समर्थ हुआ है।

आजकी दुनियामें मूल्योंका विपर्यय हो गया है। वह 'विवशता नहीं कुतूहल खरीदती है', 'शोख चेहरोंके आँसुओंपर दया' करना पसन्द करती है और ऊपरी दिखावटी संवेदनापर विश्वास करने लगी है। आजकी दुनियामें 'विवशता, भूख और मृत्यु' आकर्षक बनाकर सजानेपर ही पहचानी जाती हैं। इस सारी स्थितिको अन्तमें कवि व्यंग्यके साथ अधिक संवेदित कर देता है :

"ओछी नहीं है दुनिया
मैं फिर कहता हूँ
महज़ उसका
सौन्दर्य-बोध बढ़ गया है।" (सौन्दर्य-बोध)

इसी प्रकार 'दो नेक सलाहें'में कवि आजकी प्रतियोगिताकी दिशापर व्यंग्य करता है। 'सरकण्डेकी गाड़ी', 'आटेकी चिड़िया', 'बेबी टैंक', 'कलाकार और सिपाही', 'पीस पैगोडा' तथा 'घास काटनेकी मशीन' जैसी कविताओंमें सर्वेश्वरने युद्ध, शान्ति, स्वातन्त्र्य, साम्यवाद-जैसी युगकी ज्वलन्त समस्याओंको ग्रहण किया है, मात्र समस्याओंके रूपमें नहीं। इसी कारण अपनी शक्ति-संवेग और संवेदनकी सघनतामें ये कविताएँ भाव-बोधके स्तरपर उसकी उत्कृष्ट रचनाओंमें हैं।

भाषा और शिल्पके क्षेत्रमें सर्वेश्वरकी उपलब्धि नयी कवितामें महत्त्वपूर्ण है। भाषा तथा शिल्प शैलीके बाह्य उपकरण हैं और शैलीका आन्तरिक सम्बन्ध भाव-बोधके स्तरसे होता है। इस कविकी लोकसम्पृक्तिसे उसकी भाषा और शिल्पका गहरा सम्बन्ध है। साधारण भाषाको, उसके

सामान्य प्रचलित शब्दों तथा प्रयोगोंको कविने काव्यानुभवके स्तरपर उठा दिया है। भाषाकी यह सरलता और बोधगम्यता जीवनकी साधारणसे साधारण और सहजसे सहज स्थितिको काव्य-वस्तुके रूपमें स्वीकार कर लेनेके कारण सम्भव हो सकी है। और इन स्थितियोंको काव्यानुभवके स्तर तक उठा देनेके कारण इस भाषामें व्यंजना तथा सम्प्रेषणकी नयी शक्ति आ गयी है। सर्वेश्वरके प्रतीक नये हैं, पर वे साधारण जीवनसे लिये गये हैं। उनमें चमत्कृत करके आकर्षित करनेके भावके स्थानपर परिचय तथा सहजताकी मार्मिक अनुभूति अधिक है। इस कविने विसंगति-के स्थानपर परिचित अनुभवोंकी मार्मिकताको अधिक ग्रहण किया है, इस कारण इसका बिम्ब-विधान परिचय तथा निकटताके आधारपर संघटित है। जीवनकी परिस्थितियोंकी सहजता और भाषा तथा शिल्पकी इस सरलताको नये काव्यकी विशिष्टताके रूपमें स्वीकार कर अन्य नये कवियों-में कुछ कवि आधुनिक भाव-बोधके नये आयाम उद्घाटित करनेमें समर्थ हुए हैं और कुछ में यह स्वयं एक रूढ़ि बन गयी है। वे इनको सर्वेश्वरके काव्यानुभवके स्तर तक उठानेमें असमर्थ रहे हैं।

• •

अशोक वाजपेयी

जीनेके कर्मकी परिभाषा*

आप कविताके पास—यदि अब भी आपके पास उसके लिए रुचि और समय है—क्यों जाते हैं ? और ख़ासकर उस कविताके पास जो किसी व्यक्तिके सुख-दुःख और संघर्ष—उसके अनुभवके नाटककी कविता है। उसके पास उसकी लिखी व्यथाएँ (और उनकी व्यापकता) हैं, उसके हर्षके अवसर हैं, उसका प्रेम है, उसके जीवनकी अपनी विशिष्ट दीप्ति और ऊष्मा है, उसकी वसन्तकी धूप और आदर्श मौसम है—पर यह सब तो आपके पास भी है, आपके अपने ढंगसे। आप फिर जब उस व्यक्तिकी कविता पढ़ते हैं (और हो सके तो पसन्द भी करते हैं) तो क्या सिर्फ़ इसलिए कि वह आपके अनुभवके ड्रामेकी भी कविता हो जाती है, सम्प्रेषणके समय और आप अपने जीवनको उस कविताके माध्यमसे—उसकी भाषागत गतिके माध्यमसे पहचानते और समझते हैं ? आंशिक रूपसे यह उत्तर सही है पर क्या पूरा उत्तर यह नहीं होगा कि आप (जो जीवन-व्यापारमें कविकी ही तरह संलग्न व्यक्ति हैं) ऐसी कविता-से अपने जीवनका मूल्य-सौन्दर्य देख पाते हैं, उसका सामाजिक उपयोग ही नहीं देखते, उसकी आन्तरिक शक्ति और सम्भावना भी अनुभव करते हैं। क्या ऐसी कविता आपके जीवनको एक ऐसी गतिके रूपमें प्रस्तुत नहीं करती जिससे या तो आप अनभिज्ञ थे या किसी अस्पष्ट रूपमें जिसे महसूस-भर कर पाते थे ? और इससे भी आगे ऐसी कविता क्या आपके

*सीढ़ियोंपर धूपमें : रघुवीर सहाय

क्षुद्र और अव्यवस्थित और यान्त्रिक लगते जीवन और तत्सम्बन्धी संघर्षको उसकी वास्तविक गरिमा, व्यवस्था और मानवीयतासे आलोकित नहीं कर देती ?

रघुवीर सहायकी कविताओंके पास जाते कुछ वैसा प्रश्न उठता है जैसा कि मैंने आरम्भमें उठाया है और कविताओंके कतिपय अनुभव-वृत्तोंमें-से गुज़र जानेके बाद बहुत-कुछ उस उत्तरके समीप होता है जो मैंने ऊपर सुझाया है ।

पहले कविताके सम्बन्धमें हम जो सोचते थे उसमें इस बातका कुछ-न-कुछ महत्त्व होता था कि कविता और जीवनका क्या अन्तर्सम्बन्ध है, कविता जीवनके जिस क्षेत्र या भागसे सम्बद्ध है या होनेका दावा करती है उसकी अभिव्यक्ति कवि कितनी ईमानदारी और कितनी दक्षतासे कर सका है । पर इस बातका कम महत्त्व होता था कि धारणाओं और विचारोंके अतिरिक्त उस महान् कार्यमें जिसे हम जीना कहते हैं, कवि कितनी गहराई, शक्ति और साहस और ईमानदारीके साथ लगा हुआ है । जीनेके कर्म और कवितामें कोई सीधा पर नाटकीय सम्बन्ध देखना अप्रासंगिक नहीं तो आवश्यक नहीं माना जाता था । अब हमारा आग्रह शायद धीरे-धीरे इसपर अधिक होता जाता है कि कविताको कविके अमित जीने (इम्मेन्स लिविङ्) का साक्ष्य होना चाहिए । यह एक बड़ी माँग है पर ऐसी दुनियामें जहाँ जीवन अधिकाधिक उथला, अर्थहीन और मूल्यच्युत होता जाता है और ऐसे समाजमें जहाँ फ़िल्मी गीतोंसे उसके अधिसंख्य लोग वे दोनों मनोरंजन सुविधापूर्वक पा लेते हैं, जो पहले कभी उन्हें कविता और संगीतसे मिलते थे, कविता यदि जीनेके कर्मको उसकी मानवीयता और गरिमामें शक्तिपूर्वक प्रस्तुत और परिभाषित नहीं करती तो उसका और कौन-सा कर्त्तव्य हो सकता है ? यदि संसारके विनाशके विरुद्ध रचनात्मक कर्म ही एकमात्र बचाव है (जैसा कि अमरीकी कवि-समीक्षक केनेथ रेक्सरॉथने कहा है) तो कविके लिए सबसे अधिक रचनात्मक क्या

यही नहीं हो सकता कि वह मानव-अस्तित्वके अन्त:सलिल हो रहे उत्सों-को फिरसे प्रकाशमें लाये; हम ऊबे और थके और उखड़े-हुओंको अपने जीनेकी क्रियाकी गहराई और विशदतापर कविताके माध्यमसे बल देकर हममें उस कर्मके लिए नया रस, नया महत्त्वबोध उत्पन्न करे ताकि हम जीवनमें अर्थ, उद्देश्य और मूल्यकी खोज और प्रतिष्ठा कर सकें।

ऐसे बहुत-से कवि नहीं हैं जो रघुवीर सहायकी तरह अपनी कविताओंमें प्राय: सर्वत्र ही किसी-न-किसी रूपमें ऐसा साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। 'सीढ़ियोंपर धूपमें' के कविता-खण्डकी रचनाओंसे प्रचुर उदाहरण दिये जा सकते हैं :

वह अनाहत जिजीविषा लिये अकुण्ठित मनसे संघर्षके लिए तैयारी हो—

> "शक्ति दो, बल दो हे पिता
> जब दु:ख के भार से मन थकने आय
> पैरों में क़ुली-की-सी लपकती चाल छटपटाय
> इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तर घर तक
> पहुँचा आयें
> कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा—
> शक्ति दो।"

या अपने 'एक और जीवन' और उसके अकेलेपनके गहरे बोधके बाद भी तादात्म्यकी यह भावना—

> "सारे संसार में फैल जाएगा एक दिन मेरा संसार
> सभी करेंगे—दो चार को छोड़—कभी न कभी प्यार
> मेरे सृजन, कर्म-कर्त्तव्य, मेरे आश्वासन, मेरी स्थापनाएँ
> और मेरे उपार्जन, दान-व्यय, मेरे उधार
> एक दिन मेरे जीवन को छा लेंगे—ये मेरे महत्त्व।
> डूब जायेगा तन्त्रीनाद कवित्त-रस में, राग में रंग में मेरा यह
> मनत्व।

जिससे मैं जीवित हूँ।
मुझ परितृप्त को तब आकर वरेगी मृत्यु—मैं प्रतिकृत हूँ।"
या तृष्णाके ज्वारका यह निर्भर आह्वान—
"तट पर रखकर शंख-सीपियाँ
चला गया हो ज्वार हमारा
तन पर मुद्रित छोड़ गया हो सुख के चिह्न विकार हमारा
जब सब कर, हम चुके हुए हों, सह सब, चुके हुए हों
जब हम कह सब, चुके हुए हों—
तब तुम, तब तुम ज्वार हमारी तृष्णा के फिर आना
इस जहाज़ को बन्दर में पहुँचा जाना फिर आकर।"
या प्रेमके ऐसे अद्वितीय आलोककण हों—
"वह छवि मुझ में पुनरुज्जीवित कभी नहीं होती है
वह मुझ में है। है। वह यह है
मैं भी यह हूँ
मेरे मुख पर अक्सर जो आभा होती है।"
और
"तुममें कहीं कुछ है
कि तुम्हें उगता सूरज, मेमने, गिलहरियाँ, कभी-कभी का
मौसम
जंगली फूल-पत्तियाँ-टहनियाँ—भली लगती हैं
आओ उस कुछ को हम दोनों प्यार करें
एक दूसरे के उसी विगलित मन को स्वीकार करें।"
या मनमें पानीके अनेक संस्मरण—
"कौंध। दूर घोर वन में मूसलाधार वृष्टि
दुपहर : घना लाल : ऊपर झुकी आम की डाल
बयार : खिड़की पर खड़े, आ गयी फुहार

रात : उजली रेती की पार; सहसा दिखी
शान्त नदी गहरी"

या वैभव और सुखके साधन चले जानेके बाद भी रचनात्मक सम्भावनाका यह प्रत्यय--

"दिन यदि चले गये वैभव के
तृष्णा के तो नहीं गये
साधन सुख के गये हमारे
रचना के तो नहीं गये"

या त्रुटिहीन, तालबद्ध, सधी हुई लयमें बँधी हुई दुनियामें लोगोंके बाहुल्यका वह उल्लेखनीय चित्र--

"लोग कुछ नहीं करते जो करना चाहिए तो लोग करते क्या हैं
यही तो सवाल है कि लोग करते क्या हैं अगर कुछ करते हैं
लोग सिर्फ़ लोग हैं, तमाम लोग, मार तमाम लोग
लोग ही लोग हैं चारों तरफ़ लोग, लोग, लोग...."

या तीव्र संवेदनशीलताका ऐसा सहज पर असाधारण क्षण—

"किसी ने दोस्त से अपने कहा, "कुछ चेंज कम पड़ गयी है;
क्या है!"
दुखी मैं भी खड़ा था, कहा "है, पर आप क्या मुझसे भला लेंगे?
न मेरा आप दुःख जानें
न मैं दुख आपका जानूँ।"

या जीवनके एक नये आरम्भका स्वच्छ और सीधा अनुभव—

"आज एक छोटी-सी बच्चो आयी, किलक मेरे कन्धे चढ़ी
आज मैंने आदि से अन्त तक एक पूरा गान किया
आज फिर जीवन शुरू हुआ।"

या रचनाकी एक अपूर्ण धड़कनका यह अंकन—

"जो पंक्ति आधी याद थी
उस पर घुमड़ कर खिल गयी एक नयी तितली,
धूप और फूल सहित सम्पूर्ण
और एक शब्द भूले हुए शब्द की जगह रच गया जो
कवि देखता तो कह नहीं पाता कि वह उसका नहीं है।"

या वासनाका यह उद्दाम पर सहज गीतकल्प आवेग—

"यह आतुर तन उस में धँसता जाये
थक जायें
थक जायें तेरे कुच मेरे सीने पर धक्-धक् करके
फड़क
फिर रह जायें गुम्फित जंघाएँ
हो जाये वह क्षण जीवन-मरण विशाल सखी"

या नयी कविताकी वे सुविख्यात उपलब्धियाँ 'धूप' और 'दे दिया जात हूँ' शीर्षक कविताएँ जिनमें सर्वत्र जीनेमें और जीवनमें गहरे डूबे व्यक्तिकी संसक्ति संयत काव्यरूपोंमें प्रतिफलित हुई है।

रघुवीर सहायके पास, संकलनके सम्पादक श्री वात्स्यायनके शब्द उधार लिये जायें, "सहज प्रवहमान भाषा" है। ऊपर उद्धृत सभी कविताएँ या कवितांश किसी-न-किसी रूपसे भाषाकी सम्पूर्ण और सफल क्रियाएँ हैं। किसी भी कवितासे सच्चा सम्पर्क तबतक स्थापित नहीं हो सकता जबतक कि पाठक उसतक "भाषाकी लयात्मक क्रियाके आनन्दके माध्यम"के द्वारा न पहुँचे। रघुवीर सहायकी भाषा जनभाषा-सी तो है पर वह उसका एक सांस्कृतिक परिष्कार भी है। यही परिष्कार करते हुए कवि जीनेके कर्मको, उसकी कष्ट-व्यथा, क्षुद्रता और महिमाको और उसकी मौलिक आभाको प्रशंसनीय कौशलके साथ परिभाषित करता चलता है। इसी क्रममें वह अपनी नाटकीय प्रतीक-व्यवस्था उपलब्ध करता है और उसकी भाषामें एक विशिष्ट तात्कालिकता, एक निजी

लय-विधान और गति आ जाती है। समकालीन कवितामें जो कुछ थोड़े-से तुरत पहचान लिये जानेवाले मुहावरे और लय-विधान हैं, उनमें निस्सन्देह रघुवीर सहायके भी लय-विधान और मुहावरे हैं। वस्तुतः वे उन थोड़े-से कवियोंमें-से हैं जिनका निजी और पूर्णतः प्रेषणीय मुहावरा विकसित हो चुका है। उपयुक्त भाषा, सहज किन्तु सुनियन्त्रित ताल और लय तथा तीव्र भावना-शक्तिसे भरे और धड़कते हुए जीवनकी एक रचनात्मक अन्तर्क्रियासे उत्पन्न उनकी कविताएँ सचमुच जीनेके कर्मकी एक समृद्ध परिभाषा हैं। वे दैनन्दिन जीवन-व्यापारका, कविके ही शब्दोंमें कहें, एक "शान्त कायाकल्प" हैं : शान्त क्योंकि वे चौंकाती या भड़काती नहीं हैं और कायाकल्प क्योंकि क्षुद्र लगते गुणों और भावनाओंको वे एक सच्ची गरिमामें रच देती हैं।

व्यक्तियोंमें "एक मानवीय सम्बन्ध है यानी एक सम्बन्ध है जिसको लेकर (वे) वहाँ एकत्र होते हैं, फिर उस सम्बन्धमें बाधा आती है, वह विकल होता है, बदलता है, अचानक दूसरा हो जाता है। यह सम्बन्धका बनना ही घटना है, यह घटना ही कहानी है।" इन शब्दोंमें रघुवीर सहायने 'जीता जागता व्यक्ति' शीर्षक कहानी-खण्डकी अन्तिम कहानी 'कहानीकी कला'में कहानीकी व्याख्या की है। यद्यपि यह दूसरोंकी कहानियोंके लिए भी सही और उपयोगी हो सकती है, सबसे अधिक सही वह उनकी अपनी कहानियोंके लिए है। संग्रहीत दसों कहानियोंमें उनके पात्रोंके बीच एक मानवीय सम्बन्ध है जो कहानीके दौरान किसी तरहसे बाधामें पड़ता, विकल होता है और अचानक दूसरा हो जाता है—कहानी समाप्त और पूर्ण हो जाती है। उदाहरणके लिए 'एक जीता-जागता व्यक्ति' शीर्षक कहानीमें एक व्यक्ति (जो कहानी कह रहा है) सड़कपर कोलतारके कीचड़में फँसी एक चिड़ियाको, जो छुटकारा पानेके लिए संघर्ष कर रही है, मुक्ति देने उस तक जाता है पर उसके सहायक होनेके

पहले ही चिड़िया अपनी कोशिशसे कीचड़से छूट जाती है। साधारण अर्थमें लें तो कुल इतनी-सी 'घटना' होती है पर गहरे देखें तो इससे बहुत अधिक कुछ घटता है और ऐसे नहीं जैसे ऊपरके सारांश-वाक्यमें कहा गया है बल्कि भाषाकी उसी उपयुक्तता और लय-तालकी तैयारीके साथ, उसी तीव्र संवेदनशीलता और सहज, जीवन्त किन्तु नाटकीय भंगिमाओंके साथ जैसा कि उनकी कविताओंमें होता है। दरअसल ये सभी कहानियाँ निर्विवाद रूपसे कविता हैं। इलियटने बताया है कि सभी अच्छी कविता अच्छा गद्य भी होती हैं। इसका प्रतिलोम भी उतना ही सच है। रघुवीर सहायकी कहानियाँ अच्छा गद्य हैं : रचना-सौष्ठवके कोणसे भाषा उपयुक्त प्रयोगके कोणसे, तीव्र मर्मदृष्टिके कोणसे, अनुभवकी परिपक्वताके कोणसे। वह उनके काव्यका ही विस्तार है और इसीलिए ही नहीं कि उनमें कविताओंकी-सी सहज आनन्ददायी उष्णता है, और लय-तालका वैसा ही त्रुटिहीन रचाव जैसा कि एक कहानीके इस बिलकुल अन्तिम अंशसे स्पष्ट होगा—"नहीं, मैंने कहा, कोशिश मत करो, ऐसी ही रहो जैसी तुम हो, सुन्दर और उज्ज्वल और बिना वह जानते हुए जो मेरे अन्दर हुआ है। तुम नहीं जानती हो कि मैं किस तरह टूटनेसे बच गया हूँ, पर तुम सुन्दर हो और यह क्या काफ़ी नहीं है, उतना ही जितना कि मेरा कृतज्ञ होना है। पूछो मत, न मैं बताऊँगा और न तुम्हें जाननेकी ही ज़रूरत है क्योंकि इस समय तुम ऐसे ही सुन्दर हो, अकेली और बिना जाने हुए और बिना जाननेकी कोशिश किये हुए कि मेरे अन्दर क्या हुआ है।"—बल्कि इसलिए भी कि उसके पीछे वही काव्य-अन्तर्दृष्टि है जो जीनेके कर्मको पहचानती-परिभाषित करती चलती है। वे कोई 'सामूहिक या कामचलाऊ स्तर' स्वीकार नहीं करते और उनकी कहानियोंमें अनुभवके अन्तरतम स्तरों तक पहुँचनेकी स्मरणीय चेष्टाएँ हैं। उनके सभी पात्र मानवीय हैं, 'निरपेक्ष मानवीय' हैं—और उसी स्तरपर वे सक्रिय होते हैं। प्रायः उनका सामाजिक, आर्थिक या

नैतिक परिवेश हमें नहीं बताया जाता, और यदि बताया भी जाये तो उससे कहानीके आनन्द या समझनेमें कोई सहायता नहीं मिलती क्योंकि ऐसी सूचना वहाँ अप्रासंगिक है। कोई स्वाभाविक घटना घटनेपर लेखक उसमें रत मानवोंके पारस्परिक सम्बन्धको तुरन्त देख सकनेका यत्न करता है और निस्सन्देह अपनी भाषा और उपयुक्त शिल्प तथा मानसिक तैयारी-से सफल भी होता है। वह 'जीवनकी सहज मानवीयता' को पहचानता है और कहानियाँ उसकी यह मार्मिक पहचान हम तक पहुँचाती हैं। वे एक तरहसे मानवीयता, निरपेक्ष मानवीयताके—जहाँ उसे सामाजिकता, नैतिकता आदिके वर्ग-विभाजनमें नहीं देखा जा रहा है—तात्कालिक अनुभवोंकी एक संक्षिप्त माइथॉलॅजी हैं—आधुनिकताकी धारणामें मानव-की समग्रता और सम्पूर्णताका जो आग्रह है उसे अपनी कहानियोंमें अपने ढंगसे रूप देनेवाले रघुवीर सहाय पहले कहानीकार हैं। उनके यहाँ कहानी सचमुच 'नयी कहानी' है।

पुस्तकके तीसरे खण्डमें 'लेखकके चारों ओर' शीर्षकसे कुछ लेख संकलित हैं। कवि-कर्म और लेखक-कर्मकी निजी व्याख्याएँ सबके लिए प्रामाणिक नहीं हो सकतीं। किन्तु रघुवीर सहायकी नोटबुकसे लिये गये अंशों और जब-तबकी टिप्पणियोंमें ऐसा बहुत कुछ है जो नये साहित्यकी रचना-प्रकिया और संघर्षको अधिक निकटता और सहानुभूतिसे समझनेके लिए आपको तैयार कर सकता है। इस खण्डमें, जो मुख्यतया आलो-चनात्मक या विचारात्मक गद्यका है, कहीं भी रूखापन या नीरसता नहीं है: वह यदि कठोर गद्य नहीं है तो लिजलिजा या भावुक भी नहीं है। सुव्यवस्थित और सुचिन्तित होते हुए भी उसमें एक लचीलापन एक तरहकी सुखद गरमाई है जो रचनाकारकी सच्ची पहचान है। लेखककी रचनाकी प्रक्रियाके प्रति जिस 'ऐंग्ज़ायटी' का उल्लेख पुस्तकके कृती सम्पादकने किया है वह सबसे अधिक स्पष्ट रूपसे "समय-समयपर टीप लिये गये अन्तरावलोकित वाक्योंमें बार-बार लक्षित" होती है।

पूरी पुस्तक व्यक्तित्वकी एक उल्लेखनीय समग्रता प्रस्तुत करती है। वह एक जीवन्त पुस्तक है जिसकी कहानियों, कविताओं और लेखोंसे गुज़रते हुए आपको नया जीवन-रस और स्वाद मिलता है, आप कुछ सुन्दर पाते हैं और चले आते हैं और दुःखी नहीं होते। बल्कि क्या आपमें एक नया उत्साह नहीं काम करने लगता, एक नया आह्लाद नहीं जान पड़ता?

● ●

नामवर सिंह

नये नामके अनवरत अन्वेषणमें*

केदारनाथ सिंहकी कविताओंका कलन 'अभी, बिल्कुल अभी' वहाँ खत्म होता है जहाँसे "न रास्ता कहीं मुड़ता है, न सड़कें कहीं जाती हैं।" और आलोचना वहींसे शुरू होती है, जहाँ कविता खत्म होती है।

कविता सड़क नहीं है। हो भी तो फ़िलहाल मुझे कहीं जानेकी जल्दी नहीं है। चौराहेपर तैनात भी नहीं हूँ कि रास्ता बतानेकी चिन्ता हो। लेकिन 'अभी, बिल्कुल अभी' की कविताएँ हैं कि रह-रहकर उस चौराहेपर ले जाती हैं जो "मनकी सारी राहें विवश छीन लेता है।" आगे 'प्रश्न-भरी मुद्राका कुहासा' दिखायी पड़ता है जिसमें 'बहुत-से अधूरे पथ' हैं; लक्ष्यहीन मोड़ हैं; आकाशमें उड़ती हुई 'दिशाहीन चिड़िया' है। इस पूर्व-परिचित चौराहेका इतिहास यह है कि यहींसे 'दिग्विजयका अश्व' भी गया है किसी अनजान पथकी ओर और 'झुटपुटेमें' फिर कहीं बिला गया। फिर भी केदारके साथ यहाँ हम उस 'अनागत'की प्रतीक्षा करते हैं 'जो न आता है, न जाता है।' लेकिन यहाँतक भी जो हम आ गये तो कौन ले आया? प्रश्न, संशय, दुविधा, अनिश्चय, अस्पष्टता आदिका मिला-जुला बोध जगाना भी कुछ होता है या नहीं? केदारकी कविताएँ यदि यह युग-बोध जगाती हैं तो यह भी एक उपलब्धि है। सार्थकताका एक सोपान यह भी है।

'लक्ष्यहीन मोड़', 'अनदेखी छापहीन राहें', 'अजन्मे पुल' वग़ैरह

---

* अभी, बिल्कुल अभी : केदारनाथ सिंह

देखकर प्रायः कविताओंको अस्पष्ट कह दिया जाता है। शायद केदारकी कविताएँ भी कहीं-कहीं अस्पष्ट कही गयी हैं। स्वयं कहनेवालोंके मनमें अस्पष्टताका अर्थ कितना स्पष्ट है, मुझे नहीं मालूम; किन्तु इतना तो स्पष्ट किया ही जा सकता है कि अस्पष्टताका बोध जगाना अस्पष्टता नहीं है। इसके बाद भी यदि अर्थ अस्पष्ट रह जाता है तो कविताके गद्यार्थियों (विद्यार्थियों नहीं) से निवेदन है कि चित्रोंके आनयनके लिए थोड़ा प्रयत्न करना पड़ता है—समझमें आनेसे पहले कविता श्रवणमें आती है और नयनमें भी!

कविताके लिए श्रवण हो तो शब्दोंका संगीत भी अर्थपूर्ण हो सकता है और नेत्र हों तो अस्पष्ट लगनेवाले चित्रकी सूक्ष्म रेखाएँ भी आकार धारण कर सकती हैं।

केदारके अस्पष्टता-बोधक चित्रोंमें ऐसी अनेक सूक्ष्म रेखाएँ हैं जो बोधको विशेष अर्थ प्रदान करती हैं। उनके लक्ष्यहीन मोड़ोंपर खिचे हुए रोलीके हलके इशारे हैं। 'दिशाहीन चिड़िया'के परमें 'आकांक्षाके जीवित रेशे' हैं। अनागत है तो 'हाथ उसके हाथमें आकर बिछल जाते' हैं। पुल अजन्मे हैं लेकिन हवाओंमें तैरते हैं। अर्थ यदि भविष्य है तो केदारके लिए वह कोई काल्पनिक स्वप्न नहीं बल्कि वर्तमानके बीच उद्भासित होनेवाली रेखा है। इस अनिश्चयमें भी उन्हें इतना निश्चय तो है ही कि वह आस-पास यहीं-कहीं है—यहाँतक कि 'हर नवागन्तुक उसीकी तरह लगता है।'

इस प्रकार केदारका युग-बोध अनिश्चयवादियोंसे भिन्न है। अनिश्चय-वादी संकटका नारा लगाते हैं, संक्रान्तिकी घोषणा करते हैं, मूल्योंके अनिश्चयका प्रचार करते हैं। उनकी अस्पष्टता दूसरे प्रकारकी है। वे अपनी दिमाग़ी उलझनको सारे ज़मानेके नामसे चालू करना चाहते हैं, उन कविताओंमें अस्पष्टताका पर्याय उलझन है: दिमाग़ी उलझन जो शिल्पकी सपाटताके बावजूद उलझन ही बनी रहती है। यह उलझन जो

'दर्द' पैदा करती है, पाठकमें सिर-दर्द और कविमें दिलका दर्द। क्रमशः यह दर्द शब्दोंकी हदके पार चला जाता है और रहस्यवाद बन जाता है। यह मौनकी अस्पष्टता है और, पाठक तो दरकिनार, स्वयं कविके लिए भी अबूझ है।

इस मौनसे केदारका मौन भिन्न है। वह सूर्योदय है जो किसीके लिए खाली गुलदस्ता है, तो किसीके लिए आघातहीन ताज़ा समाचार, लेकिन निस्सन्देह वह एक 'हलका-सा उत्तर है।' यह हलका-सा उत्तर इतना हलका है कि 'चुप'का भ्रम हो जाता है, लेकिन यह रहस्यवाद नहीं है। यह मौन अर्थपूर्ण होते हुए भी इतना सहज है कि बच्चे सुनते हैं, क्योंकि बच्चे इस ज़मानेके नये इन्सान हैं और इसलिए सचाईको सहज ही समझते हैं। बच्चोंको इस मौनमें भी शब्द सुनाई पड़ते हैं। इस प्रकार इस मौनमें भी 'हर शब्द किसी नये ग्रहलोकमें जन्मान्तर' है। कहाँ दर्दका रहस्यवादी मौन और कहाँ सूर्योदयके जन्मान्तरके शब्द !

अस्पष्ट यह हो सकता है लेकिन ज़माना ही कुछ ऐसा है कि दो टूक साफ़ बात ही पहेली बन जाती है। सीधी बातका सामना करनेके लिए नैतिक साहसकी ज़रूरत होती है। सचाई कभी इस तरह सामने आती है कि एकबारगी सिर चकरा जाता है। बादलोंसे सहसा निकलकर सूरज आँखोंको चौंधिया देता है। कवितामें एक अस्पष्टता वह भी होती है जिसे बच्चे भी समझ लेते हैं और गहन विद्वान् चकरा जाते हैं, जैसे कि अँगरेज़ीके कवि ब्लेक तथा हिन्दीके कवि कबीरकी कुछ कविताएँ !

केदारकी कविताएँ इतनी सहज नहीं हैं, क्योंकि वे नये कवि हैं; किन्तु नयी कविताके अर्थ-पथपर कुछ दूरतक चलनेवाले देख सकते हैं कि वे अपनी अस्पष्टतामें भी सबसे अलग हैं; वैसे इस विषयपर अभी और विचार करनेकी आवश्यकता है।

नये भावबोधके नामपर एक अरसेसे खास तरहकी 'दर्दकी अनुभूति' का हवाला दिया जा रहा है, लेकिन नयी पीढ़ीकी कविताओंके आलोकमें

दर्दकी वह अनुभूति भी पुरानी हो गयी—यही नहीं बल्कि उनका 'पराया-पन' भी क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है। नवीनताका निरूपण भविष्यके सन्दर्भमें ही हो सकता है। नयी पीढ़ीके कवियोंने भविष्यके सन्दर्भमें वर्तमानका जो चित्र उपस्थित किया है, वह नवीन भाव-बोधकी नयी परिभाषा है। हिन्दी कवितामें यह पीढ़ी केदारनाथ सिंहके साथ है और इसमें केदारका योग सर्वाधिक है।

अपनी पीड़ाकी अभिव्यक्त करना आसान है; अपने परिवेशमें अपनी पीड़ाको व्यक्त करना कठिन है; और भविष्यके सन्दर्भमें अपने परिवेशके साथ अपनी पीड़ाका चित्रण करना उससे भी कठिन है। दायरेके विस्तारके साथ कवि-कर्मकी जटिलता भी बढ़ती जाती है। इस आत्म-संघर्षमें नये-नये अनुभव होते हैं; नयी स्थितियोंसे साक्षात्कार होता है। अनुभूतियोंके दायरे बदलते हैं; दायरे बनते हैं, टूटते हैं और फिर नये बनाने पड़ते हैं। समझौते भी किये जाते हैं और तोड़े जाते हैं। ये सब नवीन भाव-बोधके ही विविध पहलू हैं। कविताकी सीमामें केदारनाथ सिंहने इस अनुभवके कई चित्र उपस्थित किये हैं।

एकाकी कवि कभी अपने 'कमरेके दानव' से लड़ता है तो कभी झरोखे-रोशनदान और द्वार खोलकर 'अन्धड़की प्रतीक्षा' करता है; कहीं 'जीनेका दैनिक शर्तोंपर हस्ताक्षर' करता है तो कभी क्रमशः सभी ओरसे लौटकर 'अन्तरतमके किसी कोणपर झुका हुआ' समुद्री दस्तक सुनता है। ये तमाम चित्र उस मनःस्थितिके सूचक हैं जो अपने दायरेको तोड़कर व्यापक वास्तविकताका सामना करनेकी आकुलता जगाती है। यह सही है कि चित्रोंका सौन्दर्य आँखोंको आगे बढ़नेसे रोक देता है और लोग मानने लगते हैं कि कविमें तीव्र अनुभूतिकी कमी है। लेकिन इन चित्रोंकी तहमें वह धड़कती हुई धमनी है, शिराएँ उपशिराएँ हैं जिनमें एक 'नीला पत्थर' छटपटा रहा है। इस दर्दके बाद भी कवि गाता है तो यह दर्दपर विजय है। पीड़ाकी 'अभिव्यक्ति' पीड़ापर विजय है। लेकिन कविता

पीड़ाको 'व्यक्त' करनेमें है, 'अभिव्यक्त' करनेमें नहीं। परिपक्वता और भावुकतामें यही अन्तर है। भावुक कवि पीड़ाको अभिव्यक्त करते हैं, प्रौढ़ कवि चित्रोंमें उसे व्यक्त करते हैं जो पाठकको अनुभूति-विकल कर देते हैं।

केदारकी कविताओंको मासिक 'कवि' में प्रस्तुत करते हुए मैंने लिखा था कि केदार मद्धिम संवेगोंके कवि हैं; लेकिन यह मेरा भ्रम था। वस्तुतः जैसा कि वैलरीने एक प्रसंगमें कहा है, "कविका कार्य काव्यात्मक स्थितियोंको स्वयं अनुभव करना नहीं बल्कि दूसरोंमें उन्हें उत्पन्न करना है।" केदारमें अनुभूतिकी जो कमी दिखायी पड़ती है वह इसलिए कि वे अपने विषयमें यही आभास देते हैं और यह आभास उत्पन्न करना उनके काव्य-संयमका सूचक है। स्वयंको अनुभूतिहीन दिखलाते हुए भी वे अभि-प्रेत अनुभूतिका प्रभाव उत्पन्न कर ले जाते हैं। इस प्रभावका साधन है चुना हुआ यथातथ्य बिम्ब या चित्र। केदार भावको अभिव्यक्त नहीं करते, बल्कि चित्रमें व्यक्त करते हैं, जो आचार्य शुक्लके शब्दोंमें 'विभावन व्यापार' है तथा इलियटकी प्रसिद्ध संज्ञा 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव।'

केदारको यदि अपनी बेचैनी प्रकट करनी है तो वह यह नहीं कहेंगे कि मैं बेचैन हूँ। वे एक बेचैन गति-चित्र प्रस्तुत करेंगे। जैसे—

> मुट्ठी में प्रश्न लिये
> दौड़ रहा हूँ वन-वन
> पर्वत-पर्वत
> लाचार !

घबराहट, बेचैनी और आकुलताके चित्रोंकी संख्या केदारमें सबसे अधिक है, जो उनकी मानसिक स्थितिको व्यक्त करनेके साथ ही सम्भवतः इस युगकी सामान्य 'बेचैनी'को भी चित्रित करती है। यह बेचैनी उनकी काव्य-लयके माध्यमसे व्यक्त होती है जिससे लयको एक विशिष्ट गति प्राप्त हो गयी है और जो कहीं भी पहचानी जा सकती है।

इस बेचैनीकी विशेषता यह है कि यह रचनात्मक है। पर्वत-पर्वत वन-वन दौड़नेवाले शिशुकी बेचैनी यह है कि "मैं अपना नन्हा गुलाब कहाँ रोप दूँ।" यहाँ भी केदारकी बेचैनी दर्दवादियोंकी निरर्थक बेचैनीसे भिन्न है।

रचनात्मक आकांक्षाकी विशेषता यह है कि दर्दके आत्मघाती प्रभावसे कविको बचाती है। इससे कविका सौन्दर्य-बोध कुण्ठित नहीं होने पाता और जीवन तथा प्रकृतिकी रूप-तरंगों तक उसकी दृष्टिका अबाध प्रसार सम्भव होता है। आकस्मिक नहीं जो केदारने नयी कविताको प्रकृतिके इतने अछूते सौन्दर्य-चित्र दिये। उनकी कवितामें 'पहले बौरकी गन्ध' है, 'फलोंपर चढ़ते सुनहरे रंग' हैं, 'चिड़ियोंके धूपगन्धी पंख' हैं, 'अभी-अभी धुले नये चावलका गन्ध भरा पानी' है, 'हल्दीके पानी-सी फैली जलहँसी' है, 'बनमुर्गोंकी पाँखें' हैं; और 'धूपका गुच्छा' जो उन्होंने फेंका है उसे तो बहुतोंने अपना आभूषण ही बना लिया है।

ये चित्र विकसित सौन्दर्य-बोधके सूचक हैं और इनकी सामर्थ्य उसी कविमें हो सकती है जो "खुली संवेदनासे दिशाओंको सूँघकर पहचान" सकता हो।

केदारके सौन्दर्य-चित्रोंमें एक ओर ताज़गी और टटकापन है तो दूसरी ओर सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध-सूचक पंख-जैसे हलके हाथोंकी कला है। शुरूमें रंगोंकी शोखी जरूर ज्यादा थी और शायद रंग भी कई आते थे लेकिन धीरे-धीरे रंग हलके होने लगे और रेखाओंमें बारीकी आ गयी। चित्र क्या है कि "ओस भरे कँपते गुलाबकी टहनीपर तितलीके पंखों-सी सटी हुई धूप"! केदार झकझोरते नहीं बल्कि "जमको हलके कँपाते हैं।" एक हलका कम्प, एक हलका स्पर्श—यही उनकी अभिरुचि है और शायद यही उनका 'मिजाज़'!

केदारकी यह सुरुचि शब्दोंके चयन और काव्य-संगीतमें भी प्रकट हुई है। सुघड़ शब्द-योजना और लोचयुत लय—शब्द-योजना-द्वारा निर्मित

लय तथा लय-द्वारा निर्धारित शब्द-योजना—उनकी विशिष्टता है। ऐसी शिल्प-सिद्धि नये कवियोंमें कमको ही प्राप्त हुई है। एक हदतक परम्परा-गत रूप-विधिका अनुशासन मानते हुए भी केदारने नये रूप-प्रयोगका प्रयत्न किया है। गीत और मुक्त छन्दमें समान सफलता केदार ही दिखला सकते हैं। लोक-बोलीके शब्द भी उनके रचे-पचे आते हैं। "दूरगन्धी तिथि" और "जल-हँसी" जैसे नवनिर्मित शब्द भी अटपटे नहीं लगते। अर्थ, सन्दर्भ, अस्तित्व, सम्भावना, ध्रुवान्त-जैसे गद्यक्षेत्रीय शब्दोंको भी अनुभूतियोंके सन्दर्भमें रखकर केदारने काव्यात्मक रूप दिया है। जैसे—

"इस छोटे जीवन के
अनगिनती
अनाघ्रात अर्थों तक
जाना है।"

अथवा

"सन्दर्भ से छूटे हुए
ये साथ मेरे तैरते से
घर, मुहल्ले, गाँव।"

केदार उन दो तीन कवियोंमें हैं जिन्होंने नयी कविताको चलने योग्य नये शब्द दिये हैं और जिन्हें सचमुच ही समकालीनोंने अपना लिया! और अपनी पीढ़ीको शब्द देना मामूली बात नहीं है।

'अभी, बिल्कुल अभी' की कुछ कविताओंसे पता चलता है कि केदार किसी नये मोड़की ओर उन्मुख हैं। परन्तु 'अभी बिल्कुल अभी' में इस परिवर्तनकी रचना-प्रक्रिया-सम्बन्धी मानसिक स्थिति ही व्यक्त हुई है। "रचनाकी आधीरात", "आत्मचित्र" आदि रचनाएँ सूचित करती हैं कि कवि 'आत्म-सजग' हो गया है और अपने भीतर रूप-ग्रहण करनेवाली रचनाकी एक-एक बारीकीका निरीक्षण कर रहा है। चाहें तो कह लें कि यह भी अनुभूतिका एक आयाम है—बल्कि नया आयाम। परन्तु आत्म-

सजगताके खतरे भी हैं; यदि आत्म-सजग कवि देर तक अन्तर्मुखी रह गया तो कविता नया मोड़ लेनेकी जगह अन्दर ही एक दायरेका चक्कर लगाती रह सकती है। 'अर्थ-परिवर्तनकी अबूझ प्रक्रिया'में जाकर कवि स्वयं अपने लिए तथा पाठकोंके लिए भी अबूझ बन सकता है! लेकिन मुझे पूरी आशा है कि केदारकी 'आत्म-सजगता' जल्द ही यह दायरा भी तोड़ देगी। क्योंकि उन्होंने 'अपनी छोटी बच्चीके लिए' ही नहीं बल्कि व्यंजना-से नयी कविता तथा नयी वास्तविकताके लिए भी 'इससे भी सीधे, और इससे भी प्यारे, और इससे भी अर्थ-भरे किसी नये नामके अनवरत अन्वेषणमें', सारी आयु चुक जानेकी प्रतिज्ञा की है!

● ●

गजानन माधव मुक्तिबोध

उर्वशी : दर्शन और काव्य*

भगवतशरणजी उपाध्यायने 'कल्पना'के अप्रैल १९६२ के अंकमें 'उर्वशी' की जो आलोचना प्रस्तुत की है वह बाहरसे भीतरकी ओर यात्रा है; और इस प्रकारकी यात्राके जो खतरे होते हैं वे भी उसमें हैं। सामाजिक प्रतिष्ठाके ज़ोरसे साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके जो आडम्बर-पूर्ण दृश्य हमें यत्र-तत्र दिखाई देते हैं, उनसे विचलित होकर वह आलोचना प्रस्तुत की गयी है। इसीलिए, भगवतशरणजीके लेखका अपना अतिरिक्त महत्त्व है।

लेख अत्यन्त रोचक, पाण्डित्य-पूर्ण और प्रखर है। उसकी मूल आत्मासे मेरी अनायास सहमति हो जाती है; किन्तु अपने विचारोंको या अभिमतको सिद्ध करनेके लिए जो उदाहरण या प्रमाण उन्होंने प्रस्तुत किये हैं वे सब जगह सही नहीं मालूम होते। वे अनुचित भी मालूम होते हैं। भगवतशरणजी बाहरसे भीतरकी यात्राके पूर्व या अनन्तर यदि सावधानीसे भीतरसे बाहरकी यात्रा भी कर लेते तो उनकी आलोचनामें कमज़ोरियाँ न आ पातीं।

उदाहरणके लिए, 'उर्वशी'के कथा-तत्त्व या कहिए ऐतिहासिक पक्षको हम लें। माना कि दिनकरने बहुत समारोहपूर्वक अपनी कृति 'उर्वशी'के चारों ओर एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोकवलय स्थापित करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु, इससे 'उर्वशी' ऐतिहासिक काव्य नहीं हो जाता।

---

* उर्वशी : दिनकर

दिनकरका प्रयत्न यह है कि वह एक पुरानी सांस्कृतिक परम्परासे अपनेको जोड़ें। किन्तु, वेदपुराण-कालिदास आदिके पास उस काम-रहस्य (मेरा मतलब रहस्यवादी दर्शनसे है) के सूत्र नहीं हैं जो 'उर्वशी'में पाये जाते हैं। निस्सन्देह प्राचीन संस्कृतिके सम्बन्धमें मेरा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। किन्तु जहाँतक मुझे मालूम है प्राचीन आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और कलात्मक जगत्में, परम तत्त्वके साक्षात्कारके लिए काम-मार्ग नहीं चुना गया, और यह सिद्धों और तान्त्रिकोंकी, और उनसे प्रभावित अन्य मार्गोंकी देन है। दिनकरने कालिदासकी कृतियों, पुराणों और वेदोंसे न केवल कथा-तत्त्व या ऐतिहासिक पक्ष लिया, वरन् एक काव्य-संस्कृति ग्रहण करनेका आभास उत्पन्न किया, और उस प्राचीन सौन्दर्यपूर्ण सांस्कृतिक उन्मेषके साथ-ही-साथ, मध्ययुगके सूर्योदय-कालमें उपस्थित सिद्धों-तान्त्रिकों-की काम-साधना ली और फिर इन दोनोंको एकभूत करनेका प्रयत्न कर दिया। सिद्ध और तान्त्रिक ऐश्वर्य नहीं चाहते थे। दिनकर ऐश्वर्यपूर्ण विलास चाहते हैं, जिसका सम्मोहक आलोक-मण्डल उन्हें प्राचीन काव्य-संस्कृतिमें दिखाई दिया। किन्तु, उन्हें प्राचीन कवि-मनीषियोंके पास साधनाका कोई काम-मार्ग नहीं मिला। सिद्धों और तान्त्रिकोंमें उन्हें वह दिखाई दिया। इसलिए, कविस्वभावानुसार उन्होंने दोनोंको मिलाकर 'उर्वशी'का रूप-स्वरूप तैयार किया।

ऐसा उन्हें क्यों करना पड़ा? कौन-सी वह मूल वृत्ति है जिसके फलस्वरूप उन्हें प्राचीन और मध्ययुगीन उत्सोंकी ओर जाना पड़ा? वह है दुर्दम, ऐश्वर्य-पूर्ण काम-विलासकी व्याकुल इच्छा, और उसकी तृप्तिके औचित्यकी स्थापनाकी आकांक्षा। चूँकि इस प्रकारकी इच्छापूर्तिके औचित्यका सर्वोच्च विधान आध्यात्मिक-रहस्यवाद ही हो सकता है, इसलिए उन्होंने सिद्धोंके 'महासुखवाद'का पल्ला पकड़ा।

पुरूरवा-उर्वशीके कथानकने लेखकी कल्पनाको झकझोर दिया। उस कथानकने एक बृहद् कल्पना-स्वप्न प्रदान किया, जिसमें दिनकरको मूल

इच्छा-वृत्तियोंका परितोष होता था। 'उर्वशी' एक बृहद् कल्पना-स्वप्न है, जिसके द्वारा और जिसके माध्यमसे, लेखक अपनी कामात्मक स्पृहाओं-का आदर्शीकरण करता है और उन्हें एक सर्वोच्च आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करता है। कथानककी ऐतिहासिकता केवल एक भ्रम है।

यहाँ यह आपत्ति की जायेगी कि पुरूरवा-उर्वशीकी कथा वस्तुतः एक चौखटा है, एक ढाँचा है। उसे कल्पना-स्वप्न कहना निराधार है। किन्तु मैं अपने पाठकोंका ध्यान इस तथ्यके प्रति आकर्षित करना चाहता हूँ कि कोई भी कथा—अपने कथा-रूपमें—लेखकको (अपने विशेष उपयोगके लिए) आकर्षक तब प्रतीत होती है जब वह एक कल्पना-स्वप्न बनकर उसके मनश्चक्षुओंके सामने तैर उठती है—एक ऐसा कल्पना-स्वप्न जिसमें उसकी (लेखककी) आत्म-वृत्तियोंको तृप्ति और सन्तोष प्राप्त होता हो। इस विशेष अर्थमें, मैं किसी भी कथाको—विशेषकर आत्मपरक काव्यके रचयिता-द्वारा अपने उपयोगके लिए चुनी गयी कथाको—एक बृहद् कल्पना-स्वप्न कह देता हूँ, भले ही 'कामायनी'की कथा हो या पुरूरवा-उर्वशीकी। हाँ यह सही है कि काव्यमें उसी कथाको उपस्थित करते हुए उसे स्व-बाह्य वस्तुपरक रूप और आभा प्रदान की जा सकती है, की जाती है; किन्तु मूल रूपमें वह केवल एक कल्पना-स्वप्न ही रहता है। जिसमें लेखककी आत्म-वृत्तियोंका परितोष और परिपोष तथा विश्व-बोध प्रकट होता है। और लेखक उस कल्पना-स्वप्न या कथाके द्वारा अपना अन्तर्जगत् और उस अन्तर्जगत्में संचित विश्वबोध प्रकट करता है।

'उर्वशी' की रचना इतिहास-शास्त्रीय दृष्टिकोणसे नहीं की गयी है। उसका उद्देश्य प्राचीन आनन्द-जीवनके वस्तुतथ्योंके भूगोल-इतिहासको दिक्-कालको, उपस्थित करना नहीं है। वह एक ऐसा काव्य है, जिसमें प्राचीन जीवनके मनोहर वातावरणकी कवि-प्रणीत कल्पनाको बृहद् रूप देनेका प्रयत्न किया गया है।

ऐसी स्थितिमें भगवतशरणजीकी यह आपत्ति कि उसमें 'अयस्कान्त'

और 'शरभ'-जैसे शब्द, जो उस समय प्रचलित नहीं थे, प्रयुक्त क्यों किये गये, हमें युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। इस आपत्तिका आधार केवल यही हो सकता है कि 'उर्वशी'का कवि 'संस्कृतिके चार अध्याय' नामक पुस्तकका लेखक होनेके कारण अपनेको इतिहासशास्त्री बनानेका आडम्बर भी तो करता है। 'उर्वशी'में स्वाभाविकताके स्थानपर, शब्द-जाल और आडम्बर होनेके कारण दिनकरके प्रति इस प्रकारके सन्देहकी पुष्टि होती है। सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रभावके परिचालन-द्वारा साहित्यिक प्रतिष्ठा और प्रभावके विकास और प्रसारके दृश्य हिन्दीमें ख़ूब ही हैं, रहे हैं। ऐसी स्थितिमें दम्भ और आडम्बरका उद्घाटन और निराकरण करना भी एक कार्य हो जाता है। मैंने सुना है 'उर्वशी' किसी विश्वविद्यालयके पाठ्य-क्रममें भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने जा रही है। अगर यह सच है तो उसे ऐतिहासिकताकी दृष्टिसे सुसंगत काव्य माननेवाले भी कम नहीं रहेंगे। इस सम्भावनाको ध्यानमें रखकर हम इसी नतीजेपर पहुँचते हैं कि 'उर्वशी'के तथाकथित ऐतिहासिक पक्षकी भगवतशरणजीने जो आलोचना की है वह महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त उपयोगी है।

'उर्वशी'का मूल दोष यह है कि वह एक कृत्रिम मनोविज्ञानपर आधारित काव्य है। कामात्मक इन्द्रिय-संवेदनाओंके जालमें खो जानेके क्षणोंमें उनका आध्यात्मिकीकरण नहीं किया जा सकता। न किसी दार्शनिक भावनाका, न ही धर्म-भावनाका बोध हमें उस समय होता है। हमारा समाज इस समय न मोहन्जोदड़ोके युगमें है न वज्रयानियोंके युगमें, जहाँ यौन अनुभवके क्षणोंको धार्मिक-मनोवैज्ञानिक रूप दिया जा सके। हाँ यह सही है कि एक फ़्रान्सीसी उपन्यासकार ज्यूल रोमेंके 'बॉडीज़ रैप्चर (अँगरेज़ीमें अनुवादित) नामक उपन्यासकी नायिका सम्भोगकी नग्नावस्थामें पुरुषकी नग्नावस्थाके प्रतीकको (भारतीय) शिवलिंग मानकर रति-विधान करती है। किन्तु एक क्षण-भरके लिए उसका वह रहस्यवाद जीवशास्त्रीय प्रगाढ़ सुखका साधन है, न कि साध्य, लक्ष्य या

आदर्श। क्षण-भरके लिए उसकी कल्पनाका वह खेल था।

किन्तु यहाँ बात उलटी है। लेखकने यह स्थापित करना चाहा है कि कुछ "प्रज्ञावान भोगियोंके लिए" ऐन्द्रिक सुखके चरम क्षणोंकी परिणति अतीन्द्रिय सत्ताकी उपलब्धिमें होती है। क्या उनका मतलब सिद्धों और तान्त्रिकोंसे है? इस समय वे कहाँ हैं? क्या इस प्रकारकी उपलब्धि पुरूरवा और उर्वशीको हुई थी? क्या सचमुच हुई थी? और यदि हुई थी तो उससे दिनकरजीने क्या ग्रहण किया? वे क्या स्थापित करना चाहते हैं?

और यदि ऐसी उपलब्धि सचमुच हुई होती तो भारतके विभिन्न मार्गों (धर्मों)में जितेन्द्रियत्वका इतना महत्त्व न होता। फिर, प्रश्न यह उठता है कि आखिर दिनकर इस 'लाइन'की पैरवी क्यों कर रहे हैं? क्या उनकी मन्शापर शक करना ग़लत है? कौन हैं वे प्रज्ञावान भोगी जिन्हें रति-सुखकी चरम परिणतिमें अतीन्द्रिय सत्तासे साक्षात्कार होता है? क्या वे इस समय भारतमें उपलब्ध हैं? और क्या उनके लिए काव्यका सृजन किया जाना चाहिए, किया जा सकता है। राष्ट्रकवि दिनकर जवाब दें।

रति-सुखकी समुत्तेजित कल्पना-द्वारा, पुरूरवा और उर्वशी, कामात्मक संवेदनाओंमें पुनः-पुनः खो जाते-से, उन संवेदना-जालोंमें बार-बार उलझते-से उद्दीप्त कल्पनाके आकाशकी रंगीनियोंमें उड़ते-से, (वे प्रतीकोंमें भी बात करते हैं) वागाडम्बर-द्वारा, शब्द-सुख-द्वारा, रति-सुखका पुनः-पुनः बोध करते-से, सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रति-ध्वनियोंका निनाद करते हैं, मानो पुरूरवा और उर्वशीके रतिकक्षमें भोपू लगे हों जो शहर और बाज़ारमें रति-कक्षके आडम्बरपूर्ण कामात्मक संलापका प्रसारण-विस्तारण कर रहे हों।

वैसे तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि रति-सुखकी विविध संवेदनाओंकी बारीकियाँ और गहराइयाँ नर और नारीके बीच चर्चाका

विषय हो सकती हैं। यही क्या, नर भी सम्भवत: उन्हें भूल जाता होगा। फिर भी, अगर यह मान भी लें कि रति-सुखके स्मरण-चित्र उसके मनमें उपस्थित होते हैं तो उसके साथ यह भी जोड़ना होगा कि उन स्मरण-चित्रोंमें उसे अतीन्द्रिय सत्ताकी प्रतीति नहीं हो सकती। वह उन स्मरण-क्षणोंमें रत रहते हुए इतना विरत नहीं हो सकता कि ऐन्द्रिक सुखके चरम क्षणोंके चित्र उपस्थित होते ही उसे अतीन्द्रिय सत्ताकी उपलब्धिका मार्ग दिखाई दे। संक्षेपमें, न वास्तविक कामोत्कर्षके क्षणोंमें न रति-सुखके स्मरण-चित्रोंमें डूबे होनेकी अवस्थामें, अतीन्द्रिय सत्ता—परमतत्त्वका बोध हो सकता है। यह कहना कि कुछ प्रज्ञावान भोगियोंके लिए ऐसा होता है या हो सकता है, कोई मतलब नहीं रखता, क्योंकि सामान्य मनुष्यके लिए आज जो स्थिति अप्राकृतिक है वह सम्भवत: केवल अस्वस्थ मनोदशावालेके लिए ही प्राकृतिक हो सकती है।

दूसरे, काम-सुखके उद्दीप्त स्मरण-चित्र इतने सतत-गति, इतने प्रदीर्घ, इतने विस्तृत नहीं रह सकते—उनका अयन-क्रम इतना नहीं रह सकता—कि उनसे उमड़े भाव-समुदायोंपर घण्टों बात की जा सके। किन्तु पुरूरवा और उर्वशी समुत्तेजित कल्पना-द्वारा रति-सुखके क्षणोंकी ऐन्द्रिक संवेदनाओंपर प्रदीर्घ वार्तालाप करते हैं, करते रहते हैं, मानो वाक्-सुख-द्वारा देह-सुख प्राप्त करते हुए अदेह होना चाह रहे हों। यह कैसी विचित्रता है।

लेखकका संवेदनात्मक उद्देश्य यह बताना है कि (कुछ प्रज्ञावान भोगियोंके लिए ही क्यों न सही) काम-संवेदनाओंका चरम उत्कर्ष अतीन्द्रिय सत्ताके बोधमें संक्रमित होता है। अतएव 'उर्वशी'की रचनाके दौरान उसे इन्द्रियसंवेदनाओंकी आतिशयिक सुखात्मकता और तीव्रताके स्तरपर, विधायक कल्पनाके स्वर्गीय जगत्में टिके रहना पड़ता है। किन्तु क्या इस तरह कामात्मक प्रसंगोंके मनश्चित्रोंकी दीर्घकालीनता सम्भव है? क्या वे चित्र बार-बार खो नहीं जाते?

और चूँकि वे बार-बार खो जाते हैं इसलिए लेखक कल्पना-शक्तिको बलात् समुत्तेजित करता है। किन्तु इस प्रकार बलात् उत्तेजित कल्पना अधिकाधिक वायवीय और आकाश-विहारी बनती है। कल्पनाका आकाश-विहारी होना लेखकके संवेदनात्मक उद्देश्यकी पूर्तिके लिए आवश्यक भी है, क्योंकि उसे काम-संवेदनाओंको दिव्य स्पर्श भी तो देना है। नतीजा यह होता है कि कल्पना कभी-कभी इतनी समुत्तेजित हो जाती है कि वह जड होकर मात्र अलंकरण बन जाती है। भावोच्छ्वास बार-बार समाप्त हो जाता है, अतएव पुनः-पुनः प्राप्त उस अभावकी पूर्तिके लिए सांस्कृतिक शब्दोंका आडम्बर और मनोरत्यात्मक प्रवचनका सहारा लिया जाता है।

सच तो यह है कि लेखकको, सिर्फ़ एक बातको छोड़कर, और कोई खास बात नहीं कहनी है। उसने पास कहनेके लिए ज्यादा कुछ है ही नहीं। और जो कहना है वह यही कि कामात्मक अनुभवोंके माध्यमसे आध्यात्मिक प्रतीति सिद्ध हो सकती है। किन्तु यह कहनेके लिए उसने व्यापक आयोजन किया है, वह उसे पूरे समारोहके साथ, अपना समय लेते हुए, कहना चाहता है।

किन्तु, काव्य-कृतिके रूपमें यह प्रस्तुत करनेके लिए, काम-संवेदनातिरेकोंके चित्रों-द्वारा, उनके माध्यमसे ही, वह यह कह सकता है। इसलिए उसे अतिरेकके स्तरपर खुद रहना पड़ता है। कोई भी सामान्य मनुष्य अतिरेकके स्तरपर अधिक काल तक रह नहीं सकता, पर लेखकने तो दीर्घ समारोहका आयोजन किया है और इसीलिए, उसे बलात् मनोरतिका श्रम करना पड़ता है। कल्पनाको बलात् समुत्तेजित करना पड़ता है। भावोंकी पुनरावृत्ति होती है, और प्रतीत होता है कि लेखक किसी मनोवैज्ञानिक काम-ग्रन्थिसे पीड़ित है। कामात्मक अनुभवों-द्वारा आध्यात्मिक अनुभवकी सिद्धिको प्रस्थापित करनेके लिए लेखकको जिस अतिरेकके स्तरपर रहना पड़ता है, वही अतिरेक अस्वाभाविक होनेके कारण,

(क्योंकि इस प्रकारका कोई भी मनोरत्यात्मक अतिरेक दीर्घकालीन स्थिति नहीं रख सकता) प्रयास-सिद्ध होनेके कारण, वह भाषाको भी आयास-सिद्ध और जड बना देता है । कवि दिनकरके प्रथम उत्कर्ष कालमें उसकी काव्य-भाषा ऐसी जड नहीं थी । उसमें स्वाभाविक रूमानी चपलता थी, स्वाभाविक गीतात्मक स्वर था ।

भगवतशरणजीने लेखककी इस मूलभूत मनोवैज्ञानिक कृत्रिमतापर ध्यान नहीं दिया है, यद्यपि उन्होंने कुछ स्थानोंपर उसके कुछ भावोंका उल्लेख अवश्य किया है । उन्होंने 'उर्वशी'की तथाकथित दार्शनिकताकी भी कठोर आलोचना की है; किन्तु वे इस बातपर प्रकाश नहीं डाल सके कि आखिर दिनकरको दर्शनकी आवश्यकता क्यों पड़ गयी । आतिशयिक कामात्मक अहं अपनी औचित्य-स्थापनाके लिए दर्शनका सहारा ले रहा है । इस प्रकार, वह दार्शनिक भाव-क्रम, वस्तुतः, औचित्य-स्थापनाका मनोविज्ञान है ।

सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात जो भगवतशरणजीने की, वह 'कामायनी'के सम्बन्धमें है । उन्होंने राह चलते 'कामायनी'की निन्दा कर डाली । उन्होंने कहा कि 'कामायनी'में काव्य-सौन्दर्य नहीं है, उसमें तो केवल दर्शन है और दर्शनके ग्रहणके लिए कोई भी 'कामायनी' की तरफ़ नहीं जायेगा । उनके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—"कामायनी काव्यकी दृष्टिसे घटिया कृति है, और जहाँतक दर्शनकी बात है, मुझे ऐंगेल्सकी बात दुहरानी पड़ेगी । वैसे, दर्शन पढ़नेके लिए 'कामायनी' की अपेक्षा दर्शनकी दिशामें सर्वथा शून्य व्यक्ति ही करेंगे ।"

इसके पूर्व, भगवतशरणजीने यह मान्यता प्रस्तुत की थी कि "मुझे लगता है कि काव्य यदि दर्शनके कारण विशिष्ट है तो निश्चय ही उसका काव्यत्व निकृष्ट है, वैसे ही यदि दार्शनिक कृति अपने काव्यगुणके कारण विशेष प्रशंसित है तो निश्चय ही उसका दर्शन निकृष्ट है । दर्शनकी ही तथाकथित विशिष्टता प्रसादकी 'कामायनी'का मानदण्ड बन गयी है ।

उसके दर्शनकी ही अधिक, काव्यकी कम, चर्चा हुआ करती है।" इसलिए, भगवतशरणजीके मतसे, " 'कामायनी' काव्यकी दृष्टिसे घटिया कृति है।"

उपर्युक्त सारी स्थापनाएँ असंगत, अनुचित, निराधार एवं दुर्भाग्यपूर्ण हैं। वे दर्शन और कला इन दोनोंको परस्पर पृथक् परस्पर-असंपृक्त श्रेणियोंमें बाँटकर चलती हैं, और इन दोनोंके बीच पारस्परिक प्रभावके तथ्यको दृष्टिसे ओझल करती हैं।

हाँ, यह सही है कि शास्त्रीय दर्शन, जो तर्कके सहारे, मूल सत्ताका व्याख्यान करता है, अन्य दार्शनिक धाराओंका खण्डन करता है, मनुष्यके परम लक्ष्यका बोध करता है तथा मूल्य-व्यवस्था प्रस्तुत करता है—वह शास्त्रीय दर्शन अपनी शास्त्रीय दृष्टिके कारण शास्त्रीय रूपमें काव्यमें प्रस्तुत नहीं हो सकता। काव्यमें किसी भी प्रकारकी शास्त्रीयता, शास्त्रीय रूपमें, चल नहीं सकती। किन्तु उस दर्शनके तात्त्विक निष्कर्ष तथा मूल स्थापनाएँ काव्यमें ग्रहण कर ली जाती हैं। मध्ययुगीन भारतीय साहित्य-का एक भाग इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इस सम्बन्धमें, मैं एक बात भगवतशरणजीके सामने रखना चाहता हूँ। वे इसपर सोचें।

'ज्ञानेश्वरी' मराठीका एक प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ है। वह असलमें गीता-की टीका है। और इसलिए उसमें (एक हद तक) शास्त्रीयता भी है। किन्तु वह न केवल दार्शनिकताके लिए वरन् रसमय काव्यात्मकताके लिए भी प्रसिद्ध है। यदि सम्भव हो सके तो मराठीके साहित्य-मर्मियोंसे वे इस विषयपर चर्चा करें, और इस विषयकी थाह लगायें।

किन्तु यह सही है कि ऊहापोहपूर्ण तर्क-प्रधान शास्त्रीयता काव्य नहीं बन सकती। (भगवतशरणजी शायद यही कहना चाहते हैं।) काव्यमें जो दर्शन प्रस्तुत होता है, वह इस प्रकार शास्त्रीय पद्धतिसे नहीं होता। दर्शनकी कुछ स्थापनाएँ कवि अपनी मूल भावधारामें अनायास ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार वह कविके आभ्यन्तर संवेदनात्मक ज्ञानका अंग बन जाता है। अथवा यह भी होता है कि जीवन-समस्याओंका काव्यात्मक

चित्रण करते हुए लेखक अनायास उन समस्याओंके निराकरणका मार्ग बताता है—यह निराकरणका मार्ग ही उसका दर्शन है। ('कामायनी' में ऐसा हुआ है।) यह भी सम्भव है कि अपनी किसी विशेष प्रवृत्तिकी औचित्य-स्थापनाके लिए, लेखक दर्शनका सहारा ले (जैसा कि 'उर्वशी'में हुआ है)। यह भी सम्भव है कि कोई दर्शन कविको विशाल विश्व-स्वप्न प्रदान करे, और वह विश्व-स्वप्न उसकी अनुभूतिका अंग बन जाये। इस प्रकारका दर्शन कविकी भावनाके नेत्र बन जाता है। दूसरे शब्दोंमें, दर्शन तरह-तरहसे, काव्यमें प्रकट होता है, एक काव्य-कृतिमें दर्शन एक विशेष बातकी पूर्तिके लिए, तो दूसरेमें केवल औचित्य-स्थापनाके लिए, तीसरेमें किसी भिन्न रूपसे।

किन्तु सबमें एक बात सामान्य है और वह यह कि दर्शन—जीवनके ही आयामके रूपमें, जीवनकी ही एक अनुभूतिके रूपमें, एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाके रूपमें प्रकट होता है। वह ऊहापोहपूर्ण खण्डन-मण्डन-प्रधान तर्क-संचालित शास्त्रीयताके रूपमें प्रकट नहीं होता। 'कामायनी' में भी वह शास्त्रीय ढंगसे प्रकट नहीं हुआ है। जीवन-समस्याओंके निराकरणके रूपमें ही उसे उपस्थित किया गया है। वह मनोवैज्ञानिक रूपसे, अनुभूति-के ढंगपर, सत्य-स्पर्शी भावनाके रूपमें, प्रकट किया गया है, बौद्धिक ऊहा-पोहके रूपमें नहीं।

हाँ, यह सही है कि दार्शनिक भावना भी एक विशेष प्रकारकी भावना होती है। और बहुतोंको उसमें नीरसता दिखाई देती है, यदि वह भावना संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओंका प्रकाश-रूप है, तो वह हृदय-स्पर्शी होगी ही, बशर्ते कि पाठक उसके ज्ञान-तत्त्वको वास्तविक ज्ञान मानकर चले। यदि ऐसा नहीं हुआ तो उस दार्शनिक भावनामें (उस पाठकके लिए) हृदय-स्पर्शी गुणका अभाव होगा।

हिन्दीके साहित्य-पण्डित भले ही 'कामायनी'की दार्शनिकताके कारण, उसे महत्त्व दें, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'कामायनी' उत्कृष्ट काव्य

न होकर 'निकृष्ट', 'घटिया' काव्य है। (भगवतशरणजीके उक्त कथनको मैं अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण समझता हूँ।)

'कामायनी' अपनी काव्यात्मकताके लिए, जीवन-समस्याओंके काव्यात्मक चित्रणके लिए, हमेशा प्रसिद्ध रहेगी। उसमें उत्कृष्ट काव्यात्मकता है। उसका दर्शन जीवन-समस्याओंपर अनवरत चिन्तनके फलस्वरूप है। अतएव वह जीवन-समस्याओंके निराकरणके रूपमें प्रस्तुत हुआ है। उस दर्शनमें, उस दर्शनके चित्रणमें, कोई दोष नहीं है। उसमें आडम्बर नहीं है। उसमें दार्शनिक दम्भ नहीं है। और बहुत-से स्थानोंपर, आधुनिक सभ्यताकी कुछ मूल विषमताओंपर, कठोर और प्रखर काव्यात्मक आक्रमण है। संक्षेपमें, प्रसादजीकी दार्शनिक अनुभूति उनकी भावनाके नेत्र हैं।

प्रसादजीकी 'कामायनी' का दोष यह नहीं है कि उसमें दार्शनिकता प्रधान है। दोष यह है कि जीवन-समस्याएँ जिस स्तर और क्षेत्रकी हैं उस स्तर और क्षेत्रका उसका दार्शनिक समाधान नहीं है (उसकी दूसरी कमज़ोरियोंपर प्रकाश डालनेका यहाँ स्थान नहीं है) किन्तु यह कहना कि 'कामायनी' में काव्यात्मकता नहीं है, तत्सम्बन्धी अपने घनघोर अज्ञानका ही प्रदर्शन करना है।

'उर्वशी' का दर्शन वस्तुतः कामात्मक संवेदनाओंकी आध्यात्मिक परिणतिके द्योतनके लिए उपस्थित एक दार्शनिक आडम्बर है। वह कामात्मक अहंकी गतिविधियोंके औचित्य-स्थापनका प्रयास है। भगवतशरणजी कहते हैं कि वह अप्रासंगिक है। वह अप्रासंगिक नहीं, पूर्णतः प्रासंगिक है। वह ऐश्वर्यवान् सम्पन्न श्रेणीकी अनर्गल काम-स्पृहाओंको आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करना चाहता है। यह आकस्मिक बात नहीं है कि पुरूरवाकी विवाहिता स्त्रीको केवल तपस्याका उपदेश दिया गया; किन्तु उसके प्रति दिनकरके हृदयमें विशेष करुणा नहीं है।

यदि हम उपर्युक्त सभी स्थापनाओंको एक साथ ध्यानमें रखें तो पायेंगे कि आखिर दिनकरकी भाषा विचित्र और बोझिल क्यों है। वे

कामात्मक मनोरति और संवेदनाओंमें डूबना-उतराना चाहते हैं; साथ ही इस गतिविधिको सांस्कृतिक-आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व प्रदान कर, उस श्रेष्ठत्वका प्रतिपादन—हाँ प्रतिपादन—करना चाहते हैं। अतएव उन्हें काव्यात्मक स्थितिके बाहर जाकर भी सोचना पड़ता है। इसीलिए भाषामें बोझिल गुण हैं, विचित्र-विचित्र प्रयोग हैं, शब्दोंको तोड़-मरोड़ है, ठूँस-ठाँस है। भाषाका अनायास प्रांजल, निर्मल, सरल, चपल प्रवाह देखनेको भी नहीं मिलता। भाषा भी समारोह-पूर्वक चलती है, बृहत् आयोजनके साथ; इसीलिए उसकी प्रदीर्घ पंक्तियोंमें सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियोंका निनाद है, और बहुत-से स्थानोंपर अर्थकी वायवीय शून्यताएँ हैं। कामात्मक ऐकान्तिक क्षणोंकी आत्मीयताका स्वर तो भाषामें है ही नहीं। वहाँ तो हर चीज़ प्रदर्शनीय है, भड़कीली है।

● ●

कुँवर नारायण

एक बृहत्तर माध्यमकी खोज*

विषयकी दृष्टिसे अज्ञेयका काव्य कुछ परिचित मानसिक अवस्थाओंको व्यक्त करनेवाले शब्दोंसे संकेतित होता है। उन अवस्थाओंकी पहली सफल अभिव्यक्ति 'हरी घास पर क्षण भर' में हुई—और उसी संग्रहमें कुछ ऐसे आधार-शब्द सामने आये जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे अज्ञेयकी मूल काव्य-प्रकृतिके द्योतक हैं, जिनकी अनुगूँज 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', और 'अरी ओ करुणा प्रभामय' से होती हुई 'आँगनके पार द्वार' तक विभिन्न—बहुत विभिन्न नहीं—मन:स्थितियोंसे प्रतिकृत होती चली आयी है। कविका भोक्ता, स्रष्टा, 'मैं' उन शब्दोंके मनन-द्वारा मानो कभी अपनेको विराट्के सन्दर्भमें खोजता है, कभी अपनेसे विराट्को सन्दर्भ देता है। 'आँगन के पार द्वार' की मुख्य काव्यावस्थाओंका आदि साँचा 'हरी घास पर क्षण भर' से निकाला जा सकता है—

"किन्तु जो भी हो, निजी तुम प्रश्न मेरे....
मेरा कर्म, मेरी दीप्ति, उद्‌भव-निधन, मेरी मुक्ति,
तुम मेरी पहेली हो !
क्यों करूँ आराधना उस देवता की
जो कि मुझको सिद्धि तो क्या दे सकेगा—
जो कि मैं ही स्वयं हूँ !
एक मौन ही है जो अब भी

---

* आँगन के पार द्वार : अज्ञेय

नयी कहानी कह सकता है;
मौन ही है गोद जिसमें
अनकही कुल व्यथा सोती है ।
केवल मैं ही चिर-संगी हूँ
क्यों कि अकेला हूँ उतना ही…

दे कर
देते-देते चुक जाने पर
वही प्रेरणा देती है—मैं दे सकने को
और नया कुछ रचूँ ! फिर रचूँ !
दुःख सबको माँजता है
और—
चाहे स्वयं सब को **मुक्ति** देना वह **न** जाने, किन्तु—
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको **मुक्त** रखें ।
समर्पण लय, कर्म है संगीत;
टेक करुणा—सजग मानव प्रीति ।
('हरी घास पर क्षण भर' से)

काले टाइपके शब्द, प्रतीक रूपसे, एक निश्चित भाव-कोणका बोध कराते हैं, और किसी गहरी संवेदनाकी छाप या पूर्वाभासकी तरह अज्ञेय-की कविताओंमें प्रकट होते रहे हैं । इसी ज़मीनके कई अन्य शब्द भी हैं जिनसे उनकी कविता निदेशित होती है । जैसे 'आलोक', 'अर्थ', 'शब्द', 'किरण' आदि, जिनमें अज्ञेयने जगह-जगह नया उन्मेष भरनेकी कोशिश की है । अज्ञेयसे कम कुशल शब्द-शिल्पीके हाथोंमें ये शब्द कबके निर्जीव हो चुके होते—(अब शायद उनके ही काव्यमें रूढ़ हो भी चले हैं) लेकिन इतने समय तक भी यदि वे इन, या ऐसे, शब्दोंको सतेज

रख सके तो इसका कारण वह भावोद्रेक है जो प्रकाशके घेरेकी तरह जिस वस्तुपर पड़ता है उसे चमका देता है।

'चक्रान्त शिला' में 'मौनके माध्यमसे विराट्से जुड़नेकी प्रक्रिया है' अवश्य, लेकिन इस प्रक्रियामें 'मौन' ऐसा कोई नया आयाम नहीं पाता जो पहले ही अज्ञेयके काव्यमें इससे अधिक ऋजुतासे व्यक्त न हो चुका हो। 'चक्रान्त शिला' में, लगता है, कवि केवल एक गझिन माध्यमसे एक अधिक विरल माध्यममें पहुँच रहा है। उसकी स्वाभाविक एकान्तपरायणता धीरे-धीरे उन प्रतीकों तकसे अलग होती जा रही है जो कविके अन्तर्जगत्को वस्तु-जगत्से जोड़ते हैं। "तुम पर्व हो अभ्रभेदी शिलाखण्डोंके गरिष्ट पुंज...."—जैसे अंशोंके आगे 'चक्रान्त शिला' का 'मौन' जिस फीकी अनुभूति तक पहुँच पाता है वह अकसर छायावादियोंकी याद दिलाता है :—

"नीचे यह महामौन की सरिता
दिग्विहीन बहती है।
मैं एक, शिविर का प्रहरी, भोर जगा
अपने को मौन नदी के खड़ा किनारे पाता हूँ :
मैं, मौन-मुखर, सब छन्दों में
उस एक अनिर्वच छन्द-मुक्त को
गाता हूँ।
वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ, मौन हूँ—
क्योंकि वही मुझे बतलाता है कि मैं कौन हूँ,
एक चिकना मौन
जिसमें मुखर-तपती वासनाएँ"

('चक्रान्त शिलाखण्ड' से)

इसी संग्रहकी अन्तिम कविता—'असाध्य वीणा'—अज्ञेयकी अबतक सबसे लम्बी कविता है, और वर्णनात्मक कविताकी दिशामें भी उनकी

पहली देन। कथावस्तुका जहाँतक सवाल है, अज्ञेयने उसे न्यूनतम रखा है—विषय किसी हद तक आध्यात्मिक क्षेत्रका ही है—जब कि सफल वर्णनात्मक काव्यके लिए शायद कथातत्त्वका ठोस आधार आवश्यक है। 'असाध्य वीणा' में 'प्रियंवद', 'राजा', 'रानी', 'वज्रकीर्ति', 'गण' आदि केवल नाम हैं। इन नामोंमें जितना कहानीपन है, कथानककी शायद उससे अधिक माँग होती है। साधक प्रियंवदका राज-दरबारमें आना, राजाका उनके सामने असाध्य वीणाका रखवाना, और प्रियंवदका उपयुक्त आत्मसन्धानके पश्चात् उसे वांछित राग दे सकनेमें सफल होना—आधार-कथा है, जिसमें कविके साधक-धर्मकी बुनावट है—

"पर उस स्पन्दित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा—
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।
सघन निविड में वह अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी-तरु को।

महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है।"

('असाध्य वीणा' से)

इस कविताकी लय सोलह मात्राओंपर आधारित है, जिसमें काफ़ी प्रबन्ध-रचना हुई है, लेकिन वर्णनमें शायद कथा-तत्त्वके अभावके कारण, थोड़ी एकरसता मालूम पड़ती है। इसमें सन्देह नहीं कि 'असाध्य वीणा' की धीमी, मननशील लय बहुत-कुछ इसी छन्दके कारण सम्भव हो सकी है, लेकिन वर्णनमें कथा जितनी भी है, ठीकसे नहीं उभर पाती। कथा-

तत्त्व और अधिक होता तो शायद यह एकरसता दब जाती, लेकिन जिस रूपमें 'असाध्य वीणा' है उससे यही लगता है कि भावों और स्थलोंके अपेक्षाकृत हलके-भारी निर्वाहके लिए लय अत्यधिक समतल है। सम्भव है इस लम्बाईकी कविताके लिए वर्णिक छन्द अधिक उपयुक्त रहता, अधिक उन्मुक्त लयमें, हो सकता है, इस ढंगका 'वर्णनात्मक चिन्तन' बेहतर निभता। कविताके गहरे आध्यात्मिक रंगमें कहानी, या वस्तुएँ, या लोग, ठीकसे घुलमिल नहीं पाते, अलग तैरते हुए लगते हैं।

'आँगनके पार द्वार' किसी भी ऐसे पाठकको अज्ञेयका काव्य-व्यक्तित्व नये सिरेसे आँकनेके लिए प्रोत्साहित कर सकता है जो उनके कृतित्वमें गम्भीर रुचि लेता रहा है। इस संग्रहमें कई ऐसे स्थल हैं जो 'हरी घास-पर क्षण भर' से भी पहलेके अज्ञेयकी याद दिलाते हैं; साथ ही 'चक्रान्त शिला' की काव्ययोजना तथा 'असाध्य वीणा' से ऐसा भी आभास होता है कि कवि—जिसकी काव्य-प्रतिभा अबतक केवल छोटी कविताओंके माध्यमसे ही व्यक्त हुई है—अब एक बृहत्तर माध्यमकी खोजमें है। आवश्यक नहीं कि वह सुनिश्चित प्रबन्ध रचना ही करे, लेकिन प्रबन्धकी दिशामें चिन्तन भी उसकी काव्य-चेतनाको एक नया मोड़ दे सकता है।

● ●

रणधीर सिनहा

नलिन विलोचन शर्माकी कविताएँ*

नलिन विलोचन शर्माकी कविताएँ 'नकेन' अथवा 'नकेन के प्रपद्य' में संगृहीत हैं। इस संग्रहके नामके आधारपर 'नकेनवाद' अथवा 'प्रपद्य-वाद' की चर्चा की जाती रही है और नलिनजीकी कविताओंको 'नकेन-वादी' अथवा 'प्रपद्यवादी' कहकर एक अलग प्रकारकी कविता-धारामें रख देनेका आग्रह दिखाया जाता रहा है। वस्तुतः हिन्दी कवितामें यह 'नकेनवाद' और 'प्रपद्यवाद' नामकी कोई चीज़ नहीं रही। ऐसी कोई कविता-धारा रही है तो वह प्रयोगवादकी ही। नलिनजी और उनके सहधर्मी कवि अपनी कविताओंको प्रयोगवादके संवाहक ही मानते रहे और हिन्दी कवितामें प्रयोगकी अवधारणाको उन्होंने पूरी तरह जमकर स्वीकार किया। वे कविताके लिए प्रयोगको आवश्यक ही नहीं मानते वरन् प्रयोगसे परे कविताके अस्तित्वको ही नहीं स्वीकार करते। ऐसी स्थितिमें हमें उनके लिए अन्य नामोंका एकत्रीकरण नहीं करना चाहिए। प्रयोगके परिप्रेक्ष्यमें रखकर ही उनकी कविताओंकी विवेचना सही रूपसे की जा सकती है। इसका कारण भी साफ़ है। आखिर कोई कवि जब अपनेको स्पष्टतः प्रयोगवादी कहता है और अपनी कवि-ताओंको प्रयोग-प्रधान बतलाता है तब हम उसके कवि-व्यक्तित्व और उसकी कविताओंको प्रयोगकी कसौटीपर रखकर ही क्यों न परखें? लेकिन 'नकेन के प्रपद्य' का मूल्यांकन उसके संग्रहके पूर्व कुछ इस ढंगकी

* 'नकेन के प्रपद्य' में संकलित नलिनजीकी कविताएँ

जल्दबाज़ी और हड़बड़ीमें किया गया था कि उससे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता था और एक प्रकारसे उसके प्रति कविताके आस्वादकोंके बीच कोई धारणा ही नहीं बन सकी थी! यहाँतक कि एक ही शिविरके दो विचारक परस्पर विरोधी मतोंका प्रतिपादन उसके विषयमें करते देखे गये। फिर जब प्रयोग-युगका एक दशक बीत गया और प्रयोगवादकी बात 'नयी कविता' की नयी चर्चामें दब गयी तब तो शायद इसकी आवश्यकता भी न समझी गयी कि सही अर्थमें प्रयोग-युग और प्रयोग-प्रधान कविताका विवेचन किया जाये।

यह साफ़ ज़ाहिर है कि नलिन विलोचन शर्माने कविताके लिए प्रयोगको अनिवार्य माना। प्रयोग उनके लिए साध्य था। इसी आधारपर उनके सहधर्मियोंने अपनेको प्रयोगवादी घोषित किया और 'तार सप्तक' के सम्पादक अज्ञेयको प्रयोगशील। कारण अज्ञेयने प्रयोगको साध्य न मानकर साधनके रूपमें स्वीकार किया था। एक अर्थमें 'नकेन' के प्रपद्यकारोंका तर्क समुचित भी लगता है कि जो काव्यके लिए प्रयोगको साध्यके रूपमें स्वीकारता है वह प्रयोगवादी है क्योंकि प्रयोगसे उसका सम्बन्ध कभी भी छूटनेका नहीं है तथा जो कविताके लिए प्रयोगको महज़ साधकके रूपमें स्वीकारता है वह प्रयोगशील है क्योंकि प्रयोगसे उसका नाता एक दिन टूट जानेको भी है, विशेषकर वैसी स्थितिमें जब उसे उपलब्धि हाथ लग जाती है। प्रयोग किनके लिए अनिवार्य था और किसके लिए आवश्यक, यह दोनों मतोंके सम्यक् अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है। इस मानेमें एक ग़लतफ़हमीके शिकार हिन्दी कविताके पाठक होते रहे हैं। जो प्रयोगशील था उसे प्रयोगवादी कहा गया और जो प्रयोगवादी था उसे नकेनवादी अर्थात् जिसके विषयमें कोई धारणा बनानेकी ज़रूरत तत्काल नहीं समझी गयी और पुस्तकके नामपर कविताकी परख होने लगी।

बहरहाल प्रयोग दोनोंके लिए मान्य रहा—अज्ञेयके लिए भी और नलिनजीके लिए भी। 'तार सप्तक' के माध्यमसे अज्ञेयके साथ और

छह कवि सामने आये तथा नलिनजीके साथ दो। दो-एक कवि और थे जो इन दोनोंसे अलग थे। कुल मिलाकर इन्हीं आठ-दस कवियोंकी साधनासे हिन्दी कवितामें प्रयोग-युगका समारम्भ हुआ है, ऐसा हमें मानना होगा। कड़ी बीचमें आकर इसलिए टूटने लगी कि प्रयोग-युगकी स्वीकृति-के लिए आन्दोलन खड़ा करनेका प्रयास किया जाने लगा। साधना और आन्दोलनके इस घालमेलके विषयमें यदि एक और बात कह दी जाये तो इससे स्थिति अधिक साफ़ झलक जायेगी।

प्रयोग-युग (सन् १९४२-'५२) के कालमें प्रयोगको साध्य अथवा साधनके रूपमें माननेके लिए जो भी वाद-विवाद होते रहे उनमें उतना गहरा मतभेद न था जितना मान लिया गया। दोनों मान्यताएँ एक-दूसरेको काटनेवाली न थीं और न परस्पर विरोधको क़ायम रखनेवाली थीं। दरअसल वे एक-दूसरेकी सहवर्तिनी थीं और एक-दूसरेकी सम्पूर्ति करनेवाली थीं। लेकिन वाद-विवादका घेरा इतना अधिक फैला दिया गया था कि दोनोंके परस्पर विरोधके प्रचारका वातावरण बनने लगा। यह वाद-विवाद पहले तो सिद्धान्तको सुडौल बनानेके लिए शुरू किये गये किन्तु बादमें चलकर उनके पीछे नेतृत्वकी भावना काम करने लगी। प्रयोग-युगका नेतृत्व कौन करे इसके लिए विचार-विमर्शका सारा वातावरण ही बदल दिया गया।

महज़ नेतृत्वके लिए होनेवाले विवादोंसे आगे चलकर जो उलझनें पैदा हो गयीं उनसे आज हम सब भलीभाँति परिचित हो रहे हैं। यह भूल अब तो उस आन्दोलनके कई सिपाही भी स्वीकारने लगे हैं। दर-असल नेतृत्वका विवाद कोई विवाद न था। प्रयोग-युगकी स्थापनामें अज्ञेयका प्रमुख 'रोल' रहा और उसके साथ ही नलिनजी आदि कुछेक कवियोंका भी। और इसी सम्यक् चिन्तनके आधारपर ही प्रयोग-युगकी सम्भावनाओंपर दृष्टिपात किया जाना यथोचित है।

हमें किसी भी कविकी देनको अकारण नहीं ठुकरा देना चाहिए।

यदि हम उसकी धारणाको न समझ पायें तो उसे समझनेकी कोशिश करें क्योंकि हिन्दी कवितामें आज केवल लेखककी समस्याएँ ही नहीं हैं, वरन् समान रूपसे उसके आलोचन और आस्वादनकी भी समस्याएँ हैं। हम जो जानते हैं अथवा सोचते हैं वही एकमात्र सत्य नहीं है। सत्य अपने निजत्वके चिन्तन और अनुभूति तथा अन्यके विचारोंके मननके बीचसे ही उत्पन्न होता है। विभिन्न मतोंके आदान-प्रदानसे जिस विवेककी उत्पत्ति होती है, वास्तविक रूपसे ही सत्य है। यदि प्रयोग-युगके सत्यको भी हम पहले ही विवेकपूर्ण रीतिसे आँकनेकी चेष्टा करते तो आज हिन्दी कवितामें इतनी उलझनें न होतीं जो व्यर्थकी हैं। कम-से-कम अनावश्यक और बेबातकी समस्याएँ न पैदा होतीं और जो समस्याएँ होतीं वे साफ़-सुथरी होतीं। हमने अपनी ग़लतीसे जैसे जानबूझकर बहुत-से पचड़े खड़े कर दिये हैं।

प्रयोगको साध्यके रूपमें स्वीकार करनेवाले कवियोंने प्रत्येक कविताके लिए पृथक् स्थापत्यकी आवश्यकतापर ज़ोर दिया। एक ही स्थापत्यपर, चाहे वह बिलकुल ही नया क्यों न हो, अनेक कविताएँ न लिखी जायें तथा हर कविताका अपना खास स्थापत्य हो, इस प्रकारकी धारणा रखनेसे 'नकेन'-के कवियोंकी प्रत्येक कविता एक-दूसरेसे कुछ अलग दिखलाई पड़ती है। यह धारणा कवितामें आवृत्तिमूलक मनोवृत्तियोंको प्रश्रय नहीं देती और प्रयोग-का क्रम इससे टूटने भी नहीं पाता। 'नकेन'के कवियोंके सामने छायावाद और प्रगतिवादकी पतनोन्मुखी काव्यधाराका प्रवाह था और इनसे बँधकर जिस प्रकार पिष्टपेषणकी भावनासे काव्य-जगत् तन्द्रामग्न हो रहा था उस तन्द्राको तोड़ना उसका एक प्रमुख कार्य था। ऐसी बेहोशीके प्रति सजग और जागरूक इन कवियोंने झकझोरनेकी रीतिका पालन किया, छायावाद-की वैयक्तिकताके ख़िलाफ़ ठोस तथा पैनी वैयक्तिकताका और प्रगतिवाद-की सामाजिक धर्मान्धताके ख़िलाफ़ एकान्तिक अर्थबोधका प्रयोग इन्होंने झकझोरनेके लिए ही किया। इस दिशामें नलिन विलोचन शर्माकी निम्न-

लिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं ।

"जो पीछे रह गये, गये जो इधर-उधर
रहते होंगे, रहें ।
क्या सैकड़ों कोस दूर
जो प्रिय-जन स्वप्न-प्राप्य
वे कल सुबह मिलेंगे ?...
कलकत्—ताप्—अंजा—बमेल ।"

('दूरी अजन्ता' से)

अन्तिम पंक्ति 'कलकत्ता पंजाब मेल' को इस ढंगसे कहनेका अर्थ महज़ युगकी बेहोशीको तोड़ना था । बहनेवालेका काव्यास्वादक चौंकें और उनमें कुछ सोचनेके लिए जीवनका संचार हो । एकान्तिक अर्थबोध तथा पैनी वैयक्तिकताका यहाँ सबल उदाहरण प्रस्तुत है । वैसे भले ही बेहोशीसे उठनेवाले रसिकोंको इससे दर्द और किंचित् रूखेपनका अनुभव हुआ हो मगर इससे उनकी चेतना मरी नहीं, जगी ही, जगती ही चली गयी । कहना न होगा कि आजकी आधुनिकतासे ही इस पद्धतिकी उत्पत्ति हुई है । आधुनिकताके प्राय: सभी आसंगोंका उपयोग 'नकेन' के कवियोंने किया है । बिम्ब, चित्र, शिल्प, कथ्य, शैली आदि सभीको उन्होंने आधुनिकताके सन्दर्भमें ही चुना ।

आधुनिकताके सन्दर्भमें चुने गये चित्रका उदाहरण नलिनजीकी ये पंक्तियाँ हैं—

"सड़क का यकृत खराब था
उसे सुखण्डी हो गयी थी :
ठूँठ !"

('चित्राधान' से)

राजपथके कोलाहलहीन वातावरण और सन्नाटेका चित्र आधुनिकतासे कितना प्रभावित है, यह चित्रकी मार्मिकतासे व्यंजित है । इस चित्रके

माध्यमसे जिस प्रकारकी क्लान्तकी उदासीनता और एक दर्दनाक अवस्थाका रूप सामने उभरकर आता है, वह नये ढंगसे सोचनेके लिए आस्वादकको बाध्य कर देता है। इसी प्रकार एक दूसरी कविताकी आरम्भिक पंक्तियाँ नये बिम्बको प्रस्तुत करती हैं :

"प्रत्यूष की नीली,
धब्बों भरी शान्ति,
क्षितिज की गंजी चाँद।"

('प्रत्यूष' से)

क्षितिजके सूनेपनमें गंजी चाँदके बिम्बका उभरना नये चिन्तन और नयी अनुभूतिके कारण ही सम्भव है। विशेषकर उस कालमें जबकि एक छायावादी क्षितिजको 'रंग-बिरंगे-चित्र' के रूपमें और एक प्रगतिवादी उसे 'लाल आग' के रूपमें देखता है। तुलनात्मक दृष्टि डालनेपर इनका अन्तर अधिक स्पष्ट हो जाता है।

नयी अनुभूति, नयी संवेदना और नये सौन्दर्य-बोधको नये शिल्पके माध्यमसे अभिव्यक्त करनेका प्रयास नलिनजीने जिस प्रकार किया है, वह प्रयोग-युगकी विशिष्टताको उभारकर आस्वादकके सामने रखता है। उदाहरणके लिए उनकी एक पूरी कवितापर दृष्टिपात कर लेना समुचित होगा—

"बालू के ढूह हैं जैसे बिल्लियाँ सोयी हुईं,
उनके पंजों से लहरें दौड़ भागतीं।
सूरज की खेती चर रहे मेघ-मेंमने
विश्रब्ध, अचकित।
मैं महाशून्य में चल रहा—
पीली बालू पर जंगम बिन्दु एक—
तट-रहित सागर एवं अम्बर और धरती के
काल-प्रत्न त्रयी मध्य से होकर।

मेरी गति के अवशेष एकमात्र
लक्षित ये होते :
सिगरेट का धुआँ वायु पर;
पैरों के अंक बालू पर
टंकित, जिन्हें ज्वार भर देगा आकर ।"

('सागर-सन्ध्या')

इस कवितामें अनुभूति, संवेदना और शिल्पका नयापन अपनी गहराईके साथ उभरा है। जीवनका एक साधारण क्षण भी अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है—आजका नया कवि इसे खुलकर घोषित करता है और नलिनजीके कविके लिए भी सागरके किनारे टहलकर खत्म कर दी जाने-वाली साँझ अपने-आपमें इतनी महत्त्वपूर्ण है कि वह कविता ही बन जाती है। नये बिम्ब और उपमानोंके माध्यम-से उसका कवि नयी अनुभूतियोंको बड़ी तीव्रताके साथ जागृत कर देता है। "हवामें उड़ता हुआ सिगरेटका धुआँ" और "बालूपर अंकित होनेवाली पैरोंकी छाया" कविकी वैसी अक-थित व्यथाके निशान हैं जो मिटकर भी नहीं मिटते। इतनी-सी अनकही बातपर कौन ध्यान देता है? "बालूके ढूहों" पर "सूरज" और "मेघ" के कार्यकलापोंपर कभी छायावादके कवियोंका ध्यान भी गया था लेकिन उनकी दृष्टिका सन्दर्भ दूसरा था। यहाँ छायावादी और प्रगतिवादी कवियोंसे तुलना करनेपर नयेपनके आकारका सहज ही बोध हो जाता है। सिगरेटके कश खींचते हुए टहल लेना यथार्थ है, नया यथार्थ ही कह लीजिए। यह यथार्थ छायावाद और प्रगतिवादके दो यथार्थोंसे निश्चय ही भिन्न है। कविताकी पूरी परिधि ही अपने पूर्वकी कवितासे दूर जा पड़ी है। इसीलिए कुछेक छायावादके प्रशंसकोंने ऐसी कविताको कविता माननेसे इनकार किया था। लेकिन आजका आस्वादक ऐसा नहीं सोचता। यह उस कालका प्रतिनिधित्व करती है जब कवितामें एक नया युग करवटें ले रहा था— सोचना इस ओर है।

इस बातचीतके दौरान 'नकेन' के कवियोंकी जो एक अन्य विशिष्टता है भाषाके प्रयोगकी, उसके सम्बन्धमें भी कुछ कहना आवश्यक हो जाता है। भाषाके प्रयोगके मामलेमें वे बहुत सजग रहे हैं और विशिष्ट भी। प्रयोगको अभारतीय न कह दिया जाये इसकी ओर सतर्कता रखनेका ध्यान उन कवियोंका रहा है और वास्तवमें उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसके स्वरूप-निर्माणमें, उसके स्थापत्यमें, अभिव्यक्तिमें, शैलीमें, भारतीयतासे दूर जानेकी अभिलाषा दृष्टिगोचर नहीं हुई। इस वजहसे उनकी भाषामें भारतीयताके रंग भरपूर ढंगसे मिलते हैं। सीधी-सादी बातचीतकी भाषाके शब्द 'सड़क', दुनिया', 'रिक्शा', 'बिजलीके खम्भे', 'टेबल', 'कोयला', आदि नलिनजीकी कविताओंमें मिलते हैं। नलिनजीने उर्दूके शब्दोंका भी खूब धड़ल्लेसे प्रयोग किया है। 'मेज़बान', 'हाज़िर', 'किलबिल', 'क़लम', 'इतमीनान', 'चश्मा', 'नाप-जोख-वज़न', 'बुज़ुर्ग', आदि शब्द उनके प्रिय हैं। उनकी भाषामें किसी प्रकारकी संजीदगी नहीं दीख पड़ती है। अँगरेज़ीके शब्द यथा 'ट्रेन', 'इण्टरका डब्बा', 'लाउड स्पीकर', 'ईज़ेल और बुरूश', 'कैनवस', 'लैण्डस्केप', 'सेक्रेटेरियट', आदि भी उनकी कविताओंमें प्रयुक्त हुए हैं। और प्रकारकी भाषा आजकी कविताकी भाषा है। ऐसी भाषाकी उत्पत्ति प्रयोग-युगसे ही हुई है जिसने भाषाके क्षेत्रमें भी नये मोड़को जन्म दिया। परन्तु नलिनजीकी भाषाकी इससे भी अधिक विशिष्टता यह है कि उन्होंने संस्कृतके शब्दोंका प्रयोग भी खूब किया है। संस्कृत शब्दोंके प्रयोगके चलते उनकी भाषा औरोंसे कुछ भिन्न दिखलाई पड़ती है—स्वयं प्रयोग-युगके कवियोंकी भाषासे ही। संस्कृत शब्दोंका प्रयोग हिन्दी कवितामें निरन्तर और एक लम्बी अवधिसे होता रहा है। छायावादके कवियोंकी भाषाकी विशिष्टता संस्कृत शब्दोंकी प्रधानतासे सुरक्षित रही, प्रगतिवादी कवियोंने भी संस्कृत शब्दोंका प्रयोग खूब किया है। तब आप पूछ सकते हैं कि नलिनजीकी भाषाकी विशिष्टता क्या रही ?

नलिनजीने भाषाकी प्राञ्जलताके लिए बहुत-से ऐसे संस्कृत शब्दोंका प्रयोग किया है जिनका उपयोग बहुत ही कम किया गया था और एक मानेमें वे अपरिचित-जैसे थे। 'बिब्बोक', 'धूलप', 'आन्वीक्षिकी', 'अनवद्य', 'संगीत-स्फार', 'मण्डोदक-कला', 'परिमृदित', 'साश्र',-जैसे शब्दोंका प्रयोग कम ही हुआ है। नलिनजी ऐसे गरिष्ठ शब्दोंको बड़ा ही संयत होकर अन्य शब्दोंके बीच सजाते थे ताकि उन्हें हलक़के नीचे उतारनेमें कठिनाई न हो। इस दिशामें उनकी भाषा प्रबुद्ध चिन्तनको अपनेमें समाविष्ट कर लेती थी और यह छायावादी कवियोंसे बिलकुल अलग उनकी निजी विशिष्टता थी। 'नकेनके प्रपद्य' में संगृहीत भूमिका 'पसपशा' शीर्षकसे सम्बोधित की गयी है। यद्यपि 'पसपशा' शब्द अपने-आपमें अकेला और सार्थक है, इसकी पूर्ति 'भूमिका' शब्दसे नहीं हो सकती, किन्तु यह अभी बहुतोंके हलक़के नीचे नहीं उतर सका है।

एक पूर्वपरिचित सन्दर्भमें नलिनजीकी कविताओंकी कुछ विशिष्टताएँ भी देख ली जायें तो बात और सीधी तरहसे समझमें आ जायेगी। व्यंग्य, व्यंजना, प्रवाह, लयात्मकता, भावनात्मक संवेग तथा विचारपटुता आदिकी दृष्टिसे भी उनकी कविताएँ कविताकी परिभाषामें सहज ही गिनी जाने लायक़ हैं। व्यंग्यका उदाहरण देखिए—

"एक फिसड्डी चिड़िया,
अन्धकार में पथहारी;
जाके दूर घोंसले से कितनी,
भटकती हुई अँधेरे में
जैसे कलकत्ते में खो गयी पाँच साल की बच्ची।
मैंने देखा नहीं क्रौंच-वध,
सो मैं न तो लिख रहा अनुष्टुप में
और न रामायणी कथा ही।
पर हृदय उद्वेलित उतना ही

जितना होगा वाल्मीकि का :
दृष्टि में तटस्थता ज्यादा।"

('गीता-दर्शन' से)

व्यंजनाका उदाहरण इन पंक्तियोंमें मिलता है—

"धूल बहुत उड़ती है
शाम के अलावा भी,
गाय के बिना भी।"

('धूलप' से)

यहाँ सीधी-सादी रीतिसे व्यंजनाकी उत्पत्ति की गयी है। 'शाम' और 'गायों के बिना' शब्द ध्यान देने योग्य हैं जो व्यंजनाको सूक्ष्म बना देते हैं। प्रवाहकी दृष्टिसे इन पंक्तियोंका रूप देखिए—

"आज वर्ष भोग्य शाप का
अन्तिम दिवस है, किन्तु
कैसी उदासीनता हृदय में।
कल अलका के लिए करूँगा
प्रयाण। प्राण नाचते नहीं क्यों
इन मयूरोंके समान ?
नयनों में प्रिय का रूप,
गति छटपटाती नहीं चरणों में।"

('रामगिरी' से)

यहाँ कविताकी संगठन-पद्धतिपर फिर ग़ौर किया जा सकता है।

लयात्मकता और भावनात्मक संवेगके उदाहरण-स्वरूप नलिनजीकी एक पूरी कविता 'गीत' उद्धृत करना समुचित होगा। कविता है—

"दृष्टि जा पाये जहाँ तक
सामने हो भूमि ऐसी
सिर्फ़ बालू, धूल

जिसमें दूर-दूर बबूल
शूलमय दो-चार दीखें ।
परम विरही के नयन-सी शुष्कता,
हृदय जैसी शून्यता
निबिड़; चारों ओर
हो रहा उपहास ज्यों
ऐसी उपेक्षा वायु में हो ।....
सामने प्रतिपल रहो तुम,
सामने, या, भूमि ऐसी—"
और ऐसी ही दिशाएँ, वायु ऐसी !

इस कविताकी पूरी सीमा लयात्मकता और भूमिपर खड़ी की गयी है, इसलिए इसका सारा स्थापत्य ही गीत और भावना-प्रधान हो गया है ।

विचारपटुताको एक सरल-सी अभिव्यक्तिके माध्यमसे इन पंक्तियोंमें देख लिया जाये—

"मैं ज़िन्दगी की पूँजी का
सूम हूँ । वासनाएँ
मरें नहीं, चाहता यही हूँ ।
आनन्द उठा सकूँ और कुछ भी
देना न पड़े, नीयत है ऐसी ।
लेकिन क़ीमत अदा करनी ही पड़ती है
दिल की धड़कनों के सिक्कों में
गिनने पर वे घटते हैं
मैं व्याकुल रोता हूँ,
कुछ और घट जाते हैं !"

('शान्ति' से)

यहाँ जीवनकी नश्वरताको छायावादियोंसे सर्वथा पृथक्, एक नये शिल्प, नये कथ्यमें अभिव्यक्त किया गया है।

नलिनजीकी कविताओंका अध्ययन हम 'नयी कविता'की दृष्टिसे नहीं कर सकते। खोज, सौन्दर्यबोध, मूल्य आदिके मामलेमें उनके युगकी वह ऐतिहासिक पीठिका है जिसके बिना आजकी बात ही नहीं की जा सकती। प्रत्येक युगकी अपनी सीमाएँ होती हैं पर हमने जैसे उनके युगके विषयमें सम्यक् ढंगसे विचार ही नहीं किया। मैंने बातचीतका यह सिलसिला इसलिए रखा कि नलिनजीकी कविताओंपर पुनर्विचार हो। इस बातचीतमें मैंने नलिनजीकी कविताओंकी ख़राबियाँ नहीं दिखलायीं, वह इसलिए कि बातचीतके दौरान अबतक वैसी ख़राबियाँ ही दिखलायी जाती रही हैं— जो पक्ष छूट गया था मैंने उसे आपके सामने रखा है। मगर अबतक हम उनकी कविताओंपर बातचीत ही करते आये हैं, ज़रूरत है कि उनपर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे जायें—उपलब्धियों और अभावोंपर ध्यान देते हुए।

● ●

हरिनारायण व्यास

एक सुसम्बद्ध परम्पराका विकास*

नयी कविता इस अर्थमें नयी कही जा सकती है कि उसने 'पैटर्निज़्म'-को समाप्त किया। आजतक कविता या तो पैटर्नमें लिखी जाती रही है या फिर उसे पैटर्नमें वर्गीकृत किया गया है। लेकिन आजकल लिखी जानेवाली हिन्दी कविताका अपना कोई पैटर्न नहीं। वह सम्भवत: अभी कोई पैटर्न बना नहीं सकी है।

पैटर्न तभी बनता है जब कि किसी बहुसम्मत विचारधारा अथवा अभिव्यक्ति-प्रणालीका प्रचलन हो। हिन्दीमें यह पैटर्निज़्म प्रगतिशील-युग तक रहा। लेकिन देशकी राजनीतिक परिस्थितियोंके परिवर्तन और जनतन्त्रकी स्थापनाके कारण देशके लेखकोंमें किसी सूत्रबद्ध विचार-धाराका जन्म नहीं हो सका और परिणामस्वरूप उसे कोई पैटर्न प्राप्त नहीं हुआ।

आज पूरे देशमें इस प्रकारके पैटर्नके अभावसे जन्म लेनेवाला साहित्य सृजित हो रहा है।

नये पैटर्नको जन्म देने या पुरातन पैटर्नको पुनर्स्थापित करनेके लिए अनेक लेखक प्रयत्नशील हैं और नये पैटर्न या किसी पुनर्स्थापित पैटर्नकी स्थापनाकी पूर्वपीठिकाके रूपमें आजकल जो लिखा जा रहा है वह नये साहित्यके नामसे सम्बोधित किया जा सकता है।

अब नये लिखे जानेवाले इस आधुनिक साहित्यमें पैटर्नको जन्म

---

* दिगन्त : त्रिलोचन शास्त्री

देनेकी क्षमताके सम्बन्धमें प्रश्न उठ सकता है। और इसके उत्तरके लिए हमें बदलकर आनेवाले तत्त्वों और स्थापित होनेवाले मूल्योंको एक बार जाँचना पड़ेगा।

दिगन्त'में संग्रहीत कविताएँ पुराने पैटर्नमें कोई नया योगदान देती हों (विचारकी दृष्टिसे) सो बात नहीं। व्यक्ति और समाजके बीचकी पारस्परिक सम्बन्धवाली बात समाजमें व्यक्तिकी उपेक्षा और उसकी अपेक्षाओंका अनादर कोई नयी सत्यानुभूति नहीं है लेकिन टेकनिक और निवेदनकी दृष्टिसे 'दिगन्त'का अपना महत्त्व है। टेकनीककी दृष्टिसे नयी कवितासे पहले ही नये प्रयोग किये जा चुके थे। भाषा और शैलीके बदलनेमें प्रगतिवादने वह क्रान्ति कर दी जो नयी कविताका मार्ग प्रशस्त करनेमें सहायक हुई। लेकिन नयी कविताने अपनी अलग शैली निर्माण न करते हुए भी आजकी प्रचलित शब्दावली छन्दोरचना और अभिव्यक्ति-प्रणालीको आगे बढ़ाया है। इस दृष्टिसे नयी कविताकी एक विशेषता है कि राजनीति-प्रधान शब्दावलीसे उसने कविताको मुक्त किया और उसको जीवनकी शब्दावलीसे सजाया।

छन्दोंको दृष्टिसे कोई विशेष अन्तर और नयापन प्राप्त न होनेके बावजूद भी नयी कविताकी एक देन अवश्य है कि उसने नये छन्दकी कृत्रिमताको हटाकर उसे स्वाभाविकता प्रदान की।

अलंकारादि वर्णन शैलीमें उसने काफ़ी योग-दान किया है। लेकिन आजके युगमें केवल टेकनीकको पैटर्न मानकर काम नहीं चल सकता। आजके युगकी कवितामें युगकी सारी वास्तविकताका समावेश होनेपर ही वह युग-वाहिनी हो सकती है।

'दिगन्त' की कविताएँ इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उनको कविने तथाकथित एक अँगरेज़ी छन्द 'सॉनेट' में लिखा है बल्कि वे इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि उनमें कविकी अभिव्यक्ति बिना बौद्धिकताके मुलम्मेके ही खरा सोना बनकर चमक उठी है। उसकी अनुभूतिकी वास्तविकताकी

चोटसे उत्पन्न होनेवाले विचार-स्फुलिंगोंमें दग्ध करनेकी शक्ति है। उसकी पंक्तियोंमें बाहरी जगत्‌की खरौंचसे कुलबुला उठनेवाले मनकी संवेदनाओं-की तीव्रता है। त्रिलोचन विचारोंको उलझाकर अस्पष्टताकी ओटसे शिकार नहीं करते। उनके मनपर वास्तविकताके सम्पर्कसे जो परिणाम आये उन्होंने उनको बिलकुल बातोंकी तौरपर कह दिया और उनका यह कथन 'दिगन्त' की कविताओंके प्राण बन गया। 'नयी चेतना' का कवि जहाँपर सूखे टटैरेकी तरह खुड़खुड़ा उठता है, 'दिगन्त' का कवि उसी भूमिपर लहलहाने लगता है।

'दिगन्त' के ६४ पृष्ठोंमें कविके अनेक विषयोंपर लिखे गये सॉनेट संग्रहीत हैं। व्यक्तिगत अनुभूति, राजनीतिक विचार, शब्दचित्र, घटनाएँ स्मरण, प्रेम और प्रशस्तियाँ इस प्रकार कविके इस संग्रहमें विभिन्न प्रकारके अनुभवोंका संकलन एक स्थानपर एकत्रित है।

आजकी 'नयी कविता' में वैयक्तिक चेतना और मनकी अन्तर्गुहामें आन्दोलित व्यक्तिगत समस्याओंकी प्रधानता होती है। 'दिगन्त' में इस प्रकारके ऐकान्तिक अनुभूतियोंके सॉनेट भी हैं। लेकिन वे 'नयी कविता' की विशेषताओंसे भिन्न एकदम सीधे और एकदम सच्चे। उनमें विचारोंका बोझ और अस्पष्टताका सर्वथा अभाव है। राजनीतिक सॉनेटमें कविका पूर्वग्रह झलके बिना नहीं रह सका है। कविकी राजनीतिक मान्यताएँ उसके निष्कर्षका मार्ग बन जाती हैं और वह निर्वैयक्तिक रूपसे समस्याको देखनेसे पहले ही अपनी मान्यताओंसे आक्रान्त हो जाता है। इस प्रकारके प्रभावोंसे कविताकी श्रेष्ठतामें तो दोष आता ही है परन्तु साथ ही कविको एक आत्मवंचनाकी भी चोट सहनी पड़ती है। कवि-कर्म और राजनीति अन्योन्याश्रित होते हुए भी दो भिन्न मार्ग हैं। राजनीतिकी सीमाओंमें पनपनेवाले सामाजिक मनकी वैयक्तिक विशेषताएँ उसकी मौलिक संवेद-नाओंमें होती हैं। व्यक्तिकी सामाजिक समस्याओंके अलावा उसकी अपनी कुछ ऐसी समस्याएँ भी होती हैं जिनका सीधा लगाव राजनीतिसे होते

हुए भी वह कविको एकदम व्यक्तिगत समस्याएँ होती हैं तथा कुछ सामाजिक समस्याएँ ऐसी भी होती हैं जिनको कवि व्यवहारमें अपने व्यक्तिगत ढंगसे महसूस करता है। इस प्रकारकी समस्याओंपर राजनीतिक मान्यताएँ अपना रंग इतना गहरा चढ़ा देती हैं कि वह यथार्थसे दूर यूटोपियन बन जाती हैं। 'दिगन्त' को इस प्रकारकी कविताओंमें यह दोष है। 'दिगन्त' में बहुत-से मनोरम शब्द और प्रभावशाली ध्वनिचित्र भी हैं। इन चित्रोंको आँकनेमें कवि पूरी तरह सफल हुआ है। बरसातकी रातमें घिरकर घुमड़नेवाले मेघोंमें नृत्य-रता बिजलीके ध्वनिचित्र, शिशिरकी एकान्त रात्रिकी नीरव बस्ती और रात्रिके सुनसानकी आत्माके चित्र कविने बड़े ही मनोहर ढंगसे उतारे हैं।

कुछ सॉनेट केवल किसी घटनाके चित्रण और स्मरणपर भी हैं, जो वास्तविकताके अत्यन्त निकट होनेके कारण अत्यन्त सजीव, मार्मिक और संवेदनाओंकी आर्द्रतासे ओतप्रोत हैं। 'दिगन्त' की कविताओंमें जब कवि गाता है तब कविताएँ उदात्त हो उठती हैं और जब राजनीति अथवा एक उपदेशक गाने लगता है तब कविताएँ घुटनेके बल चलने लगती हैं। 'ईश्वर' है या नहीं; धर्म अफ़ीमकी प्रतिक्रिया है। भूख और दरिद्रताका ज़िम्मेदार समाज है, ये सब पुराने नारे हैं। वैसे पुराने नारोंमें दृष्टि और अनुभवोंकी मौलिकता नयापन भरकर नयी कविताओंको जन्म देनेका सामर्थ्य रखती है लेकिन पुराने नारोंको केवल सूत्रोंके आधारपर जाँचनेसे कविकी मौलिकताको गहरा धक्का लगता है और दिगन्तकी कविताओंमें ऐसा हुआ है।

भारतीय 'काव्यशास्त्र' की कसौटीपर सॉनेट नामक छन्द एक नये छन्दके रूपमें खरा नहीं उतरता क्योंकि भारतीय छन्दोंकी विभिन्नता उनके जमाव, गति, यति और लयमें है। पंक्तियोंकी संख्या और तुकोंके जमाव और हेरा-फेरीसे छन्दका रूप नहीं बदलता। अँगरेज़ोंका सॉनेट भी ऐसा ही एक बोगस छन्द है। 'दिगन्त' में सब सॉनेट ही हैं और 'दिगन्त' के सॉनेटमें कविकी प्रयोगशीलता काफ़ी खरी उतरी है। 'दिगन्त'के सॉनेट

हिन्दीमें लिखे जानेवाले अन्य सॉनेटोंकी अपेक्षा अधिक सफल हैं। भाषा और भावमें स्पष्टता, सुथरापन एवम् तरतीब है। कविने अपनी भाषामें भावोंको ढाला है, भावोंको भाषापर हावी नहीं होने दिया है। बोलचाल-के शब्दोंमें ऊँची क़िस्मको कविता लिखना टेढ़ी खीर है लेकिन त्रिलोचन शास्त्रीको इसमें पूरी सफलता मिली है।

● ●

यथार्थकी पहचान

● ●

भगवतशरण उपाध्याय

सुन्दर पके फलमें कीड़े*

'नदीके द्वीप' दो बार पढ़ चुका हूँ। दोनों बार इलाहाबादसे हैदराबादकी राहमें। पहली बार प्रायः साल-भर पहले, दूसरी बार अभी, पिछली रात। दोनों बार मुझपर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। दोनों बार मैं 'भींगा', गहरा 'भींगा'। इस बार तो इतना कि, यद्यपि 'कल्पना'—सम्पादकको प्रायः साल-भर पहले ही इसकी आलोचना लिखनेका वचन दे चुका था, लिखे बग़ैर न रह सका : यानी उसमें इतना 'भींगा'—'डूबा'। 'भींगा' शब्द विज्ञ पाठक समझेंगे, मेरा नहीं जैनेन्द्रजीका है जो उन्होंने श्री शिवदानसिंह चौहानको पत्रमें लिखा और जो उन्होंने स्वयं मुझसे भी कहा था। चौहानजीने उसे 'आलोचना' (वर्ष १, अंक २, जनवरी १९५२) में छापा था। उसे पहली बार मैंने अभी-अभी पढ़ा है।

'नदीके द्वीप' अज्ञेयका दूसरा उपन्यास है। उनका पहला उपन्यास 'शेखर—एक जीवनी' मुझे बड़ा अच्छा लगा था, सिद्धान्ततः भी, क्योंकि उसकी वैयक्तिकताका व्यास बड़ा व्यापक है। मैं अज्ञेयके कृतित्वका, उनकी कलाका क़ायल हूँ; उनके दृष्टिकोणका बेजोड़ विरोधी। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं होना चाहिए। कृतिके दो पक्ष होते हैं : कला-पक्ष और सिद्धान्त-पक्ष। साहित्य या कलामें केवल सिद्धान्त-पक्ष नहीं चलता, उसका आधार कला-पक्ष है। पर सिद्धान्त-विहीन कला-पक्ष हो सकता है, चल सकता है; सिद्धान्त-विरोधी कला-पक्ष भी। इसी दृष्टिसे सिद्धान्तहीन

* नदीके द्वीप : 'अज्ञेय'

अप्रगतिशील—प्रतिगामी तक—साहित्य (जैसे अतीत 'क्लासिक') की हम प्रशंसा करते हैं, उसमें रस लेते हैं। महान् साहित्य दोनोंसे बढ़कर है, वह जिसकी कलाकारिताका स्वर उदात्त-कल्याणकर सामाजिक सिद्धान्त हो।

सिद्धान्तके पक्षमें—मेरे सामाजिक दृष्टिकोणसे—अज्ञेयमें ह्रास हुआ है, कलाके पक्षमें उत्तरोत्तर विकास। उनकी कला मँज गयी है। कलाकी व्यवस्था प्रयोग-प्रधान है, रूपायित होकर ही विकसित होती है, मँजकर ही प्रौढ़ होती है। उसमें 'मिनर्वा वॉर्न इन पेनोप्ली' का-सा कोई सिद्धान्त आचरित नहीं होता। 'शेखर—एक जीवनी' में दोनों पक्ष सबल हैं, वह कृति महान् है। पर सिद्धान्त-पक्ष नगण्य अथवा विद्रूप होनेके कारण 'नदी-के द्वीप' महत्तर तो नहीं ही हो सका, उस स्तरसे विप्रस्थित भी हो गया, च्युत। उसका कला-पक्ष अधिक गठा है, अधिक कोमल, अधिक तरल, अधिक द्रव, अधिक मोहक है। यह मेरी 'प्रतिज्ञा' है। लेखका अगला भाग उसीकी 'व्याप्ति' है, उसका निष्कर्ष उसीका 'निगमन'।

कला-पक्ष क्यों ? साहित्य क्या कला है ? परम्परया दोनों कुछ भिन्न हैं—'साहित्यसंगीतकलाविहीनः' पदमें तीनोंके पृथक्त्वका बोध है। क्योंकि तीनोंकी पृथक्-पृथक् भाव-सम्पदा है, भिन्न-भिन्न रसबोध है, अनेक-तम दर्शन है। भाव-सम्पदा व्यंजनाकी वस्तु है, तीनोंकी अपनी-अपनी; रसबोध अन्तरंग-ज्ञापन, प्रवाह-प्रभाव, 'भींगने' की निष्पत्ति है, अपनी-अपनी; दर्शन आकृतिकी है, कोरण-रूपायनकी, छन्द-राग-वर्णकी, अपनी-अपनी। यही आकृति, दर्शन, रूपायन साहित्य और कलामें, फिर दोनोंकी संगतिमें भी, सान्निध्य स्थापित करते हैं। इसीसे साहित्यकार कलाकार भी हो जाता है, समाधिस्थ ('शिथिलसमाधिदोष'—देखिए 'मालविकाग्नि-मित्र' और 'शुक्रनीति'—विरहित, शुद्ध) सफल कलाकार।

'नदीके द्वीप' को दोनों दृष्टिकोणोंसे देखनेका प्रयत्न करूँगा, कलाकी दृष्टिसे भी, सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी। 'सत्य' और 'तथ्य' दोनों देखनेका

यत्न करूँगा, यद्यपि आलोचक दोनोंको सदा देख नहीं पाता। आलोचक है न—उसके पैर नहीं होते, और दौड़ना सिखाता है। आलोचकको ख़ामियोंका समाधान और पूर्ति एक ही प्रकारसे हो सकती है—भारतीय आलोचनाकी शास्त्रीय पद्धतिको यथासम्भव अपनाकर। आलोचक 'जिज्ञासु' और 'सहृदय' होता है। जिज्ञासाकी उसकी जागरूकता उसे मोहाविष्ट नहीं होने देती, उसकी चेतनाको सजग रखती है, जिससे उसकी दृष्टि पंगु न हो जाये। 'सहृदयता' उसे पूर्वग्रहसे आविष्ट नहीं होने देती, तादात्म्य स्थापित करनेमें सहायक होती है, तटस्थताकी पुरुषताको संवेदना-द्वारा स्निग्ध कर देती है। तादात्म्य और संवेदनशीलता उस साधारणी-करणके वाहन हैं जिसके द्वारा साहित्य मात्राकी असमताके बावजूद स्वच्छन्द वायु, चाँदनी, धूप, जलकी भाँति प्रायः समान रूपसे हमें सिक्त-आप्लावित करता है। साधारणीकरण साहित्यकी व्यापक सत्ताका मानदण्ड है, उसकी परिधिका माप।

'नदीके द्वीप' में नदी कम है द्वीप अधिक है। नदी प्रवाहकी प्रतीक है, अनन्त जलकणोंकी एकस्वरताकी, सम्मिलित एकस्थ एकांगिक अनेकता-की, 'इण्टिग्रेटेड' विविधताकी। प्रवाहित जलराशिसे कण उठाइए, प्रवाह-भिन्न अब वह 'जीवन' नहीं रहा। उसकी अब व्यक्तिबोधक संज्ञा है, राशीभूत कणसंकुल परिवारसे भिन्न, रसत्वहीन सत्त्वहीन, जीवनहीन—क्योंकि प्रवाहहीन, गतिहीन, जड। जनसंकुल संसारका असामाजिक नृतत्त्व, उद्दाम जीवनसे विमुख एकान्तखोजी 'मैन फ्राइडे'। फिर द्वीप कि अपरि-मित भू-भाग, 'आइल' कि 'मेनलैण्ड' ?

उपन्यासके पात्र भी द्वीप हैं, कथा नदीकी भाँति उनका स्पर्श कर उनकी संज्ञा सार्थक करती है, पर वे स्वयं उस प्रवाहके नहीं हैं, द्वीपकी ही भाँति अमित जलराशिसे जनराशिसे, उदासीन हैं, अन्तर्निविष्ट, सावधि, मिथुन, परस्पर बदलते मिथुनका द्वित्व क़ायम रखते, प्रायः कभी अपनी संख्या दोसे तीन न होने देते—'द्व्यणु' से 'त्र्यणु' तक नहीं, क्योंकि

अणुओंकी परम्परा तब संसारका सृजन कर देगी। उपन्यासकी आकृतिका बाह्यरूप भी उसकी अन्तश्चेष्टाका ही प्रतिबिम्ब है, द्वीपवत्। उसके खण्ड पात्रपरक हैं, चरित्रसंज्ञक—'भुवन', 'चन्द्रमाधव', 'गौरा', 'रेखा', 'भुवन', 'चन्द्रमाधव', 'रेखा', 'गौरा'। और व्यक्तियोंके 'बीच' का व्यवधान 'अन्तराल'के सेतुओंसे पूरित, एक 'गौरा' और 'रेखा' के बीच, दूसरा 'रेखा' और 'गौरा' के बीच, दोनों भुवनकी प्रियाओंके ही बीच, समान इष्टकी ओर बहती दो धाराओंके बीच, और अप्रत्याशित नहीं, शायद सचेत आयोजित।

मिथुनकी सम्पदा बाहर-भीतर सर्वत्र बिखरी है, भाव-प्रवाहमें उपन्यासके कलेवरके भीतर, पुस्तकके ऊपर, आगे-पीछे, बाहर जहाँ उड्डीयमान, उन्मुख, स्रोतमें निस्पन्द प्रवहमान हंस-मिथुनके चित्र अंकित हैं। युगल हंस, हंस-मिथुन, जो अपने द्वित एकाकीपनमें कहीं व्यभिचार नहीं होने देते, उस ध्वनिसे परे जिससे साहित्य मुखर है, जो चित्र-फलकपर एकाकी विरही दुष्यन्तका साध्य भी है, आदिकविकी प्रेरणाका प्रतीक भी। पर ऐसा क्रौंच-मिथुन, जिसे क्रूर व्याध नहीं मारता, स्वयं लुब्धक दुष्यन्त मारता है—बाणविद्ध रेखा, हिंसायोगसे अशौच भी, रसका संचार करती ही है।

उपन्यासकारकी भाव-सम्पदाका उद्घाटन उसकी अप्रतिम शब्द-शक्ति करती है। उसकी शब्द-सम्पदा इतनी व्यापक इतनी सम्पन्न है कि अपनी कंगाल भाषा भी निहाल हो उठती है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म अभिव्यंजना शब्द-वैभवसे मूर्तिमान हो उठती है, भाव सनाथ, साकार। उसके कुछ अनुपम उदाहरण ये हैं—

"·····उसने देखा था कि रेखाका हाथ अभी वैसा ही ऊपर उठा हुआ है, उँगलियोंकी स्थिति वैसी ही अनिश्चित है जैसे किसी एक क्रियाके पूरी होनेके बाद दूसरी क्रियाके आरम्भ होनेसे पहले होती है—संकल्प-शक्तिकी उस जड अन्तरावस्थामें।" (पृ० ४०)

"रेखा सहसा खड़ी हो गयी, यद्यपि अपने स्थानसे हिली नहीं, न शेफालीकी ओरसे उसने मुँह फेरा। केवल उसका हाथ तनिक-सा मुड़कर ऊँचा हो गया, उँगलियोंमें एक हलका-सा निषेध या वर्जनाका भाव आ गया।" (पृ० ५३)

"कलीका प्रस्फुटन उसकी (प्रेमके विकासकी) ठीक उपमा नहीं है, जिसका क्रम-विकास हम अनुक्षण देख सकें: धीरे-धीरे रंग भरता है, पंखुड़ियाँ खिलती हैं, सौरभ संचित होता है, और डोलती हवाएँ रूपको निखार देती जाती हैं। ठीक उपमा शायद साँझका आकाश है: एक क्षण सूना, कि सहसा हम देखते हैं, अरे, वह तारा! और जबतक हम चौंककर सोचें कि यह हमने क्षण-भर पहले क्यों न देखा—क्या तब नहीं था? तबतक इधर-उधर, आगे, ऊपर कितने ही तारे खिल आये, तारे ही नहीं, राशि-राशि नक्षत्र-मण्डल, धूमिल उल्का-कुल, मुक्त-प्रवाहिनी, नभ-पयस्विनी—अरे, आकाश सूना कहाँ है, यह तो भरा हुआ है रहस्योंसे जो हमारे आगे उद्घाटित हैं! प्यार भी ऐसा ही है; एक समोन्नत ढलान नहीं, परिचितिके, आध्यात्मिक संस्पर्शके, नये-नये स्तरोंका उन्मेष....उसकी गति तीव्र हो या मन्द, प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, वांछित हो या वांछातीत। आकाश चन्दोवा नहीं है, कि चाहें तो तान दें, वह है तो है, और है तो तारों-भरा है, नहीं है तो शून्य-शून्य ही है जो सब-कुछको धारण करता हुआ रिक्त बना रहता है...." (पृ० ८७-८८)

"तीसरे पहर फिर घूमने पहाड़पर जानेकी बात थी, शायद उस पार तक, पर दोपहरकी संक्षिप्त नींदसे उठकर उन्होंने देखा, बादलका एक बड़ा-सा सफ़ेद साँप झीलके एक किनारेसे उमड़कर आ रहा है। और उसकी बेडौल गुंजलक धीरे-धीरे सारी झीलपर फैली जा रही है, थोड़ी देरमें वह सारी झीलपर छाकर बैठ जायेगा, और फिर शायद उसका फन ऊपर पहाड़की ओर बढ़ेगा—" (पृ० २०४)

अवधकी शामें मशहूर हैं, लेकिन हज़रतगंजमें शाम होती नहीं, दिन

ढलता है तो रात होती है। या शाम अगर होती है तो अवधकी नहीं होती—कहींकी भी नहीं होती, क्योंकि उसमें देशका, प्रकृति का, कोई स्थान नहीं होता, वह इनसानकी बनायी हुई होती है: रंगीन बत्तियाँ, चमकीले झीने कपड़े, प्लास्टिकके थैले-बटुए, किरमिची ओठ, कमान-सी मूछोंपर तिरछे टिके हुए और ऊपरसे रिकाबीकी तरह चपटे फ़ेल्ट हैट···और राह चलते आदमी जिनके सामने बौने लगने लगें, ऐसे बड़े-बड़े सिनेमाई पोस्टरोंवाले चेहरे—कितना छोटा यथार्थ मानव, कितने बड़े-बड़े सिनेमाई हीरो—अगर लोग सिनेमाके छायारूपोंके सुख-दु:खके सामने अपना सुख-दु:ख भूल जाते हैं तो क्या अचम्भा, उन छाया-रूपोंके स्रष्टा ऐक्टर-ऐक्ट्रेसोंके सच्चे या कल्पित रूमानी प्रेम-वृत्तान्तोंमें अपनी यथार्थ परिधिके स्नेह-वात्सल्यकी अनदेखी कर जाते हैं तो क्या दोष···यथार्थ है ही छोटा और फीका, और छाया कितनी बड़ी है, कितनी रंगीन, कितनी रसीली···" (पृ० २४४)

"किसी बेहयाने ठीक कहा है—अन्तिम समयमें मानवको अनुताप होता है, तो अपने किये हुए पापपर नहीं; पुण्य करनेके अवसरोंकी चूकपर नहीं; अनुताप होता है किये हुए नीरस पुण्योंपर, रसीले पाप कर सकनेके खोये हुए अवसरोंपर····" (पृ० २९०)

"नदी बहुत चढ़ आयी थी और यद्यपि लोग उठे नहीं थे, वह मानो वहींसे उनके सहमे हुए भाव देख सकता था····उदास, मलिन, गन्दा, बदबूदार श्रीनगर, गँदली, मैला ढोनेवाली नदी, उदास मैला आकाश, जैसे म्रियमाण आबादीपर पहलेसे छाया हुआ क़फ़न! भुवनने ऊपर बायेंको देखा, शंकराचार्यकी पहाड़ी भी उतनी ही उदास, केवल उस धुँधले तोतेके पिंजरे मन्दिरके ऊपरकी बत्ती टिमटिमा रही थी भोरके तारेकी तरह धैर्यपूर्वक····" (पृ० ३०८)

"मैं—मैंने तुम्हारे साथ आकाश छुआ है, उसका व्यास नापा है····" (पृ० ३०९)

"वहाँ फूल थे, सुहावनी शारदीया धूप थी, और तुम थे ! और मेरा दर्द था ! यहाँ गरम, उद्गन्ध, बौखलायी हुई हरियाली है, धूपसे देह चुनचुना उठती है : और तुम नहीं हो। और दर्दकी बजाय एक सूनापन है जिसे मैं शान्ति मान लेती हूँ...." (पृ० ३२५)

ऐसे स्थल 'नदीके द्वीप' में अनेकानेक हैं। अज्ञेय शब्दोंका जादूगर है, जैसे भावोंका भी। मैं उसके शब्द-वैभवका अभिनन्दन करता हूँ।

पात्र—भुवन, रेखा, चन्द्रमाधव, गौरा—प्रधान; हेमेन्द्र, रमेशचन्द्र, गौराका पिता, चन्द्रमाधवकी पत्नी—गौण। हेमेन्द्रका व्यक्तित्व है, स्पष्ट; प्राय: उतना जितना चन्द्रमाधवकी पत्नीका। गौराके पिताकी पत्रमय छाया डोलती है, रमेशचन्द्र कथाके उपसंहारका अन्त्य विराममात्र है, हमें छूता नहीं, वैसे ही जैसे काश्मीरके बादकी कथा नहीं छूती।

भुवन। गम्भीर, विचारशील, शिष्ट, व्यक्तिनिष्ठ, भावुक, कामुक, एकान्तप्रिय, कमज़ोर, लीकग्राही, असामाजिक। विचारशील पण्डित है। जटिल प्रश्नोंपर विचार करता है। सत्य-तथ्यके अन्तरका विवेचन करता है। स्थितिकी यथार्थताको तथ्य मानता है, उसके प्रति रागात्मक सम्बन्धको सत्य। शायद सत्यकी एक और भी परिभाषा हो सकती थी—जो इन्द्रियोंसे जाना जा सके या मस्तिष्क-द्वारा अनुमित हो सके—और तथ्य उसीका आंशिक अवान्तर-प्रकारान्तर। भुवन अपनेको लीकग्राही कहता है, पर रेखाके अभिनन्दनमें अपनेको छोटा करके। परन्तु त्वचा हटा देनेपर उसका यह रूप दीख जाता है। उसकी लोकग्राहिता ही उसे अन्ततः रेखाके प्रति उदासीन और प्रतिज्ञा-दुर्बल कर देती है। सदासे उसे गौराके प्रति एक पतिसम्मत तृष्णा है। प्राजापत्य-जैसा उसके प्रति आकर्षण है, जो अन्तमें विवाहमें ही प्रकट होता है, यद्यपि विवाहके प्रति उपन्यासमें दूरका संकेतमात्र है। चन्द्रमाधव उसे विराट् अनुभूतिके प्रति खुले रहनेका श्रेय देता है, पर ऐसा है नहीं; क्योंकि न तो उसमें संकीर्ण सामाजिकतासे निकलकर वश्य विराटतामें समा

जानेकी निर्भीकता है और न प्रकृतिकी सूक्ष्म अथवा स्थूल सत्ताको ही अपने आकाशमें प्रविष्ट होने देता है, उसके नित्य सांन्निध्यके बावजूद। औचित्यसे तथ्यतः उदासीन होनेके कारण ही खुली प्रकृतिके प्रांगणमें भी वह 'नेमिवृत्ति' से 'मास्टरजी' से क्रमशः भुवन 'मास्टरजी' होकर 'भुवन दा' हो गया था, और उससे भी आगे 'शिशु' और फिर वह जिसकी अपने स्वच्छन्दताभासमें वह तृष्णा बनाये हुए है। वह कहता भी है—"मैं मानता हूँ कि जबतक कोई स्पष्टतया मनोवैज्ञानिक 'केस' न हो, विवाह सहज धर्म है और है व्यक्तिकी प्रगति और उत्तम अभिव्यक्तिकी एक स्वाभाविक सीढ़ी।" निस्सन्देह अवसर मिलते भुवन स्वयं वह सीढ़ी चढ़ते नहीं चूकता। रेखा एक स्थलपर अपने दो पहलू बताती है—"एक चरित्रवान्, प्रकृत, मुक्त; एक सभ्य और चरित्रहीन"। वस्तुतः उसके पुरुष काउण्टरपार्ट भुवनके ये पहलू हैं—"सभ्य और चरित्रहीन"। वैसे इसी आधारपर चन्द्रमाधव है—असभ्य और चरित्रहीन, और गौरा सभ्य और चरित्रवान्। भुवनको वैज्ञानिक बताकर सर्वत्र उसके कॉस्मिक रश्मि-सम्बन्धी खोजोंकी ओर संकेत है, पर एक स्थलपर भी उसके प्रति उसकी निष्ठाका सही उद्‌घाटन नहीं है। उसके इष्टसे यत्र-तत्र भुवनके जानेकी बात कही गयी है, पर सर्वत्र उसे रेखा अथवा गौरा परोक्ष या अपरोक्ष रूपसे घेरे-घेरे फिरती हैं। लेखकके कहने-मात्रसे पाठकको आभास होता है कि भुवन खोजी है, पर कथाके घटना-क्रमसे उसे कभी उसका ज्ञान नहीं होता। उससे तो वह शुरूसे अन्त तक अकेले और मिथुन रूपमें सदा कामुक ही, यद्यपि एक समय एकके ही प्रति, लक्षित होता है। वस्तुतः उसका सत्य-तथ्य-विवेचन भी उसी इष्टकी तैयारी-सा लगता है, रेखाको प्रभावित करनेके लिए। अनेक बार पाठक जैसे पूछ बैठता है : भुवनका इष्ट क्या है—रेखा (गौरा) या विज्ञान ? और उसका स्वाभाविक निर्णय पहलेके पक्षमें होता है। सारे उपन्यासमें रेखाके साथ उसकी एकान्त चेतना सजग है—कुदसिया बाग़में, जमुनाके कछारमें, नौकुछिया तालके

तटपर, काश्मीरकी ऊँचाइयोंपर, सर्वत्र उत्तरोत्तर कामुक। कहीं वह उसके गीले पलक• चूमता है, कहीं होठ, कहीं उन्मुख स्तनोंके बीचकी गहराई, और कहीं वह रेखामें न केवल डूब जाता है वरन् कोककथाकी पृष्ठ और अग्र-भूमि प्रस्तुत करता है। रेखा सही उसकी निश्छल ऋजुताके नीचे इतना भोला, इतना कौतुकप्रिय शिशुहृदय देखती है, पर वह सारा वस्तुत: 'सभ्य चरित्रहीनता' की तैयारीमात्र है। उसका रेखाको स्टेशन पहुँचाने आना और सहसा, यद्यपि स्वाभाविक रूपसे, मुरादाबाद, नैनीताल, सप्तताल चला जाना कार्यशून्य व्यक्तिका उपक्रम है। शायद इसलिए कि वहाँ न कुदसिया बाग़के चौकीदारकी आँख हैं, न नैनीतालके होटलवाले-का रजिस्टर और न ही सभ्य संसारके नैतिक-अनैतिक अवरोधका भय। वहाँ उसका मादक आदिम उष्ण स्पर्श रेखाको 'रीयल' लगता है, यद्यपि उसकी कौन-सी संज्ञा सब-कुछ कर चुकनेपर भी अन्त्य इष्टको रोक देती है, समझमें नहीं आता, न उसका रो पड़ना ही (क्योंकि उसका रोना ग्लानिका नहीं है—उसकी निष्पत्ति तुलियनकी क्रीडामें देखते हुए)। 'सुन्दरसे सुन्दरतर' की रक्षा भी नहीं हो पाती, क्योंकि आगे तुलियन है ! उसके रो पड़नेका निराकरण रेखा उसके अपौरुषाभासके प्रति संवेदन-शील होकर करती है ! 'माँगती है,' नहीं पाती है, भुवन स्पष्ट करनेका प्रयत्न करता है—यह इनकार नहीं, प्रत्याख्यान नहीं है। और भुवन फिर उसे वहीं विकल छोड़कर भाग जाता है। असाधारण रेखाको भी उस निर्जनमें छोड़ जाना, जाते समय उसके प्रबन्धकी बात तक भुवनका न पूछना कुछ अजब लगता है। अब वहाँ रेखाके अकेले रहनेकी बात स्वा-भाविक नहीं है, कमसे कम दोनों नैनीतालके होटल तक तो साथ आ ही सकते थे। और चूँकि फिर वहाँ ठहरना था इससे डबलबेडेड-रूम-सम्बन्धी असुविधाजनक प्रश्नका भी भय न था। फिर काश्मीर जहाँ 'ठिठुरे हाथ हैं,' 'अवश गरमाई' है, 'रोमांच' है, 'सिकुड़ते कुचाग्र' हैं, 'पर्पटियोंका स्पन्दन' है, 'उलझी हुई देहोंका घाम' है, 'कानोंमें चुन-

चुनाते रक्त-प्रवाहका संगीत' है; विज्ञानके उपक्रमका आभास है, क्योंकि वह कामप्रवीण कोकाका देश है। और जब गौरासे वह कहता है, "हमारे प्रोफ़ेसर कहते थे, विज्ञानसे जिसकी शादी हो जाती है, उसे फिर और कुछ नहीं सोचना चाहिए। वह बड़ी कठोर स्वामिनी है" तब वह सर्वथा व्यंग्य-सा लगता है, विशेषकर पृष्ठ२६० की स्थितिके बाद। भुवनका रेखाके प्रति उदात्त शरीरजन्य सम्बन्ध होना ही चाहिए था, उसमें कुछ भी अस्वाभाविक, अनुचित नहीं, पर विज्ञानके इष्टकी सापेक्ष्य मात्रामें ही, वरन् प्रश्न तो यह हो जाता है कि क्या सचमुच भुवनके पक्षमें प्रसंगकी सचाई उसके इस वक्तव्यमें है कि 'विज्ञान बड़ी कठोर स्वामिनी है'? शायद वह तो सर्वथा कोमल उपेक्षणीय है और स्वामिनी नहीं, ऐसी स्वकीया, जो विवाह होते ही उपेक्षित हो जाती है, जिसे 'खण्डिता' कहलानेका भी सन्तोष नहीं। शिवका वह दृश्य, जो कालिदासने 'कुमारसम्भव' के आठवें सर्गमें उद्घाटित किया है, साथ ही उसका सतीकी निर्जीव देहको कन्धोंपर ढोये फिरना भी कुछ अनुचित-अस्वाभाविक नहीं; क्योंकि उसके नैतिक, सामाजिक, कल्याण-प्रधान जीवनका विस्तार उससे कहीं बड़ा है, अपेक्षाकृत अनन्त; पर भुवनका उपन्यासगत सारा जीवन ही विज्ञान-विरहित रेखा-गौराके कोमल-मादक मोहसे अभिभूत है। कोई बेजा बात न थी, यदि अपनी खोजके श्रमसे विकल भुवन रेखाकी तरलता ढूँढता और शिवकी भाँति एक पद गन्धमादनपर दूसरा कैलासपर रखता और अन्तरालको रेखाकी कामस्पन्दित देहसे भर देता, उस कामवल्लरीके अंगांग—अन्तरंगांगमें उस आदिम बनेलेपनसे प्रविष्ट होता जो वस्तुतः मानवताकी कोमलतम व्यंजना है, अकृत्रिम सभ्यकी उस मूलभूत मानवताकी जब-तब याद, जो उसे क्षण-भर 'प्रकृतिस्थ' कर देती है, जिसकी परम्परामें पुरूरवा और विश्वामित्र हैं, पवन और दुष्यन्त हैं, शिव और शान्तनु, और जिनके पौरुषकी परिणति हैं—ओजस्वी अयुस्, कोमल शकुन्तला, वीर्यवान् अंजनीकुमार हनुमन्त, सिंहविक्रम भरत, देवसेनानी

स्कन्द, सत्यसन्ध भीष्म। शेष तो 'हरिणीखुरमात्रेण मोहितं सकलं जगत्'। भुवनके चरितका यह विज्ञानाभास ही उसके अविकसित मूल उदात्त जिज्ञासापर धुन्धकी भाँति छाकर 'मास्क' बन जाता है—एक झूठा चेहरा जो उसके दोनों रूपोंमें प्रधान है।

भुवन रेखाका मुँह छूता है, उसके साथ विवाहकी बात चलाता है जो पाठकके गले नहीं उतरती। साफ़ लगता है, झूठ है। दूरकी गौरा उस प्रश्नपर व्यंग्य बन उठती है। फिर जब वह रेखासे भागता है, उसके पत्रोंका उत्तर तक न देकर अत्यन्त क्रूरता और कमज़ोरीका आचरण करता है, तब अपनी उदासीनताकी सफ़ाई रेखापर 'अजात' की हत्याका आरोप लगाकर देता है। बीचमें भुवनको कभी उसकी सुध न आयी, आज एकाएक क्यों? और पिताका मोह 'अजात'से नहीं 'जात' से होता है। यह सर्वथा 'अस्वाभाविक' है। पुरुषसे पूछो—उसे प्रिया पुत्रसे प्रियतरा होती है। नारीसे पूछो—उसे पुत्र प्रियसे प्रियतर होता है। सो यह हानि वस्तुतः माँकी है, रेखाकी, भुवनकी नहीं; और भुवनका यह निःसन्तति पितृत्वका आक्रोश सर्वथा पोला हो उठता है, झूठा, बचाव मात्र। पर उदार रेखा उसे भी सह लेती है। 'साझे अनुभवोंका संपुंजन' ही उनके बीच दीवार-सा कैसे खड़ा हो जाता है, समझमें नहीं आता; यदि हम यह न मान लें कि—लेखकके ही शब्दोंमें—"भुवनकी प्रवृत्ति पीछे देखनेकी नहीं थी, हठात् कभी अतीतकी किरण मानसको आलोकित कर जाये, वह दूसरी बात है।" फिर भला भुवन उदीयमान गौराको न देखकर रेखाको क्यों देखे? तुलियनकी ओर पीठ कर मसूरीके निबिड़ निशीथके 'गर्भगृह'को क्यों न देखे, बंगलोरके लॉनको क्यों न देखे, जहाँ उसके समाजसम्मत प्राजापत्यका सफल प्रारम्भ है? इस झूठसे तो वही सच है जो लेखकने स्वयं प्रसंगवश अन्यत्र कह दिया है—"स्त्री होते हुए भी उसने (रेखाने) वह साहस किया है जो शायद भुवनमें नहीं है।" रेखा भुवनकी उस कमज़ोरीको, गौराके प्रति उसकी साधको देख

लेती है। वह उसके पृ० ३५२ पर छपे पत्रमें अभिव्यक्त है। और ३५७ पर प्रकाशित अपने पत्रमें तो वह जैसे उसका प्रच्छन्न अन्तरंग ही खोलकर रख देती है—"तुम्हारे जीवन-पटका एक छोटा-सा फूल (हूँ।) मेरे बिना वह पैटर्न पूरा न होता, लेकिन मैं उस पैटर्नका अन्त नहीं हूँ।" कैसे हो ओ जब आगे गौरा है और अभी अनबुने पटके विस्तारमें जाने कौन-कौन ? भुवनके "भीतर तो कुछ बराबर मरता जा रहा है और कुछ नया उसके स्थानपर भरता जाता है जो स्वयं भी मरा है या जीता है (स्वयं भुवनको) नहीं मालूम।" वह अब गौराके "एक-एक उड़ते ढीठ बालको आशीर्वाद-भरी दृष्टिसे" गिनता है पर उसका यह "अवलोकन बिलकुल नीरव" होता हुआ भी, उसके वक्तव्यके बावजूद भी, "निराग्रह, निःसम्पर्क" नहीं है। गौराके साथ वह शायद अपने अन्तिम "पड़ाव" तक पहुँच गया है। उसके साथ फिर एक बार पुराने 'शिशु' और 'जुगनू' के आलोड़-प्रत्यालोड़ करता है, यद्यपि रेखाके विषादके बाद उसकी स्वाभाविकता बर्बर हो उठती है। परन्तु पृ० ४३० पर उद्घाटित उसकी मनोवृत्ति उस मनोदशाको नंगी करती है, यद्यपि तर्क-वचनके साथ (जो सर्वथा झीना है) कि भावुकताके अन्तरालमें दोनों एक साथ समा सकते हैं, रेखा भी, गौरा भी, शायद और भी। "क्या हम एकके बाद एक नहीं, एक साथ ही एकाधिक जीवन नहीं जीते ?" सही, पर हम उसे दो चेहरोंका जीवन कहते हैं, जेकेल और हाइडका जीवन। फिर संयम क्या वस्तु है ? 'इलाही कैसी-कैसी सूरतें तूने बनायी हैं'....मैं पूछता हूँ, फिर चन्द्रमाधव और भुवनमें अन्तर क्या है ? एक असभ्य चरित्रहीन है, दूसरा सभ्य चरित्रहीन। हमारे समाजपर दोनोंकी कामोदर छाया है, एककी नंगी जिससे हम सतर्क हैं, दूसरेकी प्रच्छन्न जिससे हम मुग्धवंचित हैं। कौन अधिक घातक है, क्या मुझे कहना होगा ?

रेखा गम्भीर, विचारशीला, शिष्ट, व्यक्तिनिष्ठ, भावुक, एकान्तप्रिय, साहसी, मनस्विनी, लीककी चुनौती, असामाजिक। साधारण नारी नहीं

है। समाजमें उसे ढूँढ़ पाना सहज नहीं—यदि उसकी अस्वाभाविक स्वच्छन्दता, आभिजात्य, औदार्य मिल भी जाये तो उसका साहस न मिलेगा, न तप, न चिन्तनशीलता, और सभी एकत्र तो शायद नहीं ही। विवाहिता-परित्यक्ता है, शाश्वत खण्डिताका परिताप वह अभागिनी हिन्दू नारीकी साधनासे सहती है। कोमल-हृदय है, कोमलांगी शकुन्तला, उसीकी भाँति विरहविधुरा 'वसने परिधूसरे वसाना, नियमक्षामधृतैकवेणी ········शुद्धशीला····दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति'। परन्तु उसके जीवनमें दुष्यन्त नहीं है। है, आया है, भुवन, पर वह महाभारतका दुष्यन्त है कालिदासका नहीं, जो उसकी साधनाका समानधर्मा हो सके, तपसे सत्यको साधकर ऊपरका वक्तव्य कर सके, उसे प्रणत होकर अपना सके। रेखा उसे सब-कुछ दे देती है। अपना स्वत्व तक नहीं माँगती, पर पात्रकी अपात्रता उसके औदार्यपर व्यंग्य बन जाती है, उसकी साधना पंगु, वर-विरहित। वह सीपीमें बन्द है, समाजकी नहीं है, उच्च मध्य वर्गकी पुत्तलिका होकर भी उसमें उसका चांचल्य नहीं, स्वभावका गाम्भीर्य है, चिन्तनकी शक्ति है, उस समाजका ओछापन, उसका छिछोरापन, फूहड़पन, आवरणमात्रसे ढका कामुक भुक्खड़पन उसमें नहीं। वह सबको समझती है, चन्द्रमाधवको, गौराको, भुवन तकको—एकको सक्रिय नीचता, दूसरीका आडम्बरहीन शुद्ध अविकृत मानस, तीसरेका सौजन्य, उसका साधारण-भिन्न व्यक्तित्व, उसकी कमज़ोरी और साहसहीनता भी। वह जानती और कहती है—"·····दावँ दोनों (पुरुष और स्त्री) खेलते हैं। लेकिन हम अपना जीवन लगाती हैं और आप—हमारा।" सत्य है, कम-से-कम रेखाके जीवनमें तो निश्चय। उसका जीवन निरन्तर दावँपर लगता रहा, दूसरोंने लगाया, पुरुषने—पहले हेमेन्द्रने (जिसने 'पुं०-प्रिय' की रूपसमताके कारण उसे ब्याहा था), फिर भुवनने (जिसकी क्षणकी साधनाकी देनने उसे यदि नष्ट न कर दिया तो निर्जीव तो कर ही दिया), और फिर रमेशके रूपमें नियतिने (जिसने उसके व्यक्तिनिष्ठ व्यक्तित्वको आवरणहीन व्यक्तित्वहीन

औदार्यकी छाया दी)।

"···रेखा मानो एक शीतल आलोकसे घिरी हुई, उसके आवेष्टनसे सँची हुई, अलग, दूर और अस्पृश्य खड़ी है।" उसके शब्दोंमें, उसकी वाणीमें, चित्रोंको उभारकर सामने रख देनेकी अद्भुत शक्ति है! जो रास्तेवाले (लीकग्राही) हैं उन्हें रास्तेसे एक इंच भी इधर-उधर नहीं ले जाना चाहती। उसकी अपनी बात दूसरी है। कहती है, 'मेरे आगे रास्ता ही नहीं है।' सच है, वह लीकग्राहिणी नहीं है, उसके आगे रास्ता सचमुच नहीं है। एक बार एक पुरुषने उसे खोला है, फिर बन्द कर दिया है, दूसरेने खोला है और सामने 'दीवार' खड़ी कर दी है, तीसरेने फिर खोला है पर वह मनको समझानेका रास्ता है, रास्ता नहीं है, पड़ाव है, जहाँ वह अब बैठ गयी है, जीवनका अन्तिम पड़ाव। उसने "भविष्य मानना ही छोड़ दिया है। भविष्य है ही नहीं, एक निरन्तर विकासमान वर्तमान ही सब-कुछ है।····पानीके फ़व्वारेपर टिकी हुई गेंद····बस जीवन वैसा ही, क्षणोंकी धारापर उछलता हुआ—जबतक धारा है तबतक बिलकुल सुरक्षित, सुस्थापित, नहीं तो पानीपर टिके होनेसे अधिक बेपाया क्या चीज होगी!" चन्द्रके शब्दोंमें रेखा "अत्यन्त रूपवती है, और उसका रूप एक सप्रभाव, तेजोमय पर्सनैलिटीके प्रकाशसे दीप्त है, भले ही एक कड़ा रिज़र्व उस प्रकाशको घेरे है।" सही रेखा रूपवती है, पर उसका चरित्र, उसका साहस, उसकी चुनौती—उसके रूपके आकर्षणसे कहीं उज्ज्वल है। भुवनने रेखाके लिए ठीक कहा है—"एक स्वाधीन व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व प्रतिभाके सहज तेजसे नहीं, दुखकी आँचसे निखरा है। दुःख तोड़ता भी है पर जब नहीं तोड़ता या तोड़ पाता तब व्यक्तिको मुक्त करता है।" यह सिद्धान्त रेखाके जीवनके अधिकांशमें सही है। काश, यह उसके अन्तको भी सार्थक कर सकता! पर वस्तुतः वह अन्त रेखाके प्रकृत जीवनका है ही नहीं, लेखकका उसपर क़लम है, रेखाके जीवन और चरित्रमें वह नहीं पनप पाता। रेखा कहती है—"असलमें मेरे भी दो

पहलू हैं : एक चरित्रवान्, प्रकृत, मुक्त; एक सभ्य और चरित्रहीन।" पर उसका चरित्रहीन होना लेखककी अपनी स्थापना है, रेखाके स्वभाव, कथाके प्रमाणसे अप्रमाणित। वह चरित्रहीन होती तो उसके जीवनमें हेमेन्द्रके अन्य मित्र होते, चन्द्रमाधव होता, कॉफ़ी हाउसके छैले होते, रियासतोंके घिनौने श्रीमान् होते, समाजके पतित सभ्य होते, स्वयं रमेश होता। पर नहीं, उसके जीवनमें इनमें कोई नहीं है, अव्यभिचारिणी निष्ठाके रूपमें मात्र भुवन केवल उसीके स्पर्शसे 'सकल मम देह—मन वीणा सम बाजे'···। वह चरित्रहीन नहीं, उसका बस एक पहलू है—"चरित्रवान्, प्रकृत, मुक्त, सभ्य।" शेष आरोपित है, प्रकृत नहीं। कहती है—"मैं क्षणसे क्षण तक जीती हूँ न, इसलिए कुछ भी अपनी छाप मुझपर नहीं छोड़ जाता। मैं जैसे हर क्षण अपनेको पुनः जिला लेती हूँ।" काश, यह हो पाता! प्रतिज्ञा सत्य न हो सकी। वह क्षण-क्षण नहीं जी पाती। प्रत्यक्ष यदि यह सत्य हो तो उन पत्रोंका शब्द-शब्द झूठा है जो उसने कलकत्तेसे भुवनको लिखे हैं। और वे पत्र अनेक हैं, थोड़े नहीं, और शब्द-बहुल हैं, व्यथित मथे अन्तरंगके वाहन। कहती है—"अब अगले महीनेसे श्रीमती रमेशचन्द्र कहलाऊँगी···मेरे लिए यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है,···मैं तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी, तुम्हारी दी हुई हूँ, और किसीकी कभी नहीं, न कभी हो सकूँगी····।" यह चरित्रहीनताका प्रमाण नहीं है, न क्षण-से-क्षण तक जीनेका अवसाद, वरन् शुद्ध आत्यन्तिक अव्यभिचारी तप और साधनाका अपराजित अज्ञेय विनिश्चय।

वह भुवनको भी पहचान लेती है पर उसका औदार्य उसे जैसे क्षमा कर देता है—"तुम सोओ। अपने स्वप्नके लिए तुम्हें नहीं जगाऊँगी। स्वप्नमें मैंने तुम्हारे प्रिय किसीको देखा था,....वह तुम्हें बहुत प्रिय थी। उसे देखकर मेरे मनमें स्नेह उमड़ आया—ईर्ष्या होनी चाहिए थी पर नहीं हुई। भुवन, मैं तुम्हारे जीवनमें आऊँगी और चली जाऊँगी।" भुवन-का उसके पूछनेपर बार-बार कहना कि वह उसे पहलेसे भी अधिक

चाहता है, इस तथ्यात्मक वक्तव्य अथवा रागात्मक सत्यसे कितना विनिन्दित हो उठता है! आगेकी कथा जैसे रेखाकी नहीं किसी औरकी है। उसका ३६६-६८ पृष्ठवाला पत्र सम्हालकी बात करता है, न सत्यकी न भावनाकी। और जब पृ० ३६९ पर वह कहती है—"मेरी सकतकी दौड़ आगे नहीं है—पर तुम, तुम घूमो, महाराज, मुक्त विचरण करो, प्यार दो और पाओ, सौन्दर्यका सर्जन करो, सुखी होओ, तुम्हारा कल्याण हो…" तब उसका वक्तव्य प्रखर व्यंग्य बन जाता है।

रेखा 'नदीके द्वीप' की अक्षय कीर्ति है। समाजकी वह नहीं है, साधारण समाजकी। परन्तु जो है शक्तिम है। दूसरा चरित्र उस-सा उपन्यासमें खोजता हूँ तो नहीं याद आता—शायद इसलिए भी कि वह असामाजिक है, असामान्य है। पर एक बार जब उसका शक्तिम व्यक्तित्व ऊपर आता है तब जैसे उपन्यासकार उसे सम्हाल नहीं पाता, उसकी शक्ति लेखनीपर वहन नहीं कर पाता। उसका तेज लेखकको अभिभूत कर लेता है। उसकी दृष्टिपर धुन्ध छा जाता है और वह जैसे दिनमणिका तेज अपने उत्तरीयसे ढँक न सकनेके कारण उसे कूड़ेपर फेंक देता है। रेखाका पिछला जीवन—कलकत्तेका रमेशवर्ती जीवन—उसी तेजोराशिका कूड़ेपर फेंका जीवन है। एक हत्या रेखाने 'अजात' को नष्ट करके की, दूसरी 'अज्ञेय' ने रेखाकी हत्या की। साहित्यमें इतने समर्थ चरित्रकी इस अनिष्ठासे कभी हत्या नहीं हुई, विशेषकर जब वह चरित्र खुलनेको पुकार रहा हो। रेखाको भुवनने नहीं 'अज्ञेय' ने मारा, 'नदीके द्वीप' के लेखकने, रेखाके स्रष्टाने।

चन्द्रमाधव। असभ्य, चरित्रहीन, विषयी, वंचक, आचारहीन, कम्युनिस्ट, क्रूर। "चन्द्रमाधवने सनसनी खोजी है? असलमें उसने जीवन खोजा है, तीव्र बहता हुआ प्लावनकारी जीवन…उसे मिली है यह छोटी-छोटी टुच्ची अनुभूतियाँ, चुटकियाँ और चिकोटियाँ…प्यार नहीं, बीवी-बच्चे। स्वातन्त्र्य नहीं, तनखाह। जीवनानन्द नहीं, सहूलियत, घर, जेबखर्च,

सिनेमा, पान-सिगरेट, मित्रोंकी हिर्स……।" आजके अपने समाजके साधारण मानवके सभी लक्षण। 'प्यार नहीं, बीवी-बच्चे' तो अपने समाजकी साधारण स्थिति है, अकेले चन्द्रमाधवकी नहीं। वह 'एक्स्टैसीका जीवन' पसन्द करता है, वह 'क्षणिक भी हो तो उसे ग्राह्य' है—'उसपर सौ सेक्योर जीवन निछावर हैं।' रेखाको जीतनेके लिए उसपर एहसान लादना चाहता है, जब उसकी रुझान भुवनकी ओर देखता है तब ईर्ष्यावश गौराको लिखकर, वस्तुत: सभीको एक-दूसरेके विरुद्ध लिखकर, अपनी तुष्टि करना चाहता है। इयागोकी मूर्ति बन जाता है। रेखा नहीं मिलती, गौराकी ओर झुकता है, वह नहीं मिलती तो हेमेन्द्रको रेखाके विरुद्ध उभाड़ता है, फिर अपनी गृहस्थी सम्हालना चाहता है और जब उसमें भी कामयाब नहीं होता तो रेखाको फिर जीतना चाहता है। पर सर्वत्र उसकी हार है। इतना नीच है कि नौकरानी तकको छेड़ सकता है। उधर अपनी पत्नीके प्रति इतना क्रूर है, बच्चोंके प्रति इतना उदासीन। जर्नलिस्ट है, सनसनीकी खोज उसका पेशा है। ढोंगी, शब्द-बहुल कम्युनिस्ट है। उनके ही प्रतीक-शब्दोंका उचित-अनुचित प्रयोग करता है। उसे किसी प्रकारके नैतिक अवरोध (स्क्रूपुल) नहीं हैं। झूठा, विनिन्दक, स्वार्थी है। 'जितना थोड़ा-सा सुख मिलता है उतना ही आतुर और कृतज्ञ करोंसे ले लेने' को तैयार है। कायर है। जब भुवन-विरोधी पत्रका समुचित उत्तर गौरा दे देती है तब वह घुटने टेक देता है। अपनी ही पत्नीका कन्यादान तक दे देनेकी बात पत्रमें लिख सकता है।

परन्तु चन्द्र सामाजिक है। उसका सम्बन्ध सबसे है। उसका चरित्र साधारण 'विलेन' पात्रके रूपमें तो कुछ बुरा नहीं है पर जिस सिद्धान्तकी हँसी उड़ानेको उसका उपन्यासकारने सृजन किया है वह उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है। प्रगतिशील और कम्युनिस्ट दोनों 'अज्ञेय' के ही साथ उसपर हँस सकते हैं क्योंकि ऐसे व्यक्ति साम्यवाद और प्रगतिवादके 'वलगराइज़र' (फूहड़ बनानेवाले) होनेके कारण दोनोंके शत्रु हैं। पृ० २४६-४७ और

३३२-३३ पर अज्ञेयने साम्यवाद और प्रगतिवादपर पार्टिज़नका-सा प्रहार किया है जो स्वयं हास्यास्पद हो उठा है। इन विचारोंके शत्रुओंका ही साम्यवाद और प्रगतिवादके दलमें भेजा हुआ चन्द्र भेदिया है, संहारक, जिसे वह दल स्वीकार नहीं करता। अच्छा होता यदि अज्ञेयने उनपर प्रहार उनके सिद्धान्तोंके माध्यमसे किया होता, यदि साम्यवादियोंके त्याग, तप, साधना, विचारसरणि, लोकचेतना, लोकहितपर अज्ञेयने आघात किया होता। इससे उस शक्तिका केशलुंचन तक न होगा, ऐसा मेरा विश्वास है, फिर यह शिथिल अपेक्षाकृत फूहड़ आक्रोश उस सफल कृतीकी मर्यादाकी ओर उँगली उठायेगा, मुझे डर है, क्योंकि मैं अज्ञेयके साथ भड़ैती या फूहड़पनका सम्बन्ध नहीं कर सकता। इससे मुझे पीड़ा तो होगी ही, जानता हूँ कि यह उसके स्वभावमें है भी नहीं। मैं विशेषत: यह कह देना चाहता हूँ कि कम्युनिज़्मकी अपनी एक पॉज़िटिव प्रेरणा है, उस फ़िलिस्टिनिज़्मका वह शत्रु है जिसका उद्घाटन पृ० ४०८ पर हुआ है। चन्द्रका वह चरित्र जो पृ० २४० पर उद्घाटित है अपने ऊपर ही व्यंग्य बन गया है क्योंकि कम्युनिस्ट राष्ट्रोंकी नारी-सम्बन्धी चेतनाके अंचल तकका स्पर्श उनसे इतर राष्ट्रोंने नहीं किया। यहाँ नारीको चन्द्र गालियाँ देता है। स्वयं प्रगतिशील इतना उदार है कि वह जापानी युद्ध-सम्बन्धी लेखककी पृ० ३७०-७१ पर प्रकटित स्थापनाको स्वीकार करेगा। पर प्रश्न यह है कि क्या इस सुविधानुकूल स्वानुष्ठित साम्यवादी चन्द्रमाधव और सीपीबद्ध रेखा-भुवनके बीच कोई दुनिया नहीं है? चन्द्रकी पत्नी और गौराके पिताका कोई संसार नहीं है? मैं कहना चाहता हूँ कि उपन्यासपर छाया संसार कोने-कतरेका संसार है, संसार है ही नहीं, द्वीपमात्र है। उपन्यासमें कहीं संकेत तक नहीं मिलता कि इनसे परे भी कोई दुनिया है।

गौरा। सभ्य, चरित्रवान्, सिद्धान्तप्रिय, सुन्दर। पवित्र धीर, शुद्ध प्राजापत्यकी आकांक्षावाली, भावबन्धन प्रेम जिसका मार्ग है, प्रियका

अखण्डित प्रेम जिसका लक्ष्य। रूप जो छलता नहीं, गिराता नहीं, देखनेवालेको ऊपर उठाता है। संयम और सीमा उसमें साकार हुई है। वह पोटेन्शल वधूका कौमार्य है जैसे अतीत पोटेन्शल भविष्यका। "उसका व्यक्तित्व बहुत कोमल है, बहुत सम्पन्न भी।" भुवन मानता है कि "वह आदमी बहुत भाग्यवान् होगा जिसे गौरा-जैसी पत्नी मिलेगी।" उसमें साहस भी है और असम्मत विवाहको अस्वीकार कर देती है। वह रेखा और चन्द्रकी पत्नी, दोनों-से गुणतः भिन्न है। एकके उन्मुक्त स्वातन्त्र्यको उसने संयमसे बाँधा है दूसरीकी अमर्यादा वह अपने लिए नहीं सोच सकती। पर इस दूसरीका तप भी कुछ कम नहीं। वस्तुतः उपन्यासका नारी-पक्ष उसके पुरुष-पक्षसे कहीं सफल है।

यहाँ हम अब थोड़ा उपन्यासके सिद्धान्त-पक्षपर विचार करेंगे। इस पक्षकी ओर ऊपर यत्र-तत्र हम संकेत कर आये हैं। लेखकने अपने सिद्धान्तोंको स्वाभाविक ही अपने पात्रोंकी ज़बानी रखा है। उसके प्रकाशनके लिए वस्तुतः उसने ध्वनि और संकेतका भी सहारा नहीं लिया है, वरन् स्पष्टतया क्षण और द्वीपके प्रतीकोंके रूपमें रखा है। "कालका प्रवाह नहीं, क्षण और क्षण और क्षण...क्षण सनातन है....छोटे-छोटे ओएसिस....सम्पृक्त क्षण...नदीके द्वीप....जो काल-परम्परा नहीं मानता, वह वास्तवमें कालकारण-परम्परा नहीं मानता, तभी वह परिणामोंके प्रति इतनी उपेक्षा रख सकता है—एक तरहसे अनुत्तरदायी है...पर इससे क्या? उत्तर माँगनेवाला कोई दूसरा है ही कौन? मैं ही तो मुझसे उत्तर माँग सकता हूँ? और अगर मैं अपने सामने अनुत्तरदायी हूँ, तो उसका फल मैं भोगूँगा—यानी अपने अनुत्तरदायित्वका उत्तरदायी मैं हूँ..." (पृ० १८०)। "हम जीवनकी नदीके अलग-अलग द्वीप हैं—ऐसे द्वीप स्थिर नहीं होते, नदी निरन्तर उनका भाग्य गढ़ती चलती है; द्वीप अलग-अलग होकर भी निरन्तर घुलते और पुनः बनते रहते हैं—नया घोल, नये अणुओंका मिश्रण, नयी तलछट, एक स्थानसे मिटकर दूसरे स्थानपर

जमते हुए नये द्वीप·····" (पृ० ४१६)। "एक और दूसरा एक"···
'सम्पूर्ण मेरे लिए केवल युक्ति-सत्य है—अपने-आपमें कुछ नहीं, केवल और एकको अन्तहीन आवृत्तिसे पाया हुआ एक काल्पनिक योगफल।" (पृ० २०) "मेरे लिए कालका प्रवाह भी प्रवाह नहीं है, केवल क्षण और क्षण और क्षणका योगफल है—मानवताकी तरह ही काल-प्रवाह भी मेरे लिए युक्ति-सत्य है, वास्तविकता क्षणकी ही है। क्षण सनातन है।" (पृ० ३९)

दृष्टि असामाजिक है, कहना न होगा। और उसके बचावमें लेखक कोई सफ़ाई नहीं पेश करता, उसे सत्य मानकर साहसके साथ निरूपित करता है। निवेदन यह है कि स्थापना दोनों रूपसे ग़लत है—तथ्यकी सत्यतामें भी, व्यावहारिक परिणाममें भी। और यही सिद्धान्त जो उपन्यासका भाव-कलेवर गढ़ता है उसे अकेला, अर्थहीन, उद्देश्यहीन कर देता है, अप्रयुक्त स्वर्णखण्डकी तरह। "कालका प्रवाह नहीं, क्षण और क्षण और क्षण···क्षण सनातन····सम्पृक्त क्षण।" क्या काल-प्रवाहसे भिन्न क्षणका बोध है? क्या काल-प्रवाहसे भिन्न क्षणका अस्तित्व है? क्या स्वयं क्षण सत्यतः विश्लेषणतः इकाई (यूनिट) है? क्या उसके भीतर भी, आकार धारण करते ही, दृष्टि-बोधके पूर्वसे ही अनन्त संघात-सम्पदा नहीं है? क्या संघातके रूपमें क्षण (अपनी अणोरणीयान् इकाइयोंमें) के भीतर ही महतो महीयान्की संगति नहीं है? कणोंका संघात अपने महतो महीयान् रूपमें सृष्टिकी संज्ञा (विश्वकी) अर्जित करता है और यही विश्व अनन्तकी यूनिट है, महतो महीयान्का अणोरणीयान्। उसी प्रकार वह यूनिट भी, वह कण भी, वह अणु भी, वह क्षण भी, अपने संघात रूपमें, अणोरणीयान्का महत् अथवा महतो महीयान् रूप है, परन्तु अपने भीतर भी वह अपने यूनिटके रूपमें अणोरणीयान्को निहित रखता है, यानी कि यदि हम संघात (दृष्ट-परोक्ष)=महतो महीयान्का दर्शन करें (चाक्षुष् अथवा मानस), तो उसमें अणोरणीयान्की संज्ञा निहित होगी और अविभाज्य

रूपमें। सम्पूर्णकी स्थिति अणुसे है पर बोध-रूप मात्रमें, सम्पृक्तसे अलग नहीं, विश्लेषण-मात्रके लिए अलग। क्षण काल-प्रवाहसे अलग नहीं, उसकी सर्जक शक्ति-प्रवाहसे भिन्न नहीं, उसका बोध भी वहीं है, प्रवाहमें। प्रवाहका सावधित्व क्षण है, क्षणोंकी अनन्त सम्पृक्त संज्ञा प्रवाह है, पर सम्पृक्त संज्ञा—एक और एक और एकका जोड़ नहीं—एकका कारण एक, एकका कार्य एक, दूसरा एक पहले एकका कार्य, दूसरा स्वयं अगले एकका कारण, पहला एक पिछले एकका कार्य। दोनों कारण और कार्य, दोनों कार्य और कारण, कारणोंकी अटूट शृंखला। एक इसलिए कि दूसरा, दूसरा इसलिए कि एक। मानव अकेला परिणाम, स्वयं परिणामका कारण, जनक, मानव-शृंखलासे अभिन्न; शृंखला स्वयं ऐसी अनन्त प्राणवान्, सापेक्ष्य प्राणवान्, अप्राणवान् शृंखलाओंके समानान्तर, संकर, ओत-प्रोत, उनका अभिसृष्ट और सर्जक, इससे एकस्थ सम्पदाका परिचायक। और जहाँ क्षण, अणु, कण, मानव, काल-प्रवाह, संघात, जल-प्रवाह, समाजसे भिन्न, वहाँ उसकी मृत्यु, सत्ताका अन्त, अस्तित्वकी अगोचरता। पर यह भिन्नताकी स्थिति क्या सम्भव भी है? ऊपर संकेत कर चुका हूँ, नहीं। मानव अकेला कैसा? वह प्रकृतिसिद्ध जलवायुका यथेच्छ सेवन करनेमें स्वतन्त्र है पर मानवसिद्ध अभिसृष्टियोंके सेवनमें नहीं, 'इकॅनॉमिक नीड्स'—आवश्यकताओं—की पूर्तिमें नहीं क्योंकि आविष्कृत वस्तु-सम्पदा समाजकी समवेत क्रिया-शक्तिका परिणाम है। अकेला मानव, काल-प्रवाहका क्षण, नदीका द्वीप वैसे ही निस्पन्द है जैसे मानवके स्वतन्त्र अवयव, अवयवोंकी स्वतन्त्र त्वचा, मज्जा, अस्थियाँ और उनके अपने-अपने स्वतन्त्र अणु। प्रकाशकी भाँति समाजमें मानवकी इकाई है और जैसे प्रकाशका अणु प्रकाशकी संज्ञा सार्थक नहीं कर सकता, द्वीप-मानव भी समाजका नहीं। वैसे वह केवल जमुनाके कछारमें 'मैन फ्राइडे' बनकर बालूके घर-मात्र बना सकता है, पलकें मात्र ही चूम सकता है। पर उन पलकोंको जीवित रखनेके लिए भी उसे उन स्थूल अकाल्पनिक उद्यमसाध्य समवेत मानव

समाजक्रिया-जनित आवश्यकता-पूरक वस्तुओंकी ओर देखना होगा, कॉफ़ी हाउस तकके लिए, कुदसिया बाग़ तकके लिए, नौकुछिया ताल तकके लिए, तुलियन तकके लिए, मसूरी, बर्मा, इण्डोनेशिया, बंगलोर तकके लिए भी, और उस विज्ञानकी तो बात ही अलग है जिसका उपन्यासमें आभास-मात्र मिलता है । आश्चर्य तो यह कि उपन्यासका सिद्धान्त रेखाके भ्रूण-विसर्जन और उसके परिणामसे रक्षाके लिए सर्वथा अवैयक्तिक निःशेष सामाजिक चिकित्साका उपयोग तो कर लेता है पर उसके प्रति अपने उत्तरदायित्वको नहीं सोचता । यह कृतघ्नता है । बालकसे पूछिए, क्या खाते हो ? कहेगा, रोटी । पूछिए, रोटी कहाँसे आती है ? कहेगा गेहूँसे जो बाज़ारसे आता है । पिताके कमाये रुपयोंसे । पूछिए, पिता कहाँसे कमाते हैं ? कहेगा, कमाते हैं, बस कमाते हैं । सच, बालक उत्तरदायी नहीं है; पर पिता है, क्योंकि सक्रिय समाजका वह अंग है, उस समाजका जिसके समवेत उद्योगकी लब्धि पिताकी कमाई है । उसके प्रति अनेक प्रकारसे वह उत्तरदायी भी है और उसके अनुत्तरदायित्वका वह उससे ब्योरा भी ले सकता है । इससे जमुनाके कछार और उसकी तुलियनमें परिणतिकी सम्भावना सिद्ध करनेवाला समाज कहेगा कि हम उसके पृष्ठ-पर हैं, हम उसके कारण हैं, और तुम बालक नहीं हो, तुम्हें अपने अनुत्तरदायित्वका उत्तर देना होगा । आख़िर अज्ञेयको बताना न होगा, चेरवान्तिस और डेनिस्लरिफ़ो भी अकेले नहीं हैं, उनके पीछे भी एक विस्तृत 'सम्पृक्त' समाज है ।

दृष्टिकोणकी यह ख़ामी ही उपन्यासगत पात्रों-परिस्थितियोंको असामाजिक और स्वार्थपर बना देती है । रेखा कहती है, "हम दोनों ऐसे आत्म-निर्भर, स्वतः सम्पूर्ण हैं कि सहज ही बहकर, सिमटकर अलग हो जा सकते हैं—अपनी-अपनी सीपियोंमें बन्द, अन्तरंग अनुभूतिके छोटे-छोटे द्वीप और इस प्रकार बरसों जीते रह सकते हैं, मौन, शान्त, लेकिन एकांगी···" (पृ० ३१०) यह लोटस-ईटर्सको प्रमादपूर्ण निष्क्रिय स्थिति

किसे ग्राह्य हो सकती है ? और इसमें 'बहने' का भाव तो द्वीपस्थताके समक्ष कोई अर्थ ही नहीं रखता क्योंकि उसे यदि बहना हम कह भी सकें तो वह भँवरकी तरह है, प्रवाहके भँवरकी तरह, जो प्रवाहको गति तो नहीं देता, उसमें प्रवाह वाहित है। हाँ उसके अनिष्टके रूपमें पास आयी हुई चीज़ोंको उदरस्थ अवश्य करता जाता है, प्रवाहसे अपना इष्ट बेशर्मीसे खींचता जाता है, और स्वार्थ-परिणति, क्षण-सुख, काम-निष्पत्तिको 'फुलिफ़लमेण्ट' (पृ० २०७,२१२) मानता है।

समाज-विमुख 'सीपीबद्ध' मानव अपनेसे बाहरकी सत्ता स्वीकार नहीं करता और अपने फुलिफ़लमेण्टके लिए एकान्त ढूँढ़ता है। उपन्यास एकान्त-खोजकी एक अटूट श्रृंखला उपस्थित करता है। और यह एकान्त मिथुनका है। एकान्तमें मिथुनको पारस्परिक अनुचेतना मैथुनकी अभिसृष्टि करती है। कारण कि उन्हें अपनेसे बाहर तृतीयका बोध नहीं। जिसकी चेतना सामाजिक नहीं वह एकान्तमें 'डेविल्स वर्कशॉप' का अनुष्ठान करता है, और मिथुन, सामाजिक सक्रियतासे विमुख एक-दूसरेकी ओर देखता है, उसीमें अपनी इयत्ता मान, लक्ष्यके अभावमें एक-दूसरेपर प्रहार करता है, वह अन्योन्य रागाचरण करता है जिसे मैथुन कहते हैं। क्योंकि वहाँ तप नहीं है, केवल विलास है; परिणाममें रेखा है जो, यद्यपि अद्‌भुत रसपुंजमात्र है, बिखर जाती है। और जहाँ तप है, सामाजिक रूप है (चाहे सीमित अलक्ष्य रूपमें ही क्यों नहीं), वहाँ व्यवस्थित गौराका प्रादुर्भाव होता है जो उदीयमान है, सामाजिक व्यवस्थाकी सामाजिक इकाई है, जो आधारकी ईंट बन जाती है।

एकान्तका विलास उपन्यासमें इतना व्यापक हो उठा है कि लगता है यत्र-तत्र दार्शनिक विवेचना भी उसीकी पुष्टि, उसीके बचावके लिए है। अमित खुले विलासका विस्तार पुस्तकमें आद्योपान्त है। विलास जीवनका कारण उसकी कोमलताका परिचायक है, पर मात्रामें अमर्यादित होकर वह 'विषय' और 'व्यसन' बन जाता है। स्वच्छन्द साहित्यके पोषकोंके

लिए चाहे वह कामका पेटूपन ग्राह्य हो पर समाजसचेत साहित्यिक उसे अशिव ही मानेगा। आदिसे अन्त तक उस विलासकी उपन्यासमें व्यास है। उसीका बीज, उसीका अंकुरण-पोषण, उसीका पाक-पचन। विलासान्ध भुवन नौकुछियाके तालमें भी लखनऊके वाजिदअलीके तालाबके जलप्रच्छन्न कक्षोंकी भाँति 'नौ कक्ष' ढूँढ़ता है (पृ० १६७), अश्लील होते भी उसे देर नहीं लगती। तुलियनमें रसाप्लावनके बाद रेखा जब चाँदनीमें बैठती है तब उसे भुवन देखता है और वह लजा जाती है। पर खेमेमें लौटकर कोक पण्डितकी कथा कहते वह नहीं लजाती। यह अस्वाभाविक तो है ही। अश्लील भी है। मैं विलासकी व्यापक सत्ता मानकर उसकी नंगीसे नंगी स्थिति भी स्वीकार कर सकता हूँ पर कोक पण्डितकी कहानी-में जिस स्थितिकी ओर संकेत है उसे मैं अश्लील मानूँगा। इसे और स्पष्ट करनेके लिए कह देना चाहूँगा कि मैं पुस्तकको बाक़ी सारी विलास-सम्पदाको अश्लील नहीं मानता यद्यपि अज्ञेयकी अश्लीलताकी परिभाषा मुझे स्वीकार नहीं—(जो) "जीवनको उभारती है उसे अश्लीलता नहीं कहना चाहिए" (पृ० २८९), पर जीवन-भर जो जीवन यानी विलासको उभारता रहे उसे क्या कहेंगे ? और पुस्तक-भरमें जीवनका दूसरा रूप तो प्रस्तुत है नहीं। विलासकी यह मात्रा वस्तुतः इतनी बढ़ जाती है कि भुवन और रेखापर 'धुन्ध' छा जाता है। वे डूबते सूरजका पीछा करते हैं, लय होते दिनका। ऋषिके शब्दोंमें पुकार उठनेकी इच्छा होती है, देखना कहीं पाश्चात्यता (नाशकी संज्ञा, मरीचिका, अन्धकार) में न गिर जाना ! मा मा प्रापत्प्रतीचिका ! वरन् आगे रात है। "धुन्धकी दीवार : कहीं कोई दिशा नहीं, क्षितिज नहीं, दोनों धुन्धमें खो गये, केवल वे दोनों (निश्चय, केवल वे दोनों !) तम्बूका चँदोवा, और धुन्ध, धुन्ध, व्यापक, धुन्ध···" (पृ० २०५)।

अकेले-अकेले मिथुन बढ़ते जाते हैं, द्वीपसे, खुले संसारमें अकेले, कॉफ़ी-हाउसमें अकेले, कुदसिया बाग़में अकेले, जमुनाकी कछारमें अकेले,

नौकुछिया तालमें अकेले, तुलियनमें अकेले, सर्वत्र अकेले, पानीके फ़व्वारे-पर अपनी गेंद टिका निर्माणकी सम्भावना असम्भव करते। और यह स्थिति कितनी ही बार तो इतनी बेजा हो उठती है कि भरे स्टेशन-पर रेखा, चाहे जितना धीरे-धीरे, गाने लग जाती है।

द्वीप-द्वीप, मिथुन-मिथुन उपन्यास बढ़ता है। विराट् प्रकृति भी, तुलियन और नौकुछियामें भी, उसके भरे मनमें प्रवेश नहीं कर पाती, उद्दीपक-साधक-मात्र बनकर रह जाती है। खुली प्रकृतिके प्रशस्त प्रांगणमें भी जैसे उच्च मध्यवर्गका यह द्वीप, यह सोपीबद्ध जीवन जा पहुँचता है। जहाँ-तहाँ जब-तब इक्के-दुक्के जीव सीपीकी राहमें टकरा जाते हैं पर वे उसके नहीं हैं, वह उनकी नहीं है। 'शेखर—एक जीवनी' इससे कितना भिन्न है? ट्रेनकी भीड़, काँग्रेसका अधिवेशन, जेलका कमरा, शेखर, शारदा, शशि, विद्याभूषण, सदाशिव, दादा सभी जीवित संसारके प्राणी हैं, प्रवाहके कण, उसके भँवर नहीं! 'नदीके द्वीप' में भुवन और रेखा संसारसे दूर हट, समाजकी सीमाकारिणी मर्यादा-तर्जनीकी पहुँचसे दूर, उसका सब-कुछ त्याग अपना नंगा विलास उसे दिखाते हैं। और उसका अन्त है नैराश्य। रेखा क्या कहती है?—"विद्रोह मुझमें नहीं है, सम्पूर्ण नैराश्य ही है, इतना सम्पूर्ण कि अब उसकी दुहाई कभी नहीं दूँगी···" (पृ० ३५६)। नैराश्य उस समाज-विमुख एकान्ध "धुन्ध' का सहज निगमन है।

कलकत्तेकी चिट्ठियोंके बाद 'नदीके द्वीप' समाप्त हो जाना चाहिए था। बादकी कथा उपसंहारमात्र है, नीरस। उपन्यासकारको यह जान लेना चाहिए कि कृतिमें स्थिर कुछ नहीं, कथामें यदि कोई प्रसंग रसको बढ़ाता नहीं तो उसे वह घटाता ज़रूर है। वह अंश रेखाके चरित्रका विरोधी भी है। वस्तुतः इसी समय उसका सशक्त मानस चित्रण माँगता है। सुन्दर होता यदि उपन्यासकारने उसके नये संघर्षका चित्र खींचा होता, गौराके आडम्बर-हीन कल्याणकर गार्हस्थ्यका भी, चन्द्रमाधवकी

पत्नीके धीर तपशील उपेक्षित स्वीकृत है जीवनका भी।

कुछ लोगोंको अज्ञेयकी शैलीमें अवतरणोंका बाहुल्य शायद खटके, मुझे नहीं खटकता। अवतरण बोलनेवालोंकी अनुभूतिके अंग बन गये हैं, उनके मानसका उद्घाटन करते हैं। काश, लॉरेन्सका विद्रोह भी कहीं होता—'लेडी चैटर्लीज़ लवर' की सामाजिक भूमिका!

'नदीके द्वीप' की कला, जैसा पहले कह चुका हूँ, सफल है; उसका सिद्धान्त समाज-विरोधी, ग़लत। उपन्यासके रूपमें उसका-सा अपने साहित्यमें कुछ नहीं है। मैं उसे हिन्दीके छह सर्वश्रेष्ठ उपन्यासोंमें गिनता हूँ, जिनमें दो अज्ञेयके ही हैं। व्यंजना और बौद्धिक बारीकी उसमें गहरी है। भावोंकी बारीकी, उसका सहज विन्यास साहित्यकी सुईकारी है। पर अफ़सोस कि उपन्यास पढ़कर 'सत्यनारायण' की कथा याद आ जाती है—सुन्दर पके फलमें कीड़े!

● ●

नेमिचन्द्र जैन

हिन्दी उपन्यासकी एक नयी दिशा*

यह स्वाभाविक ही है कि पिछले कुछेक वर्षोंमें हिन्दीके बहुत-से उपन्यासकारोंने प्रेमचन्दके बाद फिरसे देहाती जीवनको लेकर उपन्यास लिखे हैं। शायद यह अनिवार्य ही था कि शहरी जीवनकी कुण्ठा और घुटनसे उकतानेपर नये साहित्यकार गाँवोंके अपेक्षाकृत सहज और अकृत्रिम जीवनके प्रति झुकते, अथवा उसमें रस और सुन्दरताकी खोज करते। क्योंकि चाहे जिन कारणोंसे सही, आजके शहरी जीवनको, विशेषकर मध्यवर्गीय शहरी जीवनको, एकरसता और आत्माभिमुखताने चारों ओरसे घेर लिया है। इस एकरसता तथा आत्माभिमुखताको आप चाहे जैसे तीक्ष्ण, सूक्ष्म और संवेदनशील मनसे परखें, उनमें जीवनके कवित्वके लिए स्थान नहीं, ऐसा उन्मुक्त खुला नीला आसमान नहीं कि मन निर्बन्ध उड़ जाये और शिखरोंकी खोज कर सके। इसलिए यदि खुलेपन और सहज रस-स्रोतकी खोजमें साहित्यकार देहातके जीवनकी ओर मुड़े तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

किन्तु श्रीफणीश्वरनाथ रेणुका उपन्यास 'मैला आँचल' इसी खोजकी एक कड़ी होकर भी देहाती जीवनपर पिछले दिनों लिखे गये सभी उपन्यासोंसे भिन्न है, और विशिष्ट भी; क्योंकि अन्य अधिकांश उपन्यासकार देहातकी ओर मुड़कर भी जैसे उसे ऊपरसे ही देखते रहे, अथवा देहाती जीवनकी जड़ता अथवा बाहरसे आरोपित संघर्षमयी परिवर्त्तनशीलतामें

*मैला आँचल : फणीश्वरनाथ रेणु

उलझ गये। एक प्रकारसे उन्होंने गाँवके जीवनको मूलत: शहरी दृष्टिसे देखा और वे देहातकी समस्याओंको शहरके चौखटेमें रखकर काटते-छाँटते रहे। देहाती जीवनकी आत्मासे उनका साक्षात्कार ही जैसे नहीं हुआ; न उसकी गहरी तिक्ततासे, न उसके निर्झर-जैसे फूटते सरल काव्यमय सौन्दर्यसे। इसीसे इन अधिकांश तथाकथित ग्रामीण उपन्यासोंमें ज़िन्दगीकी धड़कन नहीं महसूस होती, देहातके जीवनकी अपनी गतिके आभासकी तो बात ही दूरकी है।

'मैला आँचल' की सबसे अद्‍भुत विशेषता यही है कि उसमें मिथिलाके निरन्तर बदलते हुए आजके एक गाँवकी आत्माकी गाथा है। और यह गाँव सर्वथा विशिष्ट होकर भी केवल मिथिलाका ही नहीं, जैसे उत्तर भारतका प्रत्येक गाँव है, जो सदियोंसे सोते-सोते अब जागकर अँगड़ाई ले रहा है। भारतीय देहातके मर्मका इतना सरस और भावप्रवण चित्रण हिन्दीमें सम्भवत: पहले कभी नहीं हुआ। पिछले महायुद्ध और उसके बादकी घटनाओंने, विशेषकर स्वाधीनता-प्राप्तिने, जैसे हमारे देशको बहुत गहराई तक झकझोर दिया है, उसमें ऐसी उथल-पुथल मचा दी है कि जीवनके अनगिनती नये-नये पर्त उघड़कर सामने आ गये हैं, और नित-नयी गतिसे निरन्तर आते जा रहे हैं। इस गतिके कारण होनेवाले सतही परिवर्तनोंका चित्र हिन्दीकी और भी कई रचनाओंमें मिलता है; पर 'मैला आँचल' में उसके फलस्वरूप देहातोंकी आत्मामें होनेवाले आलोडन और विक्षोभकी झाँकी है। मेरीगंज पुरैनिया अथवा पूर्णिया ज़िलेका एक छोटा-सा गाँव है जिसमें तिरहुतके प्राकृतिक सौन्दर्यके बीच, धानके लहलहाते खेतों, कमलोंसे भरे हुए सरोवरों-पोखरों और ताड़के वनोंके साथ, कमला नदीके किनारे, उत्तरी भारतके अन्य सहस्रों ग्रामोंकी भाँति, जीवन अपनी परिचित गतिसे चलता रहता है। महायुद्ध और देशव्यापी स्वाधीनता-आन्दोलनकी लहरोंने यहाँके जीवनमें कम्पन पैदा नहीं किया हो, यह बात नहीं। पर आधुनिक जीवनसे मेरीगंजका पूरा

और वास्तविक सम्पर्क तब होता है जब वहाँ मलेरिया-सम्बन्धी अनुसन्धानके उद्देश्यसे डॉक्टर प्रशान्त एक अस्पताल खोलनेके लिए आता है। अचानक ही मानो उस गाँवके सामाजिक, राजनीतिक, मानसिक, आध्यात्मिक जीवनकी अनगिनती सतहें खुल पड़ती हैं। लगता है, जैसे बहुत दिनसे रुद्ध जीवन एकाएक मार्ग पाकर हहराता हुआ दौड़ पड़ा हो। देहातकी ऊपरसे दीखनेवाली स्थिरता और शान्ति, बल्कि जडता तथा निष्क्रियता जैसे नष्ट हो जाती है। 'मैला आँचल' के लेखकने इस विक्षुब्ध ज़िन्दगीके ही बहुत-से स्तर, बहुत-से पर्त, बहुत-से पहलू इस उपन्यासमें प्रस्तुत किये हैं। और यही नहीं, ये तमाम स्तर और पहलू इस प्रकार कितने ही भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओंसे दिखाये गये हैं कि जीवन एक साथ कई एक सिम्तोंमें हमारे सामने प्रस्तुत होता है, बहुत-कुछ चल-चित्रकी भाँति समग्र होकर भी और अलग-अलग भी, दूरसे भी और समीपसे भी।

यही कारण है कि यह कहना पर्याप्त अथवा महत्त्वपूर्ण नहीं है कि लेखकका देहाती जीवनसे परिचय बड़ा घनिष्ठ है। परिचयकी इस घनिष्ठतासे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है वह दृष्टिबिन्दु, जिसके कारण जीवन एक नये गति-सूत्रसे बँधा, खिंचता और बदलता हुआ दीखता है। सारे सामाजिक सम्बन्ध एक नये दृष्टिक्रममें दिखाई पड़ते हैं, टूटते, बनते, बिगड़ते, टूटते और फिर बनते। जीवन अपने मौलिक, सहज-प्रवाही रूपमें यहाँ है। इसीसे उसमें इतना रस है, इतना संगीत और कवित्व है, इतनी तीव्रता और इतना दर्द है। मठपर नये महन्तको चादर मिलनेका आयोजन, बिदापति नाच, होलीका उत्सव और उस अवसरपर डॉक्टर प्रशान्त तथा कमलीका परस्पर आत्मप्रकटीकरण, अपनी माँको याद करते-करते डॉक्टरका अत्मविश्लेषण, सन्थालोंका मेरीगंजके अन्य निवासियोंसे संघर्ष, बावनदासकी मृत्यु आदि ऐसे अनगिनती स्थल हैं जिनमें सौन्दर्यबोध-मूलक संयम और अकृत्रिम सहज भावावेशका एक उत्कृष्ट सम्मिश्रण है जो सदा मर्मस्पर्शी कलाको जन्म देता है। और इन स्थलोंके चित्रणमें लेखक सरसता

और शक्ति, कलात्मक अभिव्यक्ति और व्यापक सहानुभूतिके नये मान उपस्थित करनेमें सफल हुआ है। वास्तवमें 'मैला आँचल' की विशिष्टता इसमें नहीं है कि उसमें देहाती जीवनका बहुत गहरा अध्ययन है, अथवा सामाजिक समस्याओं और उनके निदानके दार्शनिक आधार उसमें मौजूद हैं, अथवा युग-युग-व्यापी जीवन-सत्योंका उद्घाटन लेखक कर सका है। उसकी विशिष्टता है उस अपूर्व आत्मीयतामें जिसके साथ लेखकने गाँवके जीवनकी समस्त कटुता और संगीतको, सरलता और विकृतिको, स्वार्थ-परता और सामाजिक एकसूत्रताको, अज्ञान और मौलिक नैतिक संस्कार-को सँजोया है। इतनी तरल भावावेशपूर्ण उत्कटतासे शायद ही किसीने ग्रामीण जीवनको देखा हो—शरद और प्रेमचन्दने भी नहीं, ताराशंकर बनर्जीने भी नहीं। 'मैला आँचल' की यह भाव-तरलता हिन्दीके श्रेष्ठतम व्यक्तिप्रधान उपन्यासोंसे—'शेखर', 'नदीके द्वीप', 'परख', 'त्यागपत्र', 'नारी' आदि सभीसे—तुलनीय है। देहाती जीवनको लेकर लिखे जाने-वाले साहित्यको इस उपन्यासकी यह सबसे बड़ी देन है। देहातके जीवन-को रेणुने कर्तव्य-पालनकी भावनासे प्रेरित होकर नहीं देखा है। यह कहा जाता है कि मौजूदा युग भारतवर्षमें किसान-क्रान्तिका युग है, जिसमें क्रान्तिकी मुख्य भूमिका किसान-वर्गके हाथमें है। इस ज्ञानसे लैस होकर बहुत-से नये प्रतिभावान (तथा प्रतिभाशून्य) हिन्दी लेखकोंने देहाती जीवनकी ओर अपनी दृष्टि लगायी है और उससे प्रेरणा ग्रहण करके लिखनेका यत्न किया है। दुर्भाग्यवश उनमें अधिकांशमें कर्तव्य-बोध अधिक और सौन्दर्य-बोध कम प्रकट हो पाया है। उनमें सैद्धान्तिक और विचार-धाराजन्य पुष्टता और प्रामाणिकता चाहे जितनी हो, साहित्य-सृजनके लिए अनिवार्य रूपसे आवश्यक अनुभवकी उष्णताका लगभग अभाव है। बहुत बार तो इन लेखकोंके निजी व्यक्तिगत अनुभवको भी आत्मीयताहीन शुष्क सिद्धान्तपरकताने विकृत और रसविहीन कर दिया है।

'मैला आँचल' इस दृष्टिसे इस कोटिके सभी हिन्दी उपन्यासोंसे भिन्न

है। उसके लेखकने देहाती जीवनको अत्यन्त ही आत्मीय और कवित्वपूर्ण दृष्टिसे देखा है। मैं बहुत जान-बूझकर इस दृष्टिको 'कवित्वपूर्ण' कहता हूँ। क्योंकि विशेषकर यथार्थवादके नामपर राजनीतिक मतवादके दुराग्रहके फलस्वरूप पिछले दिनोंमें साहित्यकार सबसे अधिक वंचित होता गया है इसी कवित्वपूर्ण दृष्टिसे, यद्यपि मूलतः यही साहित्यकारकी अपनी दृष्टि है। जीवनके सत्यको पकड़नेमें, उसमें और मनोवैज्ञानिक तथा इतिहास-कारमें भिन्नता इसी दृष्टिकी ही भिन्नताके कारण है। वह मानव-आत्मा-का शिल्पी इसलिए ही होता है कि वह जीवनके काव्यका, उसकी सरसता और सौन्दर्यका, विकृति और विसंगतिके पंकके बीचसे झाँकते-मुसकराते कमलका द्रष्टा होता है। मैं जीवनके इस सौरभकी पहचानको ही कवित्व-पूर्ण दृष्टि कहता हूँ। 'मैला आँचल'का लेखक इस सौरभसे न केवल स्वयं उन्मत्त हुआ है, वह औरोंको भी उससे उन्मत्त करनेमें सफल हो सका। स्पष्ट ही जीवनके प्रति यह दृष्टि नीरस और सतही तथाकथित यथार्थवादी दृष्टिसे भिन्न है। उसमें यथार्थके खोलपर आँख मूँदकर आग्रह नहीं है। बहुत बार इस खोलकी कुत्सामें अथवा उसकी विषाक्त तिक्ततामें बहुत-से लेखक अपना सन्तुलन खो बैठते हैं और उन्हें कुछ भी सुन्दर और मनोरम, सुकुमार और स्निग्ध कहीं दीखता ही नहीं। अथवा दीखता भी है तो वे उसे प्रासंगिक और भ्रामक मान लेते हैं, पथभ्रष्ट करनेवाली मृगमरीचिका-की भाँति। 'मैला आँचल' के लेखकको जीवनकी सुन्दरतासे, बहुमुखी मनोरमतासे प्यार है, उसकी भव्यता और महत्तासे प्यार है। इसीसे उसके किसी भी पात्रके चित्रणमें आवश्यक सिद्धान्तगत विद्वेष नहीं, दुराग्रहपूर्ण पक्षधरता नहीं है।

'मैला आँचल' के पात्रोंको इसीसे हम कई सिम्तोंमें देखते हैं और अन्तमें गहरी मानवी सहानुभूति और आस्थाकी छाप वे हमारे मनपर छोड़ जाते हैं। बालदेव और कालीचरन, लक्ष्मी और महन्त सेवादास, तहसील-दार विश्वनाथ प्रसाद और बावनदास, सभी जीते-जागते पात्र हैं, जिन्हें

हम आदर्श कहें अथवा न कहें, पर जिन्हें हमारी सहानुभूति अवश्य मिलती है। उनकी दुर्बलताएँ मानवताके भविष्यमें हमारी आस्थाको कम नहीं करतीं। दूसरे भी जितने पात्र इस उपन्यासमें आते हैं उनमें सदा एक अपना जीवित व्यक्तित्व मौजूद रहता है। उपन्यास-भरमें ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं जहाँ अतिनाटकीयता अथवा अतिभावुकता लेखकके विवेक-पर हावी हो गयी हो। दूसरी ओर कहीं भी किसी ऊपरसे थोपी हुई, दुराग्रहपूर्ण नैतिकताका सहारा लेखक नहीं लेता। ऐसी नैतिकताके सहारे कभी भी जीवनको संस्कार देनेवाले साहित्यका निर्माण नहीं होता। यद्यपि साहित्यको जीवनकी प्रगतिका अस्त्र माननेवाले साहित्यकारके लिए यही सबसे बड़ा खतरा है कि वह ऐसे ही किसी नैतिक चौखटेको प्रगति-का पर्यायवाची मान ले और उसमें ही जीवन्त इनसानोंको ठूँस-ठूँसकर बिठानेका प्रयत्न करता रह जाये।

इस सिलसिलेमें 'मैला आँचल'की एक और विशेषताकी ओर भी ध्यान दिया जा सकता है। वह है उपन्यासमें राजनीतिका समावेश। राजनीति और सृजनशील साहित्यका सम्बन्ध आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रकी बुनियादी समस्या हो गयी है। क्या राजनीति साहित्यमें वर्जित है? राजनीतिकी समस्याओंको उठाने-मात्रसे ही क्या साहित्य प्रचारात्मक हो जाता है? क्या साहित्यका प्रमुख धर्म यही है कि वह किसी-न-किसी राजनीतिक आन्दोलनका समर्थक पक्षधर हो? ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनसे आज साहित्यका पाठक तथा समीक्षक बच नहीं सकता।

यहाँ एक बात तो निस्संकोच कही जा सकती है कि जो स्थान मध्ययुगके जीवनमें धर्मको, धार्मिक विश्वासों और धार्मिक मतवादोंको प्राप्त था, लगभग वही आज राजनीति, राजनीतिक विश्वासों और आन्दोलनोंको प्राप्त है। इसीलिए आजका सर्जनात्मक साहित्य राजनीतिसे बचकर चलनेका दम्भ करे तो वह या तो झूठा सिद्ध होगा अथवा घातक। किन्तु यह बात भी सही है कि मध्ययुगीय जीवनमें धार्मिक विश्वास

जिस प्रकारकी नैतिक-चारित्रिक दृढ़ता, निष्ठा और आस्था व्यक्तित्वको, विशेषकर साहित्यिक व्यक्तित्वको, प्रदान करता था, वैसी निष्ठा आजके राजनीतिक मतवादसे प्राप्त नहीं हो पाती। कारण शायद इसका यही है कि धार्मिक विश्वास, मतवादी असहिष्णुता और कट्टरतासे जुड़ा हुआ होनेपर भी मूलत: व्यक्तिकी आत्माका संस्कार कर पाता था और साहित्य-कारको, तथा अन्य कलाकारोंको भी, उससे एक ऐसी आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती थी, जिससे वह दूसरोंके अन्तरको छूने और स्पन्दित करनेमें सफल होता था। दूसरी ओर आजके राजनीतिक विश्वासोंका मौलिक सम्बन्ध समाजके बाहरी संगठन और व्यवस्थासे है, आत्माके संस्कारका प्रश्न गौण और केवल प्रासंगिक रूपमें ही उसमें निहित रहता है। परिणामत: यह आशंका रहती है कि राजनीतिक विश्वासों और मतवाद-पर आधारित आजका साहित्य जीवनके ऊपरी खोलसे ही उलझकर रह जाये। पिछले पन्द्रह-बीस वर्षोंके अपने ही नहीं, देश-विदेशके अन्य साहित्योंपर भी दृष्टि डालें तो इस बातकी पुष्टि होगी। जीवनमें राज-नीतिक मतवादका बढ़ता हुआ आग्रह अन्तत: बाह्य और रूपगत तत्त्वोंकी प्रधानता स्थापित करता है। साहित्यमें उसके फलस्वरूप मानवीय सहानुभूतिके ह्रास, आत्मीयताके अभाव और निष्ठाहीनता तथा आस्था-हीनताको प्रधानता मिलती है। राजनीतिमें इनसानको मूलत: टुकड़ोंमें बाँटकर देखनेपर ज़ोर होता है, जब कि साहित्यका मूल स्वर मानवकी मौलिक एकता ही है अथवा होना चाहिए। इसलिए आजके साहित्यिक कृतित्वमें प्राण-प्रतिष्ठाके लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि साहित्यकार राजनीतिको जीवनके परिपार्श्वके रूपमें, बाह्य व्यवस्थाके रूपमें, देख सके। राजनीतिक धारणाएँ, विश्वास, विचारधाराएँ, पार्टियाँ, संगठन या तो समाज-व्यवस्थाके ऐसे आधुनिकतम रूप हैं जिनमें होकर जीवित व्यक्तित्वका प्रवाह अनिवार्य है, अथवा वे आजके जीवनके नियामक अनुभवका एक अंश-भर हैं, सम्पूर्ण जीवन नहीं। यही नहीं कि समूचे

समाजको आर्थिक-राजनीतिक विश्वासों और वर्गोंमें सीमित करके पूरी तरह नहीं देखा-समझा जा सकता, बल्कि किसी एक व्यक्तिको भी केवल राजनीतिक मान्यताओंमें घेर रखना क़रीब-क़रीब असम्भव है। सतत प्रवहमान जीवन तमाम राजनीतिक विचार-धाराओं और व्यवस्थाओंको चीरता हुआ निकल जाता है। वह निश्चय ही अपेक्षाकृत अस्थायी राजनीतिक विश्वासोंसे कहीं बृहत्तर है।

राजनीतिक विचारधाराओंके प्रभावमें लिखे गये हिन्दीके उपन्यासोंमें प्रायः जीवनकी विविधता और व्यापक संवेदनशीलताके स्थानपर केवल बौद्धिक शब्दजालको प्रश्रय मिलता रहा है। उसमें बहुरूपी, बल्कि परस्परविरोधी जीवन्त तत्त्वोंसे निर्मित सक्रिय इनसानोंके स्थानपर विकलांग और कठपुतलियों-जैसे चरित्रोंकी भरमार रही है। 'मैला आँचल'में इस परिस्थितिको काटकर सजीव इनसानोंकी सृष्टिका शुभ और बहुत-कुछ सफल प्रयत्न है। 'मैला आँचल'में राजनीति जीवनकी पृष्ठभूमिके रूपमें ही है जो पात्रोंके व्यक्तित्वको और भी उभारती है, चारों ओरसे घेरकर उनका गला नहीं घोंटती। इस उपन्यासमें विभिन्न राजनीतिक मतवाद, पार्टियाँ, संगठन, समस्याएँ यथास्थान मौजूद हैं और वे विभिन्न पात्रोंके व्यक्तित्वोंके नये-नये पक्षोंको उजागर करते हैं, उन्हें एक ठोस भौतिक आधार प्रदान करते हैं, उनके सुख-दुःख और आशाओं-विश्वासोंको, उनकी मान्यताओं और मर्यादाओंको, वास्तविकताकी एक नयी सिम्त प्रदान करते हैं। यह भी कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राजनीतिक मतवादों और वर्गगत संघर्षके चित्रणमें लेखकने बड़े भारी आत्म-संयमसे काम लिया है और यद्यपि उसकी अपनी निजी सहानुभूतिकी दिशा क़रीब-क़रीब स्पष्ट है, तो भी उसने किसी भी विचारधाराको अथवा अपने किसी संस्थागत पक्षपातको अपने जीवनबोध और सौन्दर्यबोधपर हावी नहीं होने दिया है। आप शायद सहमत हों कि हिन्दीके कथा-साहित्यके मौजूदा दौरमें यह बहुत बड़ी सफलता है।

वर्गवादी कट्टरतासे बच सकनेके कारण ही 'मैला आँचल'का लेखक मिथिलाके इस अंचलकी लोककलाके, विशेषकर लोक-संगीत, गीत और नृत्यके वैभवको भी तन्मयतासे प्रस्तुत कर सका है। भारतवर्षकी अतुलनीय लोक-संस्कृतिकी अपूर्व सम्पत्तिका इस पुस्तकमें सर्वथा नवीन उपयोग है। वह कभी न थमनेवाले किन्तु सर्वथा संवेदनशील पार्श्वसंगीतकी भाँति हैं जिसमें जीवनके रंगमंचपर चलनेवाले नाटककी हर बदलती भावदशाके अनुरूप नयी लय है, नया स्वर-विन्यास है, नये बोल हैं, नयी नृत्य-भंगिमाएँ हैं। अन्त तक लेखकने अपने इस विवेकको बनाये रखा है कि जिनके जीवनमें संगीत और लय है वे सुखमें विभोर होनेपर भी गाते और नाचते हैं और दुःखसे आक्रान्त होनेपर भी। लोकजीवनमें संगीत और नृत्यको एक नयी प्रतिष्ठा इस उपन्यासने प्रदान की है जो निश्चय ही केवल आंचलिक नहीं है।

मूल भाववस्तुके साथ लेखकके सम्बन्धकी ये कुछेक विशेषताएँ 'मैला आंचल'में बेजोड़ हैं। इसलिए विस्तारसे उनका उल्लेख आवश्यक हुआ है, क्योंकि निस्सन्देह उसने हिन्दी-उपन्यासके क्षेत्रमें न केवल नयी मान्यताओंकी प्रतिष्ठा की है, बल्कि नयी दिशाएँ खोल दी हैं, नयी सम्भावनाओंके क्षेत्र उजागर कर दिये हैं। बहुत दिनोंसे हिन्दीके उपन्यास एक घेरेके अथवा एकसे अधिक घेरोंके भीतर चक्कर काटते जान पड़ते थे। 'मैला आँचल' ने बीचमें पड़े हुए पत्थर हटाकर और झाड़-झंखाड़ोंको तोड़कर एक नया मार्ग प्रशस्त किया है।

इसलिए यह लगभग अनिवार्य ही है कि उस मार्गमें न केवल अभी भी अनेक ऊँचे-नीचे प्रस्तरखण्ड पड़े मिलें, बल्कि वह स्वयं स्थान-स्थानपर इतना भटक गया हो कि बहुत बार सारा श्रम व्यर्थ और सर्वथा अनावश्यक जान पड़े। इसलिए मौलिक भाववस्तुके प्रति लेखकके दृष्टिकोणसे हटकर यदि हम समूची कृतिपर विचार करें तो लगता है कि कुल मिलाकर उसमें नये निर्झरकी निर्मल स्वच्छता और चमक तो है पर जीवनकी गहराई नहीं

है। 'मैला आँचल'का एक भी पात्र ऐसा नहीं है, जिसे 'क्लासिक' कहा जा सके, जिसमें होरी, धनिया, शेखर, मृणाल, राजा रामनाथकी भाँति भारतीय जीवनके किसी-न-किसी अंशका प्रतीक बननेकी क्षमता हो। बावनदास बालदेव और लक्ष्मीमें ही कभी-कभी हलकी-सी ऐसी झलक दिखाई पड़ती है; पर वह भी इतनी क्षीण, दुर्बल और क्षणिक है कि उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। दूसरी ओर प्रशान्त, कमली, तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद आदि पात्रोंके साथ लेखकका तादात्म्य इतना अधिक है कि उन्हें वह अन्त तक ठीक दृष्टि-क्रममें प्रस्तुत नहीं कर सका है। वे बहुत-सी भली-बुरी सम्भावनाओंके पुंज-भर हैं, सक्षम प्राणवान चरित्र नहीं। ऐसा निरन्तर लगता है कि अपनी स्वस्थ सहानुभूतियोंके बावजूद लेखक अभी अपनी आस्थाके आधार खोज रहा है। जितना जीवनकी गतिकी तीव्रताका आभास 'मैला आँचल' में होता है उतना उसकी गम्भीरता और स्थिरताका नहीं। नये जीवनके दबावने मेरीगंज गाँवमें उथल-पुथल मचा दी, जीवनके पुराने मान चरमरा उठे, ढहने लगे, नये सामाजिक तत्त्व ऊपर उभरे, नयी मान्यताएँ बनती-सी जान पड़ीं। पर फिर? लगता है लेखकको भी आगेका रास्ता नहीं मालूम। क्या यह वही रास्ता है जो प्रशान्तके लिए ममता और कमलीने तय कर दिया है—मेरीगंज छोड़कर पटना जानेका? तो फिर मेरीगंज? इसका कोई उत्तर नहीं है। यह ठीक है कि उसका उत्तर देनेकी अनिवार्य ज़िम्मेदारी लेखकपर नहीं है। यहाँतकका हाल उसने जैसा बना वैसा कह सुनाया। साथ ही यह तो सर्वथा अनावश्यक था, बल्कि घातक होता, कि लेखक कोई उत्तर गढ़कर सामने रखता; किन्तु इससे इस बातकी सचाईमें कोई अन्तर नहीं पड़ता कि उसकी दृष्टिमें जितनी सरसता और आत्मीयता है, जितना कवित्व है, उतनी प्रौढ़ता और परिपक्वता नहीं। इसीसे अन्त तक पहुँचते-पहुँचते मेरीगंजकी घटनाएँ जैसे लेखकके नियन्त्रणसे बाहर चली जाती हैं और लगभग स्वतन्त्र-सी इधर-उधर टकराती रहती हैं। फलस्वरूप विस्तार

बढ़ जाता है और शिथिलता आने लगती है।

कुल मिलाकर जो बात भाववस्तुके बारेमें कही गयी है वही इस उपन्यासके शिल्पके बारेमें भी सही है। उसके शिल्पमें नवीनता है। विभिन्न भावों, मनोदशाओं और घटनाओंको तथा बहुत-से व्यक्तियों और समूहोंके कार्यों और भाववेगोंको एक नये ढंगसे बार-बार 'टेलिस्कोप' करनेकी पद्धतिसे एक साथ ही गतिका और स्थिरताका, दूरीका और समीपताका प्रभाव उत्पन्न होता है। पूरा उपन्यास एक फ़िल्म-जैसा लगता है जिसके पार्श्व-संगीतमें मादल और ढोल और लोकगीतोंके मादक स्वर निरन्तर सुनाई पड़ते रहते हैं; किन्तु विलक्षणताके बावजूद टैकनीकमें प्रयोगात्मकता अधिक है और कोई प्रभाव टिकने नहीं पाता। एक तसवीर बनती है और मिट जाती है, फिर दूसरी बनती है और वह भी मिट जाती है। एक सीमाके बाद यह प्रक्रिया रस-सृष्टिमें बहुत सहायक सिद्ध नहीं होती। लगता है मानो समूचा उपन्यास अनगिनती रेखा-चित्रोंका पुंज हो, जो एकके बाद एक आते हैं और चले जाते हैं। कथा-प्रवाहमें सूत्रका अभाव लगता है। ऐसा लगता है कि विभिन्न भाव एक बड़े भारी वाद्यवृन्दके अलग-अलग वाद्य हों, जिनकी स्वर-संगति अपनी-अपनी जगह ठीक होते हुए भी उनके सम्मिलित प्रवाहमें समन्वित नहीं है। लगता है, कुछ विवादी स्वर लग रहे हों, अथवा कुछ संवादी स्वर ध्वनियोंकी विविधतामें कहीं खो गये हों। शायद यही कारण है कि बहुत-से पाठकोंको पढ़नेमें रोचकताका अभाव लगा है। कइयोंने शिकायत की है कि उसे अन्त तक पढ़ सकना कष्टसाध्य है, बीचमें ही मन ऊब जाता है। साधारण पाठककी यह प्रतिक्रिया लेखकके लिए चेतावनी है कि शिल्प-विधानमें नवीनता ही सब-कुछ नहीं है। इस बातका विवेक भी बहुत ही आवश्यक है कि नवीनता किस सीमाके बाद प्रेषणीयताको नष्ट करने लगती है।

शिल्प-सम्बन्धी चर्चाके सिलसिलेमें इस उपन्यासकी भाषा और आंच-

लिकतापर भी थोड़ा-सा विचार आवश्यक है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि लेखक वातावरणकी विशिष्टताके निर्माणमें सफल हुआ है। 'मैला आँचल' के मेरीगंजकी आत्माकी कथा समूचे उत्तर भारतके गाँवोंकी प्राण-गाथा होते हुए भी, बाह्य रूपकी दृष्टिसे मेरीगंज चाहे-कोई गाँव नहीं हो सकता; वह पूर्णतः एक विशेष गाँव ही है जिसका प्राकृतिक परिवेश जितना भिन्न है, उसके निवासियोंका आचार-व्यवहार और भाषा भी उतनी ही भिन्न है। यह अपने-आपमें एक महत्त्वपूर्ण सफलता है, क्योंकि यह स्थानीयता उपन्यासकी व्यापक रसोपलब्धिमें कहीं बाधा डालती है, ऐसा नहीं लगता।

भाषा-सम्बन्धी स्थानीय प्रयोगोंको लेकर अवश्य एक आशंका है कि लेखक उसीमें उलझकर अपने क्षेत्रको सीमित न कर ले। इस सम्बन्धमें शायद एक बात कही जा सकती है कि सीमित मात्रामें शब्दोंके वे स्थानीय रूप तो स्वीकृत हो सकते हैं जो उनके शुद्ध रूपके अपेक्षाकृत इतने समीप हैं कि शुद्ध रूप पाठकको तुरन्त सूझ जाये, जैसे 'गन्ही महातमा', 'जवाहिरलाल', 'डागडर' इत्यादि। किन्तु जो रूप इतने स्थानीय हों कि उनको समझनेके लिए पीछे दी हुई तालिका देखनेकी आवश्यकता पड़े, उनका प्रयोग यदि न हो तो शायद अधिक उपयोगी होगा। वैसे जो लोग देहातके जीवनसे एकदम अपरिचित हैं उन्हें विभिन्न क्रियाओं और वस्तुओंके ही ऐसे अनगिनती शब्दोंका सामना करना ही पड़ेगा जो उनके लिए सर्वथा अपरिचित हैं पर जिन्हें निकाला नहीं जा सकता। वास्तवमें इस प्रश्नपर भी कोई नियम बनाना असम्भव है। लेखकका कलात्मक बोध ही उसकी कसौटी हो सकता है।

'मैला आँचल' हिन्दी-उपन्यास-जगत्में एक धूमकेतुकी भाँति प्रकट हुआ है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। यह स्वाभाविक ही था कि उसके बारेमें पहली प्रतिक्रिया बड़ी प्रबल हुई और अधिकांश पाठक और समीक्षक उसकी नवीनताके ज्वारमें बह गये। इसलिए यह भी अनिवार्य था

कि उसकी तुलना प्रेमचन्द और 'गोदान' से की गयी। इसीके फलस्वरूप शायद अब दूसरी• प्रतिक्रिया यह है कि वास्तवमें उपन्यासमें इतना अपूर्व कुछ नहीं है। शायद ये दोनों ही धारणाएँ एकांगी और ग़लत हैं। मूलतः यह 'मैला आँचल'के लेखकके साथ भी अन्याय है और प्रेमचन्दके साथ भी। 'गोदान' और 'मैला आँचल'में साम्य केवल ऊपरी है। दोनों उपन्यासोंका न केवल युग भिन्न है बल्कि दोनोंकी मूल भाववस्तु भी भिन्न है। और दोनोंके लेखकोंके व्यक्तित्वकी प्रौढ़तामें तो धरती-आसमान-का अन्तर है। जैसा ऊपर ही कहा गया है कि 'मैला आँचल' में युगजन्य दबावके फलस्वरूप तीव्रतासे बदलते हुए ग्रामकी गतिका चित्र अवश्य है, पर उसमें 'गोदान'-जैसी वह 'क्लासिक' तसवीर नहीं है, जो युगों तक मिटती नहीं। 'मैला आँचल' के पात्र एक युगकी उपज हैं जो जितनी तेज़ी-से आते हैं उतनी ही तेज़ीसे गतिचक्रमें विलीन भी हो जाते हैं। 'गोदान'के होरी और धनिया अजन्ताके भित्तिचित्रोंकी भाँति हैं जो सैकड़ों वर्ष बाद भी उतने ही प्राणवान और जीवन्त बने हुए हैं, क्योंकि उनकी प्रेरणाका स्रोत क्षणिक नहीं, मौलिक और युग-युगव्यापी है।

वास्तवमें 'मैला आँचल'का महत्त्व नये दिशा-दर्शनमें है, हिन्दीके इस या उस लेखकसे श्रेष्ठतर होनेमें नहीं। उसकी विशिष्टता इस बातमें है कि वह राजनीतिक फ़ार्मूलों और सिद्धान्तोंकी मारामारी तथा खूनखच्चर-से हटाकर फिरसे हमें ग्रामवासिनी भारतमाताके मैले, धूल-भरे, श्यामल आँचल तले, आँसूसे भीगी हुई धरतीपर लहलहाते हुए प्यारके पौधोंकी ओर खींच ले चलता है जहाँ असाढ़के बादल मादल बजाते हैं, बिजली नाचती है और पुरवैयाके झोंकोंके साथ खेतोंमें ज़िन्दगी झूम उठती है।

● ●

यशपाल

पकड़के बाहरका यथार्थ*

'जयवर्धन' श्री जैनेन्द्रकुमारका पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली-द्वारा प्रकाशित नवीनतम उपन्यास है। जैनेन्द्रजीने हिन्दी-साहित्यमें प्रखर औपन्यासिक प्रतिभा लेकर क़दम रखा था। उनकी आरम्भिक रचना 'परख' और तदुपरान्त 'त्याग पत्र' ने भी हिन्दी-कथा-साहित्यपर उनकी गहरी छाप दी थी। उन रचनाओंमें विकासके अंकुर पाकर प्रेमचन्दजी तथा साहित्यके अन्य पारखियोंने जैनेन्द्रजीसे बहुत ऊँचे स्तरका कथा-साहित्य पानेकी सम्भावना प्रकट की थी। जैनेन्द्रजी कुछ-कुछ अन्तर और व्यवधानसे लिखते ही रहे हैं। गत वर्षोंमें उनके छोटे उपन्यास 'व्यतीत' और 'सुखदा' प्रकाशित हुए हैं। उनके कृतित्वकी फ़िलहाल अन्तिम सृष्टि 'जयवर्धन' है। जैनेन्द्रजीने कैसी परिपक्वता प्राप्त की है और भविष्यमें उनसे क्या सम्भावनाएँ हो सकती हैं, इस परिचयके लिए 'जयवर्धन' का विवेचन सहायक हो सकेगा।

जैनेन्द्रजीने 'जयवर्धन' उपन्यास आज से लगभग पचास वर्ष आगे आनेवाले भविष्यकी कल्पना करके लिखा है। भविष्य-कल्पना-द्वारा समाजके कार्य-कलाप और व्यवहारका अनुमान करनेका प्रयोजन कुछ सीमा तक कौतूहल उत्पन्न करना और समाजके विकास अथवा ह्रासकी सम्भावनाओंके प्रति संकेत करना होता है। 'जयवर्धन' के लेखकका प्रयोजन कौतूहल उत्पन्न करना नहीं रहा। पूरे उपन्यासमें पचास वर्ष

---

* जयवर्धन : जैनेन्द्रकुमार

पश्चात् औद्योगिक विकाससे—यदि जैनेन्द्रजी उसे विकास न कहना चाहते तो—या यन्त्रोंकी सहायतासे भारतीय समाजके जीवन-व्यवहारमें जिन परिवर्तनोंकी आशा या आशंका की जा सकती है उनका पुस्तकमें कोई परिचय नहीं दिया गया। 'जयवर्धन' के पाठकको आजसे पचास वर्ष बादकी दिल्ली या बम्बई आजकी दिल्ली या बम्बईसे कुछ भी पृथक् नहीं जान पड़ेगी। भविष्यकी कल्पनापर लिखे राहुल सांकृत्यायन, एच० जी० वेल्स और हक्सलेके उपन्यासों, 'बाईसवीं सदी', 'मैशीन ऐण्ड टाइम' और 'एप ऐण्ड एसेन्स' या 'दी ब्रेव यंग वर्ल्ड',-जैसे कौतूहलकी सृष्टि करते हैं, उसका आकर्षण जैनेन्द्रजीको नहीं रहा। जैनेन्द्रजीने राहुल, वेल्स और हक्सलेकी भाँति भविष्यमें भारतीय समाजके विचारोंको बेचैन करनेवाली अथवा नयी विचारधाराको प्रोत्साहन देनेवाली आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियोंका कुछ इंगित करना भी आवश्यक नहीं समझा। 'जयवर्धन' को पढ़ते समय पाठकको कल्पनाकी पृष्ठभूमिमें उसका आजका परिचित समाज ही रहता है परन्तु उसके पात्रोंके सम्भाषण अवश्य विचित्र जान पड़ते हैं। लेखकने अपने पात्रोंके सम्भाषणों-द्वारा ही अपनी रचनाके प्रयोजन अर्थात् समाजके भावी विकास और ह्रासकी सम्भावनाओंको व्यक्त करनेका यत्न किया है।

पुस्तकके आरम्भमें पूर्वपरिचय या समर्पणके रूपमें जैनेन्द्रजीने लिखा है—"जयवर्धन पाठकके पास आ तो रहा है, पर कह नहीं सकता कितना वह उपन्यास सिद्ध होगा। राजनीतिने दुनियाको संकटमें डाल दिया है। उसका कहना है, राजका यह रूप हो, नहीं तो दूसरेमें पड़ना होगा, जैसे और त्राण न हो, यों तनाव फैलता है और युद्ध अनिवार्य होता जाता है। पंचशील कामकी बात है पर शस्त्रास्त्र निर्माणके साथ उसका प्रकट अनमोल नहीं दीखता फिर वह रोगके निदानमें भी नहीं उतरता। जो हो, और बातोंके साथ मेरे मनपर वह संकट भी छाया रहा है।" पाठक अनुमान करेगा कि समाजमें शासन या राजको किसी-न-किसी रूपमें

आवश्यक समझा जाना जैनेन्द्रजीके लिए त्रासका कारण है। भिन्न-भिन्न देशोंमें शासनों या राज्योंका होना युद्धको अनिवार्य बना रहा है। पंचशील बेकामकी बात तो नहीं, परन्तु वह शासनके किसी-न-किसी रूपको आवश्यक बनाये रखने और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न करनेवाले कारणोंका निवारण नहीं कर पाता। इस संकटकी छायासे प्रेरित होकर या त्रस्त होकर जैनेन्द्रजीने 'जयवर्धन' उपन्यासमें मानव-समाजके लिए राज्यको आवश्यक न समझे जानेके और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धोंके कारणोंको दूर कर सकनेके मार्गकी विवेचना कहानीके माध्यमसे की होगी।

'जनवर्धन' उपन्यासकी कहानीका शरीर एक अमेरिकन पत्रकार बिल्बर शोल्डन हूस्टनकी २१ फ़रवरी २००७ से १५ अप्रैल २००७ तक भारतमें लिखी डायरी है। हूस्टन भारतमें उससे पूर्व दो बार संवाददाताके रूपमें आ चुका है। तीसरी बार वह भारतके तत्कालीन राष्ट्राधिप 'जयवर्धन' पर एक पुस्तक लिखनेके लिए भारतमें आया है। हूस्टनका परिचय या हूस्टनकी डायरीका परिचय देते हुए जैनेन्द्रजीने कहा है कि पत्रकारिताके क्षेत्रमें दार्शनिकता सुलभ नहीं होती, न उपयुक्त ही होती है; परन्तु हूस्टन दार्शनिक थे। अर्थात् पाठक 'जयवर्धन' उपन्यासमें दार्शनिक दृष्टिकोणके लिए प्रस्तुत रहे। दार्शनिक हूस्टनने 'जयवर्धन' का परिचय दार्शनिकके रूपमें दिया है। इस प्रकार पुस्तकमें गूढ़तर दार्शनिक विचारोंकी विवेचना और व्याख्याओंकी सम्भावना बन जाती है।

हूस्टन भारतमें संवाददाताकी स्थितिमें आता है। वह राजनीतिक अतिथि या कूटनीतिक सेवामें नहीं है परन्तु राष्ट्राधिपके भवनमें अतिथि बन जाता है। भारत-सरकारके आधुनिक व्यवहारके अनुसार यह बात व्यावहारिक नहीं लगेगी। राष्ट्राधिपके भवनमें एक व्यक्ति हूस्टनसे मिलने आकर अपना विशेष परिचय दिये बिना उसे चेतावनी दे जाता है। जयवर्धन बे-रीढ़का आदमी है। हर उन्नतिका शत्रु वह है। वही असल बाधा है। प्रतिगामी शक्तियोंके लिए एक सहारा है वह। वही प्रगतिमें

अवरोध है।" कहानी आगे जाकर बताती है इस व्यक्तिका नाम इन्दुमोहन है। वह एक अति सबल, आतंक मार्गमें आस्था रखनेवाले दलका प्रतिनिधि है।

हूस्टन देशमें चारों ओर आन्दोलनकी गरमी पाता है। जयवर्धन शान्त और तटस्थ है। जयवर्धन बहुमतके दलके नेताके रूपमें राष्ट्राधिप है। इस दलका नाम 'राष्ट्रीय-महासभा' है यह केवल कहानीके अन्तमें मालूम होता है। इस दलका कार्यक्रम क्या है, यह कहानीके अन्तमें भी मालूम नहीं हो पाता। जयवर्धनके विरोधी तीन राजनीतिक दल हैं। इनमें-से एक दलके प्रतिनिधि आचार्य हैं जो हूस्टनके आनेके समय जेलमें हैं। आचार्यकी पुत्री इला जयवर्धनके साथ राजमहलमें रहती है। वह जयकी सखी, संरक्षिका, प्रेमिका सभी कुछ है, परन्तु जयसे उसका विवाह नहीं हुआ है।

उपन्यासमें आचार्यके दलके संगठन, उसके नाम, कार्यक्रम अथवा उसके सार्वजनिक प्रभावका कोई परिचय नहीं मिलता। आचार्यके विचारों-की एक झाँकी वार्तालापोंसे मिलती है। आचार्य गान्धीजीकी छाया हैं। वे जैनेन्द्रजीकी भाषामें गान्धीजीके यन्त्र-विरोधी विचारोंको प्रकट करते हैं। चरखा कातना आत्मिक शान्तिका उपाय मानते हैं। वार्तालापमें ऐसा भी आभास मिलता है कि जयवर्धन कभी आचार्यका शिष्य अथवा अनुगत रहा होगा। उदाहरण "जयवर्धन, हाँ भूला है। वह प्रपंचमें पड़ गया है, सीखा था, भौतिक माया है, आत्मा ही है, सो है। राजपर पहुँचकर जयवर्धन यह भुला बैठा दीखता है। यह चरखा देखते हो, पर वह कातना भूल गया है। सुनता हूँ चरखा कातनेकी बातपर वह अब हँस भी लेता है। अंकोंमें वह रहने लगा है। इसलिए परिणाममें उसे मोह उपजा है।"[1]

---

१. पृ० ३५।

आचार्यको गान्धीजीकी भाँति प्रार्थनामें अपार आस्था है—"मायामें जो हम भूलते हैं, तो वह माया भी तो ईश्वरकी आज्ञासे ही मोहजाल लेकर आती है, इसीसे मैं यहाँ बैठा प्रार्थना करने और चरखा कातनेके सिवाय और कुछ कर्म अपने लिए नहीं देखता हूँ।"[1] आचार्य गान्धीजीका ही रूप नहीं रह सके, क्योंकि आचार्यके गान्धीवादमें जैनेन्द्रजीके अकर्मवाद-का भी पुट मिल गया है।

राजनीति और कूटनीतिके व्यवहारका मामूली मोटा परिचय रखनेवाला पाठक आश्चर्य करेगा कि हूस्टन २१ फ़रवरीको दिल्ली पहुँचता है और ३ मार्चको जयवर्धन और आचार्यमें समझौता करा सकनेके लिए आचार्यसे जेलमें भेंट कर बातचीत करता दिखाई देता है। हूस्टन चाहे जितना दार्शनिक रहा हो, राष्ट्राधिपको देशमें उसके अतिरिक्त और कोई व्यक्ति ऐसे कामके लिए लभ्य न होना विस्मयकी बात है, जो कहानीके प्रति अविश्वास अथवा अयथार्थका सन्देह उत्पन्न करती है। अस्तु—

हूस्टन जय और आचार्यके बीच विरोधका कारण भाँपनेके लिए प्रश्न करता है—"आप उद्योगीकरण नहीं चाहते तो—"

आचार्य टोक देते हैं—"उद्योग कहते हो, प्रमाद क्यों नहीं कहते? आलस्य क्यों नहीं कहते? उद्योग मशीनपर डालकर खुद उद्यमसे बचनेका ही तो वह बहाना है। फ़ुरसत चाहिए, यह क्यों नहीं कहते, मौत चाहिए।"[2] जैनेन्द्रजीने आचार्यको विचारोंकी मर्यादाके रूपमें और जयको व्यवहारकी मर्यादाके रूपमें रखा है। इसलिए उपरोक्त विचारको जैनेन्द्र-जीका संसारको त्राण दे सकनेवाला दर्शक माना जा सकता है।

जैनेन्द्रजीने राजनीतिक और राजसे समाजको त्राणका मार्ग सुझानेके लिए जिस दर्शनका अनुमोदन किया है उसके बौद्धिक या आध्यात्मिक पक्ष-को भी आचार्यकी वाणीमें इस प्रकार दिया है—"शान्ति नकारात्मक ही

१. पृ० ३६।
२. पृ० ३६।

है। हम नकारको ग़लत समझते हैं। पर जब हम नकार होते हैं, तब जो है वह मिट नहीं जाता, बल्कि वह खुला अवसर पाता है। हमारे यहाँ ध्यान है, योग है, यह सब एक तरह नकारकी साधना है, पर वह हमारे जीवनमें भारतके जीवनमें वृथा नहीं हुआ है।"

हूस्टन शंका करता है—"क्षमा कीजिएगा, क्या यह मुँह फेरना नहीं है, पलायन नहीं है?"

आचार्यका उत्तर है—"है, लेकिन वह अशुभ नहीं, शुभ है।"[1]

जयका राजके उत्तरदायित्वसे यह शुभ पलायन ही उपन्यासकी परिणति है।

हूस्टन आचार्यसे पूछता है—"पर क्या मैं कुछ नहीं कर सकता जिससे आपके बीचकी दूरी दूर हो?"

आचार्यका उत्तर है—"पर तुम भूलते हो, भाई, वह दूरी नहीं है, निकटता है—निकटता न सह पानेपर कभी ज़बरदस्ती दीवारें बीचमें खड़ी कर ली जाती हैं। कहा न कि ईश्वरकी करनी है। हम तुम या कोई इसमें कुछ नहीं कर सकते।"[2] इसी निकटताके परिणाममें आचार्य जेलमें हैं। इला भी कहती है कि जयके मार्गमें संकट न बननेके लिए ही आचार्य जेलमें रहना चाहते हैं। जय अपने राजनीतिक दलके शासनके स्थानपर एक सर्वदलीय शासन और मन्त्रिमण्डल बना सकनेकी चिन्तामें है। बहुत ही शीघ्र ८ मार्चको हूस्टनको हम जयके अत्यन्त प्रबल विरोधी स्वामी चिदानन्दसे जय और स्वामीके मतका विरोध दूर करनेके लिए बात करते पाते हैं। 'जयवर्मन' की कहानीमें यथार्थकी भ्रान्ति स्थापन करनेके लिए पाठकको यह विश्वास करना होगा कि २००७ ईसवीमें २१ फ़रवरीसे १५ अप्रैल तक राज्यके लिए भारतमें हूस्टनसे अधिक भारतका हितकारी और सुलझा हुआ कोई दूसरा व्यक्ति न था।

---

१. पृ० २६।
२. पृ० ५६।

स्वामी चिदानन्द भारतकी आध्यात्मिक, नैतिक और व्यावहारिक परम्परामें ही भारतकी आत्माकी रक्षा देखते हैं। वे हूस्टनसे कहते हैं—"हर गतिसे स्थिति चलित होती है यद्यपि पुष्ट भी होती है। प्रतिकूलतासे भारत कभी डरा नहीं है। हम खुलकर उस सबके प्रतिकूल है जो पदार्थोन्मुख है, आत्मोन्मुख नहीं है, हम मर्यादा-हीनताके प्रतिकूल हैं, भोगाचारके प्रतिकूल हैं, और क्या आप कह सकते हैं राज्य इस बारेमें शिथिल नहीं है ?"

चिदानन्दको जयकी नीतिसे कहाँ विरोध है यह स्पष्ट नहीं, परन्तु उन्हें जय और इलाका अविवाहित सम्बन्ध सह्य नहीं है। यही उनके विरोधका कारण जान पड़ता है। वे कहते हैं—"नैतिकतासे अलग जीवन टिक नहीं सकता। यह सुविधाका प्रश्न नहीं है सनातनका प्रश्न है और नीतिके स्रोत हमारे धर्म-शास्त्र हैं। समाज राजसे नहीं चलता, धर्मसे, धर्मज्ञसे, धर्म-शास्त्रसे चलता है। यह निरा बुद्धिका प्रमाद है जो राज्यको सम्पूर्ण स्वत्वाधिकारी मानता है।"[1] चिदानन्द धर्मशास्त्रको अपौरुषेय, पुरुष-द्वारा निस्सृत, प्रणीत नहीं मानते हैं : उनका कहना है—"गो-ब्राह्मण-प्रधान संस्कृति ही भारतीय हो सकती है। तदनुकूल यहाँकी राजनीति हो, वैसी अर्थरचना—यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। इससे जौ-भर इधर-उधर जाना नहीं हो सकता।"

चिदानन्द जयसे किसी भी प्रकार समझौता सम्भव नहीं समझते। इलाके विषयमें उनका मत है—"वह अनिष्टकारिणी है, तबतक राज्यका क्षेम नहीं है। यह क्या दुस्साहस है कि न विवाह करती है, न साथ छोड़ती है, न लज्जित होना सीखती है। हमारा देश मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रको जानता है। हमारा आदर्श रामराज्य है। मुझे यही विस्मय है कि भारतीय जन कैसे इस अधमाचारको एक क्षणके लिए भी सह सका और सह रहा

---

१. पृ० ७१।

है।....कलंक सिंहासनपर शोभा पा रहा है। यह विपर्यास जबतक समक्ष है, किसी सहयोग, किसी सम्भावनाकी बात ही नहीं उठती।"[1] इसमें वे किसी-किन्तुका अवकाश नहीं समझते। कहते हैं—"इला मेरी कन्या होती तो जीवित नहीं रह सकती थी।"

स्त्रीके विषयमें चिदानन्दका मत है, "स्त्री कोमल है क्योंकि वह बल चाहती है, बलका प्रयोग चाहती है, उसके बिना वह अशान्त है। सब खतरेको शान्त करनेका उपाय है, स्त्रीके लिए वह पुरुष है।"

जैनेन्द्रजीके चिदानन्दको प्रतिच्छाया भी आधुनिक भारतीय समाजमें मिल सकती है। वहाँ उन्होंने अपनी दृष्टिसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक सेनाके विचारोंको अभिव्यक्ति दी है परन्तु उनके नेताको भी जैनेन्द्र प्रकृतिका पुट दिये बिना नहीं रह सके हैं।

जय या जयके शासनका विरोधी तीसरा दल नाथदम्पतिका है। नाथकी पत्नी एलिजाबेथ हंगेरियन है। इस दलका नाम अस्पष्ट तौरसे जैनेन्द्रजीने प्रगतिवादी दल दिया है और उसकी मान्यता इस प्रकार बतायी है—"यथार्थ और संगठनमें उन्हें विश्वास है। उनके अनुसार मनुष्य मूलत: प्राण है और वहाँ अच्छा या बुरा नहीं है। अच्छे-बुरेकी प्रणालियों-को सुविधाके लिए समाज पीछे बनाता है। इसलिए आदर्शकी ओरसे चीज़ोंको लेना छलना है। व्यक्तिपर इमारत बाँधना समष्टिको बिखराना है। उन्नतिका यन्त्र संगठन है और संगठित कतिपय बिखरे असंख्यपर भारी पड़ते हैं। यह प्रकृतिका नियम है और संस्कृतिके नामपर मनुष्य जो रचता है उसका मूल्य सर्वथा सापेक्ष और सामयिक है। वे रूढ़िवाद, धर्मान्धता और गुरुडमको उन्नतिके लिए घातक समझते हैं।" नाथका प्रगतिवादी दल राष्ट्रके लिए जयसे भिन्न क्या रचनात्मक कार्यक्रम चाहता है जिसके

---

१. पृ० ७५।

कारण उसका जयसे विरोध है, इसका उल्लेख नहीं है। दलोंके राजनीतिक मतभेदोंका कारण विधान या शासन-नीतिमें परिवर्तन अथवा राजनीतिक और आर्थिक अधिकारोंकी माँग होती है। दार्शनिक मतभेदोंके आधारपर राजनीतिक संघर्ष नहीं चलते।

जयके दलकी शासन-नीतिके व्यवहारसे नाथके दलको विरोध यह है कि—"पुलिस शासन-विरोधी प्रदर्शनोंकी गुण्डागर्दीको नहीं रोकती। उनका कहना है कि आजकी सरकारसे हमारे तीव्र मतभेद हैं, लेकिन राष्ट्राधिपको अपमान और उपहासका पात्र बनाना किसी प्रकारके प्रशासन या अनुशासनके लिए सह्य नहीं। हमें पूछना है कि क्यों इन प्रवृत्तियोंको यहाँ तक बढ़ने दिया गया कि वे सार्वजनिक शान्तिमें विघ्न डालें?" इस रुखको जयका विरोध न कहकर जयके विरोधका दमन करनेकी ही माँग क्यों न मानें?"

जयके दलका नाम, रूप-रेखा और उसके कार्यक्रमका परिचय पुस्तकमें स्पष्ट नहीं है। उसे जयके व्यक्तिगत विचारोंसे ही समझना होगा। जयके ये विचार देश और समाजकी परिस्थितियोंके विषयमें कम, उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति ही अधिक हैं। अपने या अपने अस्तित्वके सम्बन्धमें जय कहता है—"शायद अन्तमें हम सब पहेली हैं। कदाचित् इसी कारण हैं। समाधान एक ईश्वर है। बाक़ी उलझन है, प्रश्न है, क्योंकि खण्ड है। दीखनेमें है सो इसीलिए कि वह होनेसे कम है। है सो तो परोक्ष ही रहेगा। असल होना भावमें है। आकारमें अंश ही होता है।" भाषामें भी अर्थके अनुकूल उलझन मौजूद है।

इस उद्धरणकी तुलनामें आचार्यकी एक अभिव्यक्तिको भी देखिए—"हम भगवान्को उपासनाके लिए मानते हैं, पर हर दोके बीच वह हमेशा मौजूद है। नफ़रतमें भी वह है। हर सम्बन्धको वह थामता है। अलगपन ही है जो अनीश्वर है। पर ईश्वरके सिवाय और है कुछ नहीं, इससे निरा अलगपन भी कहीं नहीं है।" दोनों व्यक्तियोंकी अभिव्यक्तियोंमें

ईश्वर एक समान है शायद इसलिए उनमें अलगपन नहीं है परन्तु यहाँ तो व्यक्तित्व भी नहीं जान पड़ते जिनमें विचार या व्यवहारका संघर्ष हो सके।

जय हूस्टनसे मौलिक प्रश्न उठाता है—"कोई मुझे मारना चाहता है तो उसके हाथों मुझे मरनेका अधिकार क्यों नहीं है? क्यों ज़रूरी है कि मैं बचाव करूँ?" अपने प्रति करुणा जगानेकी इसी वृत्तिसे जय शासककी स्थितिकी व्याख्या करता है—"शासनके आसनपर आदमी प्रेमसे और प्रेमके लिए नहीं पहुँचता। अहंकारके बलपर वहाँ पहुँचना और उसीके बलपर रहना होता है। इससे जो भीतरसे सम्राट् है वह सिंहासन नहीं पाता, सूली पाता है। वहींसे फिर पूजा पाता है। जो राजासन पाता है वह वैर जगाता है। कोई कारण नहीं कि लोग मुझे प्रेम करें।"[1]

शासनके उत्तरदायित्वके प्रति जयकी मनोवस्था उसके इन शब्दोंसे भी प्रकट है—"प्रतीक्षा की कि विद्रोह-जैसा कुछ उठे और मैं अपनी आत्माको लेकर इस राज्यसे फेंक दिया जाऊँ। तब इन आत्मिक प्रश्नोंसे सुलझनेको ही रह जाऊँ। पर वह समय नहीं आया।"[2]

ऐसा व्यक्ति किन परिस्थितियोंके कारण सिंहासनारूढ़ होनेके लिए विवश हुआ यदि उपन्याससे जाना जा सकता तो उसे पढ़नेका श्रम सार्थक हो सकता था। कहानी यह भी नहीं कहती कि जयको राज्यका भार उत्तराधिकारके रूपमें सँभालना पड़ गया था या तत्कालीन सम्राट्ने किसी तिथि-विशेषको प्रातः जयको सबसे पहले राज-मार्गपर देखकर उसे राज्य सौंप दिया था और जय संकटसे अपरिचित होनेके कारण उसका शिकार बन गया। पुस्तकके सन्दर्भमें यह वर्तमान है कि जय दश वर्ष पूर्व निर्वाचनमें बहुमत-द्वारा ही शासक बना था। उसके शासन-कार्यसे उपराम

१. पृ० १११।
२. पृ० ११३।

होनेके ज्ञान लाभकी घटनाका भी कहीं उल्लेख नहीं है।

राज्य संस्थाके विषयमें जयका चिन्तन है—"मुझे लगता है, क्रमशः राज्य यान्त्रिक न रहेगा, वह स्थूल और भारी-भरकम होता जायेगा। आजकी अमलदारीके रूपमें नहीं बल्कि अन्तःप्राप्त दायित्वके रूपमें वह व्याप्त होगा·······ऐसा यदि नहीं है, राज्य है और वह व्याप्त नहीं केन्द्रित है, नैतिक नहीं कार्मिक है तो ऐसे राज्यके साथ अनिवार्य होकर युद्ध कैसे न लगा चलेगा। मैं नहीं समझता। उसे खर्च चाहिए और आयके साधन चाहिए। पूँजी चाहिए और मन्त्री चाहिए।"[१] राज्यके सम्बन्धमें यह भावी कल्पना जैसी भी हो, कहानीमें इस कल्पनाको चरितार्थ करनेके लिए जयके किसी प्रयत्नका उल्लेख नहीं है।

जय एक बार फिर कहता है—"सुनो, राज्य कुछ है तो दमनका यन्त्र है। अहिंसामें तुम कहते हो दमन है, निषेध है। उस अर्थमें तो राज्य अहिंसामें भी साधन हो सकता है। मत समझो मैं तुमसे असहमत हूँ। अपने विकासमें ही मनुष्यने राज्य संस्थाका विकास किया है और विकासकी दिशा अहिंसा है। फिर भी राज्यका तन्त्र और यन्त्र हिंसाका है। मुझसे ज्यादा इसको दूसरा क्या जानेगा।"[२]

जय एक सार्वजनिक सभामें भाषण देता है—"वह (राज्य) आवश्यक बुराई समझा जाता है। हमें उसे अनावश्यक करना है। बुराई वह है इसलिए कि बेजान है, मशीनकी तरह है। मन उसमें नहीं है········ आप हम सब जानदार हैं, इसलिए किसीके अधीन नहीं स्वाधीन रहना चाहते हैं। स्वाधीनता सबका हक़ है, साफ़ है, राज्य एक अधीनता पैदा करता है। कह लो कि लोक-तन्त्रमें वह अधीनता अपनी निजकी है। यानी स्वाधीनता है, या चुनावके गिनतीके दिनोंमें जब हर आदमीसे मत

---

१. पृ० १२०।

२. पृ० १४८।

चाहा जाता है, वह भावना कुछ जगी दिखाई देती है, तब भी वह मुक्त नहीं होती बादकी तो बात क्या ? आप सब लोगोंको चाहना चाहिए कि जल्दी-से-जल्दी यह सब राजकीय काम जो बड़ा और ऊँचा और शानदार समझा जाता है, फालतू बन जाये।"

जैनेन्द्रजीकी सहानुभूति और सराहनाके पात्र या उनकी आत्मा और चिन्तनके प्रतिनिधि जयके व्यवहारको समझ लेनेके लिए सहायक होगा कि पाठक जाने कि उस समय देशोंमें कैसी राज-व्यवस्था थी या २००७ में होगी, जिसमें जय ऐसा व्यवहार कर सकेगा। जयके शब्दोंमें वह व्यवस्था लोकतन्त्र है जिसमें शासनके अधिकारका स्रोत चुनाव है, परन्तु वह व्यवस्था भारतके आधुनिक गणतन्त्रकी भाँति नहीं है जिसमें शासनका उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डलके नेता प्रधान मन्त्रीके कन्धोंपर है और राष्ट्रपति केवल परिस्थिति-विशेषमें ही शासन-अधिकारका प्रयोग कर सकते हैं। मन्त्रिमण्डल तो है, परन्तु प्रधान मन्त्रीका उल्लेख नहीं है। पुस्तक-भरमें केवल दो बार ही मन्त्रिमण्डलका उल्लेख मिलता है। इन दोनों स्थलोंपर जय जो कुछ करता है उसपर मन्त्रिमण्डल बादमें स्वीकृति दे देगा। ऐसी ही चर्चा मिलती है। जैनेन्द्रजीकी कल्पना है कि ई० २००७में भारतका शासन अमेरिकन ढंगका होगा जिसमें राष्ट्राधिप (जिसे प्रेसीडेण्ट भी कहा जा सकता है) प्रधान शासक होगा। जयको हम अपने राजनीतिक दल या राष्ट्रीय महासभासे कभी किसी विषयमें अनुमति लेनेकी आवश्यकता अनुभव करते नहीं पाते इससे यह भी समझा जा सकता है कि जैनेन्द्रजीकी कल्पनामें ई० २००७ में भारतका शासन अधिनायक-तन्त्र-द्वारा होगा।

जैनेन्द्रजीकी कल्पनामें ई० २००७ तक भारतमें साम्यवादी और समाजवादी प्रयोग समाप्त हो चुके होंगे। हूस्टन २८ मार्चके पत्रमें जयका वक्तव्य पढ़ता है—"हमारी परम्परा दूसरी, नीति दूसरी है। साम्यवादी समाजवादी प्रयोग हो चुके। उनकी जड़में समग्र दर्शन कब था ? हमें चाहिए ऐसी अर्थ-रचना और समाज-रचना जिसमें सम्भावनाएँ किसीकी

न घटें, बल्कि जुड़ती जायें। इसलिए हम राज्यके ज़रिये सिर्फ़ वही करना चाहते हैं जिसमें औरोंका बस न हो या रस न हो। इस तरह राज्य प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहता, सहायक हो जाता है। राज्य सबका जहाँ हर कोई अपनी जगह राजा हो। प्रजा होनेको अलग कोई रहे ही नहीं।"[1]

भारतीय राष्ट्र साम्यवादी और समाजवादी प्रयोग कर चुकनेके पश्चात् किस व्यवस्थाका प्रयोग २००७ ई० में कर रहा होगा जिसमें सबकी सम्भावनाएँ जुड़ रही होंगी और पूर्ण आर्थिक तथा राजनीतिक समता होगी और समग्र दर्शन भी उसमें होगा, यदि उसके आधारोंका कुछ संकेत होता तो शायद बहुत बड़ी देन होती। अस्तु, यह भविष्यवाणी अवश्य है कि साम्यवाद और समाजवाद समस्याको सुलझा नहीं सकेंगे।

राज्यके ज़रिये वही करना चाहिए जिसमें औरोंका बस या रस न हो। इस सुझावका अर्थ उत्पादनके साधनोंका राष्ट्रीयकरण न करके उन्हें व्यक्तिगत स्वामित्व और नियन्त्रणमें रहने देना है, यह स्पष्ट ही है। जय न केवल साम्यवाद और समाजवादके प्रयोगोंको विफल बता रहा है, बल्कि उसके समयमें लोकतन्त्र भी बीत चुका है। वह कहता है—"लोकतन्त्रके बीते आदर्शने चुनावका रोग ऐसा लगाया कि सब अपनी कक्षा छोड़ अधिकार और पदके लिए उचकना चाहने लगे। उस प्रति-स्पर्धामें एक आवेशका रस था। उसमें उन्हें प्रगति और उन्नतिका चस्का-सा मिलता था, पर चीज वह थोथी थी और झूठी साबित हुई, वह खाद स्वयं उन्हींके मुँहमें, जिन्होंने उसे चस्केसे चखा, पीछे कसैला हो गया।" इन सब भ्रमोंके दूर होनेपर किस ज्ञानकी कल्पना की जाये। लोकतन्त्रको अस्वीकार करनेपर राजसत्ता या अधिनायकका ही शासन स्वीकार करना होगा। यह अद्भुत कल्पना है कि एक व्यक्ति या अधिनायकका राज्य सबका समान राज्य होगा, उसमें प्रजा होनेको कोई शेष न रहेगा।

---

१. पृ० २१६।

जयके माध्यमसे लेखक जो कहना चाहता है, वह स्वयं उसके अपने मस्तिष्कमें स्पष्ट नहीं; यह जयके प्रेस-गोष्ठीमें दिये वक्तव्यसे स्पष्ट है—"प्रश्न है खासकर उद्योगोंके बारेमें क्या नीति है। नीति यह है कि राज्य भरसक वही करेगा जो औरोंके बसका या इच्छाका न होगा। सरकारसे हमें सहकारपर जाना है—लोक-कल्याण-राज्यकी एक कल्पना थी, वह बीत गयी। वह हमारी नहीं है उसमें सब-कुछ राज्य करनेके लिए हो जाता था। हम राज्यके पास करनेके लिए कम-से-कम छोड़ना चाहते हैं। आखिर करनेवाले कौन हैं। लोग ही तो हैं, राज्य करता है यानी लोग करते हैं। सहकारके साथ एक उद्देश्यमें जो मिल जाये, वे लोग और उनका समाज। तो इस तरहसे समाज सब करता है। राज्य समाजके हाथका यन्त्र है। यन्त्र ही है मालिक नहीं।"[1] जब लोक और राज्य, समाज और राज्य एक है, राज्य भी उनका प्रयत्न ही है तो फिर राज्यका आतंक किस कारण? लोक-कल्याण-राज्यकी कल्पनासे परे क्या लेखक विशिष्ट वर्गके कल्याणमें ही समाज और लोकका हित देखता है। लोकका स्वेच्छासे सहकारिता-द्वारा आत्म-निर्णयसे रह सकना ही कम्युनिज़्मकी सामाजिक विकासकी कल्पना है, जिसे लेखक समाप्त हो चुका प्रयोग बताता है। स्पष्ट है कि लेखक समाजवाद और कम्युनिज़्मकी विचार-धारासे अपरिचित है वह सब-कुछ अस्वीकार करता है, स्वीकार क्या करना चाहता है शायद स्वयं नहीं जानता।

हम राज्यके पास करनेके लिए कमसे कम छोड़ना चाहते हैं इसका क्या अर्थ होता है? सरकार या सहकार सार्वजनिक शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, यातायातके मार्गों और बाढ़से बचावका काम करे या न करे? यदि करे तो उसके लिए साधन कहाँसे आये? ईश्वरकी प्रार्थना और अकर्मसे तो इन समस्याओंके हल हो सकनेकी सम्भावना है नहीं।

---

१. पृ० २६०।

राज्य और लोकके एकीकरणमें या उनके परस्पर विलयनमें लेखकको आपत्ति क्या है ? राज्यके पास करनेके लिए कमसे कम छोड़ने या राज्य-द्वारा भरसक वही करनेका, जो औरोंके बस और इच्छाका न हो, का तात्पर्य उत्पादनके साधनोंके राष्ट्रीयकरणका विरोध है तो जय या लेखक-को उसे स्पष्ट रूपमें कहनेका साहस क्यों नहीं। यह अपरिग्रह और अकर्मका अति सूक्ष्म व्यवहार है या अज्ञान ?

जय प्रेस-गोष्ठीमें इतना तो स्पष्ट कहता है—"स्टेट कैप्टिलिज़्म कैप्टिलिज़्मका बुरेसे बुरा रूप है...तो इसमें-से उद्योगोंके सम्बन्धमें हमारी नीति यह हो आती है कि सबकी सूझ-बूझ जगे और काममें आये, यानी उद्योगोंपर किसी प्रकारकी रोक-थाम न रहे।" उद्योगोंपर राज्य-द्वारा रोक-थाम या नियन्त्रण जय या जैनेन्द्रजीको पसन्द नहीं, परन्तु बड़े-बड़े पूँजीपतियों और उद्योगोंके इज़ारेदारों-द्वारा उद्योगों और उद्योगोंकी पैदावारपर नियन्त्रणके सम्बन्धमें क्या हो ? उद्योग-धन्धे होंगे तो उनका नियन्त्रण और स्वामित्व किसी-न-किसीके हाथमें तो रहेगा ही। यदि समाज या राज्यके हाथमें नहीं तो व्यक्तिके हाथमें रहेगा। जैनेन्द्रजी उद्योग-धन्धोंके राष्ट्रके अधीन होनेपर सम्भावित विषमताओंसे परिचित हैं परन्तु उद्योग-धन्धोंपर पूँजीपतियोंके स्वामित्व और नियन्त्रणके परिणामोंसे परिचित नहीं। इसे आध्यात्मिक यथार्थका नमूना समझा जाये ? वे नहीं जानते उद्योगोंके इज़ारेदार सौदेकी लागत या श्रमका मूल्य कम रखनेके लिए किस प्रकार बेकारी बनाये रखते हैं और अपने सौदेका बाज़ार दाम ऊँचा रखनेके लिए अपनी होड़में उठते नये धन्धोंको किस प्रकार समाप्त कर देते हैं। जय कहता है, स्टेट कैप्टि-लिज़्म कैप्टिलिज़्मका सबसे बुरा रूप है, अर्थात् कैप्टिलिज़्म ही रहे। जय या जैनेन्द्रजीके विचारमें राज-संस्थासे मुक्तिका यह ही मार्ग है। वे अराजकी कामना करते हुए पूँजीवादकी अराजकताका ही समर्थन कर रहे हैं।

उद्योगोंके सम्बन्धमें जयकी नीतिका दूसरा अंग यह है कि श्रमका क्रय-विक्रय असम्भव हो जाये। समाजमें श्रमका क्रय साधनोंके ऐसे स्वामी ही करते हैं, जिसके पास निजी शारीरिक श्रमसे उपयोगमें आ सकने योग्य साधनोंकी अपेक्षा अधिक साधन होते हैं, जो श्रमका क्रय करके बड़ी मात्रामें पदार्थ उत्पन्न करके मुनाफ़ा कमाना चाहते हैं। शायद जयकी कल्पनामें मुनाफ़ा कमानेके लिए व्यवसाय समाजमें नहीं रहने चाहिए, न साधनोंके इतने बड़े स्वामी। अपने श्रमको वही लोग बेचते हैं जिनके पास श्रमसे उत्पादन करनेके साधन नहीं होते। जयकी कल्पनाके समाजमें न तो उद्योग-धन्धोंपर रोक-थाम होगी, न श्रमके क्रयसे उद्योग-धन्धोंको चलानेकी स्वतन्त्रता होगी, न साधनोंके स्वामी होंगे, न साधनहीन होंगे ? सब ओर नकार-ही-नकार है, होगा क्या स्पष्ट नहीं। शायद आवश्यक भी नहीं, क्योंकि वह अकर्ममें विश्वास करता है। इस अकर्मका यही अभिप्राय समझा जाये कि समाजमें मौजूद पूँजीवादी अराजकता यथावत् बनी रहे।

जैनेन्द्रजी सम्भवतः यह जानते हैं कि आज दिन हमारे समाजमें पदार्थों-का परस्पर विनिमय सुविधाजनक नहीं रहा है। क्रय-विक्रयका सामाजिक प्रयोजन विनिमय होता है। श्रमका विनिमय भी क्रय-विक्रय-द्वारा ही होता है। क्या जैनेन्द्रजीको श्रमके विनिमयपर भी आपत्ति है। श्रमका विनिमय न होनेपर लेखकको काग़ज़ बनानेसे लेकर अपनी पुस्तक बेचने तकका काम खुद ही करना होगा, यह उनकी कल्पनाने नहीं सोचा।

जय अथवा जैनेन्द्रजी इन सब उलझनोंका उपाय सुझाते हैं—"कर्मसे स्वार्थ पैदा हो सकता है, अकर्म निःस्वार्थ है और हमारी दृष्टि यह है कि अकर्मकी निष्ठा समाजमें सामान्यतया देरसे भी आये, पर उसका वह उत्कृष्ट अंग जो राज-कांज सँभाले, अवश्य अकर्मपर दृढ़ हो।"[1] जय या

१. पृष्ठ २६२।

जैनेन्द्रजी समस्याको समझ सकनेसे अपनी लाचारी प्रेस-गोष्ठीमें इस प्रकार प्रकट करते हैं—"सरकार रहेगी तबतक कोने भी रहेंगे जहाँ ग़रीबी रहे। रोजगार सरकारसे मिलेगा तो बेरोज़गारीको भी रहना होगा। सिक्केमें अमीरी रहेगी तबतक ग़रीबी पूरी तरह नहीं जा सकती और नौकरीका रोज़गार जबतक है, बेरोज़गारी भी रहनेवाली है—लेकिन मेरी ओरसे आपको सुभीता है कि आप इस सुननेको अनसुना कर दें।" यह शब्द स्पष्ट कर देते हैं कि जय और जैनेन्द्रजी समाजके आर्थिक विकासकी प्रक्रिया और अर्थशास्त्रके सामान्य सिद्धान्तोंसे भी अपरिचित हैं।

जैनेन्द्रजीने समाजवादकी भी एक नयी परिभाषाका आविष्कार किया है—"समाजवाद यह हुआ कि जो असामाजिक हैं, वर्ग या व्यक्ति, उन्हें नष्ट कर दो।" यह परिभाषा नयी ज़रूर है परन्तु यथार्थ नहीं है। इससे केवल समाजवादके घोषित सिद्धान्तोंका अज्ञान और आक्रोश प्रकट होता है। नष्ट करनेकी भावना और प्रक्रिया नकारात्मक-मात्र है। समाजवादका प्रस्तावित कार्यक्रम और भावना सकारात्मक है। इसे यों भी कहा जा सकता था—असामाजिक भावना और तत्त्वोंके लिए कारण न हों। जैनेन्द्रजी न केवल समाजकी नयी परिभाषा देते हैं बल्कि आइन्स्टायनकी भी एक नयी व्याख्या कर देते हैं—"आइन्स्टायनने जो बताया उससे मालूम हुआ जड़में चेतन है, यानी जड़ सब चेतन है। शक्ति चलाती है तो जिसे चलाती है वह भी शक्ति-पिण्ड ही है। सब एक ही माया है।" इन वाक्योंमें वैज्ञानिक ध्वनि होनेपर भी अज्ञान स्पष्ट है। वैसे ही वे अदार्शनिक वाग्जालमें दर्शनकी ध्वनिका समावेश करनेका भी यत्न करते हैं। उदाहरणत:—"पवित्र एक परमेश्वर है और वह सर्वव्यापक है—इससे अपवित्रताके लिए ठौर कहाँ?" एकमात्र ईश्वरको पवित्र कहकर जय अपवित्रताकी भी भावना उत्पन्न करता है और स्वयं ही पूछता है अपवित्रताके लिए ठौर कहाँ? इसे यदि यों कहा जाता, ईश्वर पवित्र है और वह सर्वव्यापक है इसलिए अपवित्र कुछ नहीं तो शायद सीधी

बात जान पड़ती और दर्शनकी भ्रान्ति न हो सकती। दर्शनकी ध्वनिसे भ्रान्ति उत्पन्न करनेका एक और उदाहरण यों है[1]—"स्त्री भिन्न है, मैं पुरुष हूँ तबतक यह भिन्न है। भेद सच नहीं हो सकता, क्योंकि एक ओर अखण्ड और अभिन्न परमेश्वरकी सत्ता सब कहीं व्याप्त है। इसलिए स्त्री और पुरुषके बीच आकर्षण कभी समाप्त नहीं होनेवाला है।" आकर्षणका कारण भेद है जो सच नहीं हो सकता और आकर्षण कभी समाप्त होनेवाला भी नहीं है, क्या तर्क है ?

राज-संस्थाको अनिवार्य व्याधि समझनेमें अथवा इस संस्थासे मुक्तिकी कामना करनेमें आचार्य भी जयके साथ हैं, वे भी कहते हैं—"हम सँभल बनेंगे तो राज्यका ही दोष दूर न होगा, बल्कि राज्यके स्वयं दूर होनेका उपाय होने लग जायेगा। मूलमें तो राज्य एक दोष ही है। वह दबाव है समय आयेगा कि वह काम एक सहयोग संस्थाके ज़रिये हो जाया करेगा, अभी तो वह एक प्रभुसत्ता है।" पाठक यह समझनेमें असमर्थ रह जाता है कि जय और आचार्यके परस्पर इतने सहमत होनेपर भी इला यह क्यों कहती है कि आचार्य जयके मार्गके बाधक न बननेके लिए ही जेलमें बैठे हैं। यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा यदि जैनेन्द्रजी विकास-द्वारा राज्यमें एक सहयोग-संस्थामें परिणत हो जानेकी कल्पना करते हैं तो—यह कल्पना मौलिक नहीं, यह कम्युनिस्टोंकी, साम्यवादियोंकी कल्पना है जिनके प्रयोगोंके वे २००७ ई० तक समाप्त हो चुकनेकी बात कह चुके हैं।

जो भी हो, उपन्यासमें जय राज्यकी अनावश्यक, दोषपूर्ण और दमन करनेवाली संस्थासे मुक्तिका उपाय अपने राजनैतिक दलके स्थानपर एक सर्वदलीय सरकारकी स्थापना-द्वारा करता है। इस परिवर्तनको हम शासक व्यक्तियोंका परिवर्तन ही कहेंगे राज्य-संस्थाका अन्त नहीं कह

१. पृ० ३२३ पर।

सकेंगे। पंचशीलको अपर्याप्त बताकर, युद्धके अनिवार्य होते जानेकी विभीषिका और शस्त्रास्त्रके निर्माणके वेगको रोकने या अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिको जिसकी चिन्तासे यह मौलिक उपन्यास लिख गया है, जैनेन्द्रजी भूल ही गये हैं।

आचार्य जेलसे मुक्त हो जाते हैं। उनका आश्रम शिवधाममें है। जय सर्वदलीय सरकारकी स्थापनाके लिए सब दलोंकी एक सम्मिलित सभाका आयोजन शिवधाममें करता है। स्वामी चिदानन्द और नाथको ऐसी सभासे विशेष आशा नहीं है परन्तु वे सम्मिलित होना स्वीकार कर लेते हैं। इस सभाका आयोजन हो जानेपर एक नया रहस्य खुलता है— जय सर्वदलीय सरकारकी स्थापना हो जानेपर राज्य-भारको त्याग देगा।

शिवधाममें सर्वदलीय सम्मेलनका आरम्भ होनेके समय आचार्य, जो इस समय तक अपनी पुत्री इलाको जयसे विवाह करनेकी अनुमति नहीं दे रहे थे, अनुमति दे देते हैं। किस नवीन तर्क या ज्ञान-लाभसे आचार्यका विचार बदल जाता है। वह उनके शब्दोंमें यह है—"इतनी देर तक अपनी अनुमति रोककर मैं आज इस जगह आया हूँ कि जीवनके जनक होनेके अधिकारसे उस जीवनको स्वयं सम्पूर्ण होने देनेसे अधिक अधिकार पिताको नहीं पहुँचता।" जीवन-भर अनासक्ति और अकर्मके मार्गकी चिन्ता करके भी यह बात जाननेके लिए आचार्यको इतने वर्ष लगे?

आचार्यकी अनुमति न होनेके कारण यद्यपि अनेक वर्ष तक जय और इला साथ-साथ रहते रहे, पर उनका विवाह न हो सका। अनुमति तो आचार्यके साथ रहनेके लिए भी न थी। अविवाहित इलाको साथ रखकर जय अपने प्रति विरोधकी भावनाके लिए अवसर देता रहा। इलाने यह स्वीकार किया है कि विवाह हो जानेसे विरोध मिट जाता, परन्तु जय अपना विरोध मिटा देना या विरोधको निर्बल नहीं कर देना चाहता था केवल इसीलिए उसने इच्छा होनेपर भी विवाह नहीं किया। विरोधमें रस लेनेकी इस वृत्तिको उद्भ्रान्तिके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता

है। इसे अनासक्ति कहें, अकर्म कहें या इसे साधनाका कोई और नाम दें?

यह जानकर कि आचार्यने इलाको जयसे विवाह कर लेनेकी अनुमति दे दी चिदानन्दका भी विरोध समाप्त हो जाता है। सर्वदलीय सम्मेलनमें यह रहस्य खुलता है कि जय राजके उत्तरदायित्वसे उपराम हो रहा है, तो सभी विपन्न अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण विरोध मिट जाता है, सभी जयसे राजका उत्तरदायित्व सँभाले रहनेका अनुरोध करने लगते हैं परन्तु जय किसी प्रकार राजका उत्तरदायित्व सँभाले रहनेके लिए तैयार नहीं होता, क्योंकि उसे तो विरोधमें ही रस मिलता है परन्तु इसका कारण वह बताता है—"मेरा मोह भंग हो गया है। राज्यकी अनुरक्तिके लिए कहीं भी तनिक अवकाश नहीं छूटा है, इतनी विरक्ति हो गयी है।"[1]

स्वामी चिदानन्द जयको समझाना चाहते हैं—"राज्य भी एक कर्तव्य है और बिना मोह, बिना आसक्ति, उसका निर्वाह निश्चय ही कोई छोटी तपश्चर्या नहीं है।" परन्तु जय मोहमें फँसे रहना स्वीकार नहीं करता। राज्यके मोहको त्याग कर वह इलासे विवाह करना चाहता है और सर्वदलीय सम्मेलनके समय अवकाश पाकर सन्ध्याके अन्धकार और नदी-तटके सूनेमें एलीजाबेथके शरीरको अंकमें लेकर उसके जूतोंकी धूल अपने माथेपर लगा लेनेकी इच्छाके लिए व्याकुलता भी प्रकट करता है, यह जयके माध्यम-द्वारा जैनेन्द्रजीके विचारमें वह अकर्म है जिसकी—"महिमा गीताने बतायी है। उस मूल्यको पहचानसे भारतका राज्य जब डिगा है, तब कठिनाई ही पैदा हुई है।"[2]

जयके राजसिंहासन त्यागके निश्चयसे सभी लोग द्रवित हो जाते हैं। चिदानन्द तो अपने पूरे बलसे उसके समर्थनका आश्वासन देता ही है परन्तु इन्द्रमोहन, जो हूस्टनको पहले दिन ही जयको बिना रीढ़का आदमी और सम्पूर्ण प्रगतिमें बाधा बता गया था, जो हूस्टन-द्वारा जयकी प्रशंसा

१. पृ० ३८४।

२. पृ० २६१।

और ख्याति फैलानेमें भी देश और समाजकी हानि देखता था और हूस्टन-को भारत छोड़ जाने या गोलीका निशाना बना दिये जानेकी चेतावनी दे गया था, इस स्थितिसे विकल हो जाता है। इन्द्रमोहनकी सृष्टि कहानीमें रहस्य, रोमांच और जासूसी कौतूहलका पुट देनेके लिए की गयी है। वह राष्ट्राधिप-भवनके पहरोंमें, चलती ट्रेनोंमें अनायास ही आ-जा सकता है। वह जब आता है रिवाल्वर साधे बात करता है। जय या हूस्टनको किसी भी समय समाप्त कर देनेमें उसे विशेष आपत्ति नहीं है। जय इन्द्रमोहनके भयसे हूस्टनको राष्ट्राधिप-भवनके निजी कक्षोंमें रखनेका आदेश दे देता है परन्तु जय स्वीकार करता है कि वह इन्द्रमोहनकी ही रचना है। वह हूस्टनको इन्द्रमोहनको बुला लानेके लिए भेजता है। हूस्टन महीने-सवा महीनेमें ही यहाँ जयके कूट रहस्यों और सम्बन्धोंका विधाता बन गया है। बम्बई पहुँचकर हूस्टनको इन्द्रका दूसरा परिचय मिलता है। वह इतिहास-का शोधक और महा विद्वान् है, उसका बहुत बड़ा निजी पुस्तकालय है, जहाँ वह "मानवताके उदयके साथ भारतकी भाग्यरेखाको तत्सम होते देखनेकी खोज" इतिहास और फलित ज्योतिष दोनोंके माध्यमसे करता है। जयके पद-त्यागसे वह इतना विकल हो जाता है कि रिवॉल्वर छोड़कर घटनाओंके 'पूर्वदर्शन' के लिए इला और जयकी जन्म-कुण्डलियोंको मिलाने-में खो जाता है।

जैनेन्द्रजीने 'समर्पण' में कहा है "जयवर्धन पाठकके पास आ तो रहा है पर कह नहीं सकता कितना वह उपन्यास सिद्ध होगा।" परन्तु रचना पाठकोंके सम्मुख मौलिक उपन्यासके रूपमें ही प्रस्तुत की गयी है। उपन्यास-के द्वारा विचारोंकी अभिव्यक्तिको हम दोष नहीं मानते परन्तु कहानीका विश्वास-योग्य होना पहली शर्त होनी चाहिए। 'जयवर्धन' की कहानी पाठकका विश्वास पाने योग्य नहीं बनी। पहला कारण तो उसमें पृष्ठ-भूमिकी नितान्त कमी है। वह वार्तालापोंकी डायरी-मात्र है वार्तालाप विश्वासयोग्य रोचक कहानी नहीं बना सकते ऐसा नहीं कहा जा सकता।

रवि बाबूका 'घर और बाहर' उपन्यास इसका अच्छा उदाहरण है। जी० बी० शॉकी तो शैली ही यह थी। कहानीके विश्वास और रोचकता उत्पन्न न कर सकनेका कारण पात्रोंका निर्जीव और प्राय: एक-सा होना है। आचार्यको गान्धीजीकी छाया माना जाये तो उसकी भाषा जैनेन्द्रजीकी है, जयपर नेहरूजीकी छाया डाली गयी है परन्तु उससे अधिक उत्कट उसमें जैनेन्द्र हैं, चिदानन्दमें श्री गोलवलकरका आभास है पर उसपर भी जैनेन्द्र छाये हुए हैं। इन्द्रमोहन आतंकवादी है परन्तु जैनेन्द्र मॉडलका। जैनेन्द्रजीका दार्शनिक और तटस्थ हूस्टन स्वयं जैनेन्द्रजीका प्रतिबिम्ब है। यहाँतक कि इला भी जैनेन्द्रजीका ही नारी संस्करण है। इन सब पात्रोंके सिद्धान्तों, व्यवहार और भाषामें ऐसी समानता है कि प्राय: उनके वाक्य भी एक-से हो गये हैं। पात्रोंके एक-दूसरेके सम्पर्क और तुलनामें आनेपर उनका व्यक्तित्व निखरता है जिससे कहानी सजीव बनती है परन्तु इस उपन्यासमें जैनेन्द्रजीने जैनेन्द्रसे जैनेन्द्रको तोला है तो फिर कहीं भी अन्तर कैसे दिखाई देता?

नारी-पात्र दो ही हैं, एक इला और दूसरी एलिजाबेथ। इला अनासक्ति और अकर्मकी उपासक त्यागमयी भारतीय नारीका प्रतीक है। जयके साथ उसका, पिताकी इच्छाके विरुद्ध अविवाहित अवस्थामें रहना शायद इसलिए क्षम्य है कि उसने इन्द्रियोंका ब्रह्मचर्य निभाया है परन्तु उसके चिदानन्दकी अनुगृहीता रहनेकी बात जय कहता है और इला स्वयं इन्द्रमोहनसे किसी रहस्यका संकेत कर देती है। एलिजाबेथ तो है ही हंगेरियन, पतिपरायणता और संयमकी आशा उससे क्या की जाये? पर वास्तवमें वह कहीं स्पष्ट, निष्ठावान् और रीढ़वाली बन पड़ी है, शायद इसलिए कि लेखकने उसपर अपनी अनुकम्पाको छाया नहीं डाली। पूरे उपन्यासमें नाथ और एलिजाबेथ ही दो पात्र हैं जो कहानीमें तो कम आते हैं पर उनका अपना व्यक्तित्व है।

जैनेन्द्रजीने प्रारम्भिककी अन्तिम पंक्तियोंमें इस बातके लिए क्षमा-

याचना कर ली है कि पुस्तकको विधिवत् उपन्यासका रूप नहीं मिल सका। उन्होंने इसे दुनियाको राजनीतिके संकटसे उबारने और राजके इस या उस रूपको स्वीकार करनेकी विवशताके संकटसे त्राण देनेके सुझावके लिए प्रस्तुत किया है। राज्यके सभी रूपोंको संकट समझकर उससे त्राण पानेके विचार मानव-समाजके लिए नितान्त नयी वस्तु नहीं हैं। पूँजीवाद और राज्य-सत्ताके दमनकी प्रतिक्रियाके रूपमें आजसे सौ वर्ष पहले भी विचारकोंने मानव-समाजकी मुक्तिके लिए अनार्किज़्म (अराजकवाद) के सिद्धान्तोंकी कल्पना की थी। यह विचारक (क्रोपेटिकन आदि) राज्यको व्यक्तिगत सम्पत्तिकी संस्था और उसीकी प्रशाखा-श्रेणियोंकी परस्पर होड़का ही विकसित रूप मानते थे। समाजको राज्यके दमनसे मुक्त करनेके लिए सम्पत्तिका समाजीकरण पहला क़दम मानकर मानव-समाजको उत्पादनके साधनोंके साझे स्वामी और श्रेणीगत होड़से मुक्त कर एक विस्तृत-कुनबेके रूपमें परिवर्तित हो जानेकी कल्पना वे करते थे। वे राज्यको समाजका दमन इसलिए समझते थे कि राज्य एक वर्ग-विशेषका अधिकार और शेष समाजका दमन था। उनके विचारोंका लक्ष्य वर्गोंके अन्तर मिटाकर राज्यको सामूहिक हितकी दमन-रहित व्यवस्था-मात्र बना देना था। कम्युनिस्ट भी अपनी प्रणालीके उत्तरोत्तर विकासमें राज्य या शासनके दमनकारी अंशके विलयन हो जानेका विश्वास करते हैं।

अराजकवाद एक सामाजिक समस्या है। जैनेन्द्रजीने भी दुनियाको राजके संकटसे त्राण देनेके लिए ही पुस्तक लिखी है। जय भी अनेक स्थानोंपर ऐसा ही विचार प्रकट करता है। "सोचता था राजके ज़रिये उसके होनेकी आवश्यकतासे समाजको मुक्त करानेकी राह कुछ सुगमतासे प्रशस्त की जा सकेगी, वह भ्रम सिद्ध हुआ" पद-त्याग करते समय भी वह कहता है—"राज्यको एक दिन अनावश्यक बनाना है"[१] परन्तु उसका

१. पृष्ठ ४२५।

अन्तिम निर्णय है—"अन्तमें जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरा दायित्व राज्य और लोक-कल्याणके प्रति जितना है उससे अधिक और प्रथम स्वयं अपने अन्तःकरणके प्रति है तो देखा कि मेरा असमंजस कट गया।"[1] जयको जो कुछ मालूम हुआ उससे दुनियाके राज्यके संकट और युद्धोंकी अनिवार्यताके त्राससे मुक्त हो सकनेका क्या सम्बन्ध है? यह सामाजिक समस्याकी उपेक्षा करके स्वरतिकी प्रवृत्तिमें सन्तुष्ट हो जाना है या यह अनुमान करना होगा कि अराजकी अवस्था प्राप्त करनेके सामाजिक लक्ष्यका उपाय जैनेन्द्रजीने यह व्यक्तिगत साधना बतायी है कि जयवर्धनको आदर्श मानकर कोई भी व्यक्ति राज्यका उत्तरदायित्व लेनेके लिए प्रस्तुत न हो तो राज्यकी संस्था स्वयं विलीन हो जायेगी? यह जयवर्धनके विचार पक्षकी प्रतिपत्ति है।

'जयवर्धन'पर इतने विचारकी आवश्यकता इसलिए है कि 'परख', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' आदि जैनेन्द्रजीकी आरम्भिक रचनाएँ सफल थीं और उनमें प्राप्त सफलतासे अधिक जैनेन्द्रजीकी सम्भावनाओंका संकेत था। उन रचनाओंके सफल होनेका कारण जैनेन्द्रजीका पर्याप्त यथार्थके आधारपर उन सामाजिक तत्त्वोंको लेकर रचना करना था जिनका परिचय उन्हें अपने नित्यके जीवनसे था। 'जयवर्धन'में उन्होंने दर्शन, राजनीति, समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्रके प्रसंगोंके लेनेकी इच्छा की है जो स्पष्ट ही उनकी पकड़के बाहर है। उन्हे यथार्थका आधार कहीं भी नहीं मिला है।

जैनेन्द्रजीकी विचार और कलात्मक शक्तिका परिचय इस खोखली रचनामें भी जहाँ-तहाँ मिल सकता है। प्रसंग और वस्तुके सम्पर्कके बिना भी जहाँ-तहाँ विचारपूर्ण सूक्तियाँ आ गयी हैं यथा—"ईश्वर नहीं हो सकता जो मानवसे विमुख हो, है तो वह मानवसे। मानवसे परे जो

१. पृष्ठ ४२४।

अपने लिए टिकाव चाहता है वह अविचार है" इस दृष्टिसे जयके व्यवहार-को क्या कहा जाये ? "भारतमें इसीको साधना मान लिया गया है कि यथार्थको आदर्शसे दाबे रखा जाय।" "आदमीमें क्या सिद्धान्त ही सब-कुछ होता है ? क्या वह एक गाँठ नहीं जिसे हम खुद कस लेते हैं और सिद्धान्तका नाम दे देते हैं ?" "क्या वह लकीर ही नहीं जिससे स्वदेश और विदेश बन जाते हैं और जिसपर युद्ध होते हैं, लकीर भी नक़्शेपर, असलमें कहीं नहीं। फिर आदमी अपना और दूसरोंका रक्त उत्सव और उल्लासके साथ बहाते हैं।" "प्रेमकी गति न्यारी है, सुख उसमें नहीं है, पर जो दुःख है सुखके सुखसे बड़ा है।" "विरह केवल पार्थक्य नहीं, मनका घनिष्ठ पीढ़ी-सम्बन्ध है।" "इन्द्रिय-व्यापारकी न्यूनताकी साधनामें-से परिपूर्णता न सधेगी।" आदि आदि।

'जयवर्धन' पढ़नेके श्रमको उसकी भाषा और भी कठिन कर देती है। भाषा सामाजिक अभिव्यक्तिका साधन है। उसे सुलभ और सुबोध बनाये रखनेके लिए ही व्याकरणकी आवश्यकता हुई है। भाषाके अन्य प्रयोगों और नियमोंकी अवहेलना अहं और स्वरतिकी उच्छृंखलता-मात्र है। यदि नागरिकताके साधारण नियमों—उदाहरणतः सड़कपर चलनेके नियमोंका पालन सामाजिकताके नाते आवश्यक है तो भाषाके नियमोंकी ही अवहेलना क्यों की जाये। जैनेन्द्रजीने जनसाधारणकी भाषाको ठुकरानेके लिए भाषाके साथ जो मनमानी और अत्याचार किया है, उसके उदाहरण ऊपर दिये गये उद्धरणोंकी पंक्तियोंमें पर्याप्त देखे जा सकते हैं।

• •

राजेन्द्र यादव

दो आस्थाएँ*

बंगलाके अत्यन्त ही लोकप्रिय उपन्यास 'साहब, बीबी, गुलाम' के लेखक विमल मित्रसे जब मैंने वही घिसा-पिटा सवाल किया, जो प्रायः संसारके हर लेखकसे किया जाता रहा है—"क्या लिख रहे हैं आज-कल ?" तो कुछ खोये-खोये-से ढंगसे वे बोले, "पूर्वी बंगालसे आये हुए शरणार्थियोंपर नोट्स ले रहा हूँ।"—"क्यों, इनपर भी लिखेंगे कुछ ?" "नहीं, अभी नहीं। दस-बारह साल बाद। जब सारा उद्वेग और उद्वेलन थम जायेगा। अर्थात् जब पानी निथर जायेगा।" और अपने तर्ककी पुष्टिमें उन्होंने अधिकांश उन लेखकोंकी रचनाओंके नाम गिना दिये, जिन्होंने सामयिक समस्याओंपर नहीं, बल्कि पीछेकी घटनाओंपर लिखा है। इन पीछेकी घटनाओंपर लिखी गयी चीज़ें प्रायः ही 'ऐतिहासिक' की कोटिमें आ गयी हैं—या आते-आते रह गयी हैं। "इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि—आगे उन्होंने कहा था, "आठ-दस सालमें हम किसी भी घटना-को बड़े निर्वैयक्तिक और तटस्थ होकर देख सकते हैं, उसके महत्त्वका आकलन और मूल्यांकन कर सकते हैं। साथ ही वास्तविकतापर छायी हुई सामयिकताकी धूल भी तबतक छँट जाती है।"

बातमें वजन तो ज़रूर था, लेकिन मन नहीं भरा। 'साहब, बीबी, गुलाम' कलकत्तेके दो सौ वर्षोंका इतिहास है, और उसकी सफलता एवं लोकप्रियता देखते हुए विमल बाबूको अपनी बातके सिलसिलेमें किसी भी

* बूँद और समुद्र : अमृतलाल नागर

प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। जब-जब मैंने विमल बाबूकी बातपर सोचा, मुझे अपने एक स्थानीय मित्रका ध्यान आया। युनिवर्सिटीमें पुरातत्त्व लेकर पढ़ने ने वर्तमानकी ओरसे उनकी आँखोंको कुछ ऐसा पलट दिया है कि न तो नये कपड़ेको पाँच दिन सन्दूकमें रखे बिना वे पहन सकते हैं, और न बिना दो हफ़्ते पेटमें सिरका बनाये किसी बातको कह सकते हैं। रोज़का अख़बार रोज़ पढ़ना भी उनके लिए यातनाका एक विषय है। अख़बारको तीन दिन रखकर उसे ऐतिहासिक दृष्टिसे पढ़नेमें जो ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि होती है, वह रोज़-रोज़ पढ़नेमें कहाँ? उनके लिए वह लेखक भी लेखक नहीं है, जिसके जीवनकी साधना (अर्थात् उम्र) ७५ वर्ष नहीं है, या जिसे ७५ वर्षके किसी बूढ़ेसे सर्टिफ़िकेट नहीं मिला है।

घटनाएँ थम जायेंगी, इतिहासकार उनके वास्तविक तथ्यातथ्यको सम्भावित व्याख्याओंके साथ निकालकर रख देंगे, उसके बाद हम उन्हें अपने उपन्यासके कथानकमें गूँथेंगे, इस भावनाके पीछे मुझे लेखकमें आत्म-विश्वासकी कमी लगती है। उसकी ईमानदारी और सत्यको पानेके आग्रह-का भरसक आदर करते हुए भी मैं लेखकके दृष्टिकोणके प्रति शंकाशील अवश्य हो उठता हूँ। उपन्यासकार एक आदर्श नागरिक हो या न हो (और प्राय: नहीं ही होता), लेकिन आजके ज़मानेमें उसे सचेत नागरिक तो होना ही पड़ता है। यों घटनाओंको ठण्डी हो लेने-देनेकी प्रतीक्षामें यह तो हो सकता है कि हम तथ्योंको अधिकसे अधिक वास्तविक रूपसे प्राप्त कर लें या सुलभ कर दें; लेकिन यह प्रतीक्षा उस वैयक्तिक आवेग और अनुभूतिकी तीव्र प्रतिक्रियासे प्राय: रचनाको वंचित कर देती है, जो घटनाओंकी ताज़गीसे ही उत्पन्न हो सकती है। शायद उपन्यासमें—या किसी भी कृतिमें रोचकता और रस भी आवेगकी गहराई और अनुभूति-की तीव्रतासे ही आते हैं। युद्ध क्षेत्रका जीता-जागता प्रथम अनुभूतिका वर्णन और बादमें जन्म-मरणके आँकड़ोंके आधारपर बुना गया,

परिस्थितियोंका ताना-बाना, रस और रोचकताकी दृष्टिसे प्राय: दो तरहकी चीज़ें होंगी। एकके सामने सारे तथ्य-आँकड़े, सारे झूठ-सच उसकी कथाके लिए होंगे—दूसरेका ऐतिहासिक सत्य-आग्रह उसे बँधी-बँधायी गिनी-चुनी घटनाओंमें-से ही कहानी तलाश करनेको विवश करता रहेगा। हर क्षण उसका दिल धड़कता रहेगा कि कहीं वह तथ्यकी हत्या न कर डाले, या वह 'तथ्य' अगले किसी इतिहासकारके द्वारा झूठ न साबित कर दिया जाये कि उसके सारे किये-धरेपर पानी फिर जाये। सन् १९५७ पर लिखने-वाला ईमानदार और निष्पक्ष इतिहासकार आज भी उसे व्यापक अर्थमें स्वतन्त्रताके लिए विद्रोह नहीं कह पाता; लेकिन इसके पक्षमें प्रमाण उसके पास ऐसे हैं कि वह इसे नज़रन्दाज़ भी नहीं कर सकता।

मैं ऐतिहासिक उपन्यासोंके महत्त्वको ज़रा भी नहीं झुठला रहा और न कहनेका मतलब यह है कि 'आज'में बीते हुए कलका कोई योग-महत्त्व नहीं है। ऐतिहासिक उपन्यास भी वर्तमान समस्याओंके हल या दिशा-संकेत दे सकते हैं। यशपालके 'अमिता' को देखकर अपने मित्रके इस कथनसे भी मैं सहमत नहीं हूँ कि—"देखो न, ये लोग कैसे बौद्धिक हो गये हैं। युद्ध नहीं होना चाहिए, इस बातको बोलनेके लिए भी इन्हें अशोक और कलिंगके युगमें जाना पड़ता है। ये लोग इसे जीते-जागते लोगोंकी समस्याके रूपमें नहीं देखते।" पुराना इतिहास हमारा संस्कार बन जाता है। संस्कार सबसे कठोर बेड़ियाँ भी हैं—और आगे बढ़ानेके लिए सबसे बड़ी एड़ भी? संस्कारोंका आवश्यक संशोधन सही कार्य और चिन्तनकी दिशामें प्रेरणा और प्रोत्साहन बनता है। शायद सफल उपन्यास-का सबसे बड़ा गुण भी यही हो सकता है कि वह वर्तमानको ऐसा सटीक बना दे कि ऐतिहासिक महत्त्वकी चीज़ हो जाये, और इतिहासको ऐसा नया सजीव-सवाक् बना दे कि वह वर्तमान-जैसा लगे। बात थोड़ी व्याख्या चाहती है। परिस्थितियों और भावनाओंके क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संकलन, सम्पादन तथा दोनोंको चित्रित करनेवाले वैज्ञानिक दृष्टिकोणने 'गोदान'को एक ऐतिहा-

सिक उपन्यासको गरिमा दे दी है। एक विशेष युगमें भारतीय जन-मन क्या था, इसे समझनेके लिए अलमारियों-भरे गज़ैटियर मैन्युअर, आँकड़े 'गोदान' की तरह हमें उस युगको हृदयंगम नहीं करा सकते। इसी तरह अमिता, चित्रलेखा या दिव्या रंगरूपमें 'ऐतिहासिक' लगते हुए भी आधुनिकतम समस्याओंको हमारे सामने रखते हैं। हम उनके माध्यमसे वर्तमानको देखते हैं। दोनों ही परिस्थितियोंमें आवश्यकता आँकड़ों और तथ्योंकी इतनी नहीं है, जितनी उनके पीछे छिपे सत्यको पानेके आग्रहकी है—उस 'सत्य' को पानेके आग्रहकी, जो म्यूज़ियमकी शोभा नहीं बल्कि जीवन और जिजीविषा बन सकता है। दोनोंकी सीमाएँ चाहे हर क्षण टकराती हों, लेकिन मूलतः उपन्यासकार इतिहासकार नहीं है। इतिहासमें मनमानी तोड़मरोड़ करनेका अधिकार उसे निश्चय ही नहीं है लेकिन उसमें ग्रहण और वर्जनका अधिकार उसे अवश्य ही है। यहाँ विमल बाबूकी अपनी बातकी अपेक्षा उक्त उपन्यासकी भूमिकामें दिये गये ये शब्द उपन्यासकारके दायित्वको समझनेमें अधिक सहायक होते हैं…"इतिहासके पंखोंपर चढ़कर मेरी कहानी रस-विहार करे तो करे, लेकिन कहानीके पंखोंपर चढ़कर इतिहास रस-विहार न करने पाये—इस ओर मेरी दृष्टि सतर्क रही है।"

इतने सब विवेचनके बाद जब निष्कर्षके रूपमें मैं यह कहता हूँ कि उपन्यासका काल-क्षेत्र कोई भी हो, सचेत उपन्यासकार कभी भी आजको नहीं भुला पाता, तब उसका अर्थ यह भी है कि वह हर आजको आनेवाले कलकी दृष्टिसे देखता है—देखे; तभी वह अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्वकी गरिमाका निर्वाह कर पायेगा। यह ठीक है कि जिस क्षणको हम जीते हैं, उसे समग्रतः तटस्थ होकर कभी नहीं लिख पाते, लिख उसी क्षणको पाते हैं जिसे जी चुकते हैं; विगत क्षणका मानसिक आकलन ही लिखनेकी प्रेरणा है। उस क्षणको कितनी गहराई तथा तीव्रतासे आकलित कर सकते हैं, यह संवेदन-शक्तिके साथ-साथ कल्पना-प्रवणतापर भी निर्भर करता है। फिर भी उस क्षणके सारे प्रभावोंसे मुक्त होकर ही हम लिखें, या

हठपूर्वक प्रतीक्षा करें कि वे सारे प्रभाव धुल जायें—यह बहुत अधिक बोधगम्य या 'कन्विन्सिंग' तर्क नहीं है। हर 'आज' पिछले कलका समाहार, एक अविच्छिन्न विकास और अगले कलका आभास, पृष्ठभूमि है—यह इतिहासकारसे अलग उपन्यासकारकी दृष्टि है। एकके सामने भविष्य है और दूसरेके सामने भूत। एकके पैर आगे होते हैं दूसरेके पीछेकी ओर मुड़े हुए। आनेवालेकी छाया हमारे ऊपर पड़ती है—और गया हुआ स्वयं छाया होता है, उसकी कोई छाया नहीं होती।

लेकिन 'महान् अतीत' वाले साहित्यकारों और चिन्तकोंकी एकमात्र ट्रैजेडी यही रही कि उन्होंने अपने ऊपर पड़नेवाली छायाओंको तो सदैव ही प्रयत्नपूर्वक झुठलाया और विरूप-विकलांग छायाकृतियोंके पीछे 'हे महान् अतीत, हे महान् अतीतो' की रट लगाते हुए बे-तहाशा भागते रहे हैं। हिन्दीमें इस पराङ्मुखी दौड़का सबसे दयनीय उदाहरण गुरुदत्त हैं। संसारके हर देशमें यह 'महान् अतीत' का भूत विकास और उत्थानका सबसे बड़ा बाधक सिद्ध हुआ है। हर अतीत-गर्वी तीन हज़ार साल पीछेके जीवनको देखकर तो गर्व और दर्पसे फूला नहीं समाया है कि हमारे पुरखे कितने महान् थे? लेकिन उसने कभी भी अपने तीन हज़ार साल बाद सोचनेकी तकलीफ़ गवारा नहीं की कि हम निकम्मोंको आनेवाले किन शब्दोंमें याद करेंगे। हमारे पुरखोंने कुछ किया था, इसलिए हम उनके गीत गाते हैं; लेकिन उनके गीत गानेके अलावा हम और ऐसा क्या कर रहे हैं कि आनेवाले हमारे भी गीत गायें। आनेवाले सिर्फ़ हमें गाली देंगे।

अमृतलाल नागरके सम्बन्धमें लिखते हुए ऊपर विमल मित्र और उपन्यास तथा इतिहासके सम्बन्धोंको याद मुझे इसलिए आयी कि नागरजीकी तरह मित्र बाबू भी सुदूर अतीतकी अपेक्षा एकदम निकट अतीत—अर्थात् हमसे ठीक पिछली पीढ़ी तकके अतीतके चितेरे हैं। नयी महाजनी सभ्यता, मध्यवर्गकी उठती रोशनीमें राजा-रईसोंके अन्तिम दिनोंके दम-तोड़ते जीवनका चित्रण ही नागरजीके उपन्यासोंकी तरह विमल बाबूके 'साहब, बीबी,

गुलाम' का विषय है। लेकिन 'क्या छोड़ें', 'क्या रखें' की समस्याने विमल बाबूको क़तई वैसा आक्रान्त नहीं किया जैसा नागरजीको। कॉरपोरेशनकी ओरसे भूतनाथ नामक एक ओवरसियर एक पुराने राजसी मकानको तुड़वाकर नयी सड़क निकालनेके लिए नाप-जोख करते हुए फ्लैश बैकमें सारी कहानीको देखता है। मकान पुराना है। इसलिए उसे तोड़े या न तोड़े, उसके सामने यह बात एक समस्याका रूप लेकर आती ही नहीं है—वहाँ तो सड़क बननी ही है। लेकिन 'बूँद और समुद्र' की ताईकी विशाल हवेलीको सज्जन मन्दिरकी तरह पूजनेको बाध्य है, उसे तोड़नेकी बात सोचना भी उसके लिए पाप है। ज़्यादासे ज़्यादा वह यह कर सकता है कि उस हवेलीमें एक स्कूल खुलवा दे। बीते हुएके प्रति विमल बाबूका दृष्टिकोण, एक कामकाजी, व्यस्त और गतिवान् आदमीका दृष्टिकोण है; नागरजी जैसे म्यूज़ियममें एक-एक पत्थरकी कनीको निहायत फ़ुरसतसे बैठकर निहारने, निरखने, सपनोंमें डूबने-उतरानेवाले आदमी हैं। एक हलका-सा ख़याल उन्हें ज़रूर है कि, 'हाँ, यहाँसे जाना है, लेकिन अभी जल्दी क्या है, चले जायेंगे। एकसे एक ख़ूबसूरत नायाब चीज़ें, पता नहीं, आगे देखनेको मिलेंगी भी या नहीं।' इस सबके सौन्दर्य और महानतासे वे इतने प्रभावित और मोहाच्छन्न हैं कि जैसे उन्हींमें रमे रहना चाहते हैं—वहीं बस रहना चाहते हैं और अब स्थिति कुछ ऐसी आ गयी है कि 'इतिहास-मुग्ध' नागरजीको ध्यान दिलाया जाये कि "हे द्रष्टा, इतिहास आपका पड़ोसी जब था, तब था, अब तो आप स्वयं उसके घर-जमाई रह गये हैं।"

अमृतलाल नागरको समझनेके लिए उनकी कहानी 'दो आस्थाएँ' का अन्तिम वाक्य सूत्रकी तरह लिया जा सकता है: "नया युग पुराने युगसे स्वेच्छासे बिदा हो रहा था; पर बिदा होते समय कितना प्रबल मोह था और कितना निर्मम व्यवहार भी…" यही अन्त उनके 'बूँद और समुद्र' का भी है। लेकिन बिदाईकी रस्में इतनी लम्बी-चौड़ी हैं—(और उन्हें

निभायें नहीं, यह नागरजी कर नहीं सकते) कि नवाबोंके चूड़ीदार पाजामा पहननेकी क्रियाको तरह समाप्त ही होने नहीं आतीं।

'गोदान'के बाद 'बूँद और समुद्र' को उत्तर भारतीय जीवनका दूसरा महाकाव्य कहा जा सकता है, और इसमें भी कोई अत्युक्ति नहीं है कि औपन्यासिक माइक्रोस्कोपसे बूँदको ऐसी 'सामुद्रिक विराटता' शायद ही कभी मिली हो। 'वार ऐण्ड पीस'में पाँच सौ प्रमुख-अप्रमुख नाना वर्ग और वेशके पात्रोंके माध्यमसे पूरी एक शताब्दी बोलती है—हर पात्रका अपना व्यक्तित्व है, विशेषता है। एक शताब्दी तो नहीं, हाँ आधी शताब्दी निश्चित रूपसे 'बूँद और समुद्र' में भी बोलती मिलेगी। ताईका चरित्र निःसंकोच रूपसे भारतीय उपन्यासकी एक विशेष उपलब्धि माना जा सकता है। 'जैहै बनि-बिगर न सागरता सागरकी, बूँदता बिलैहै बूँद बिवस बिचारी की' की व्यक्तिवादी मान्यताको एक नयी सामाजिक परिभाषा जिस प्रभाव और परिवेशमें मिली है, उसके पीछे गम्भीर चिन्तन और मानसिक श्रम है। व्यक्ति और समाजके जिन अछूते क्षणों और कोणोंको प्रस्तुत उपन्यासमें वाणी मिली है—उसके लिए असन्दिग्ध रूपसे अद्वितीय प्रतिभाकी अपेक्षा है। सचमुच इस उपन्यासमें गलियाँ बोलती हैं, दीवारें बातें करती हैं और मुहल्ले जागते हैं। जगह-जगह कथोपकथन, नाटकीय स्थितियोंका चित्रण और मानसिक ज्वार-भाटोंका वर्णन पढ़-पढ़ कर मेरे मनमें ईर्ष्यामयी 'हूक' उठी है : काश, मैं एक पन्ना ही ऐसा लिख पाता।

इतना सब होते हुए भी डॉ० रामविलास शर्माके इस कथनमें तथ्य है कि उपन्यासको काफ़ी छोटा किया जा सकता था। आजके पाठकको इतना धैर्य नहीं है, जितना बालज़कके पाठकको था और उसपर सॅमरसेट मॉमने जो आरोप लगाया है, वह कई जगह नागरजीपर भी लगाया जा सकता है : "अपने इन विवरणोंमें वह स्पष्ट ही इतना रस लेने लगता है कि अकसर आपके जाननेकी इच्छासे बहुत अधिक बता देता है।" नागरजी भी चाहते तो

मथुरा, वृन्दावन, बिहार, महिपालके आत्मचिन्तन, बाबारामजीकी 'बहकों' पर थोड़ा अंकुश लगा सकते थे। इससे कथानक कुछ गठ जाता। चेखवने गोर्की के 'फ़ोमा गॉर्गियेव' के बारे में कहा था, "उपन्यास लिखनेमें सबसे अधिक जाननेकी ज़रूरत है, 'लॉ ऑव सिमेट्री'—ढेर या समूहमें-से सन्तुलन और समतोल। उपन्यास तो एक महल है, पाठकको आप स्वतन्त्रता दीजिए कि वह उसमें जहाँ चाहे जाये! जैसे किसी अजायबघरमें ले आये हों, इस तरह उसे उबाइए या चौंकाइए मत।"

असलमें नागरजीको समझनेके लिए उस युगकी कुछ प्रवृत्तियोंको समझना होगा, जब दुनियाकी किसी सच्चाईको लोग बिना भारतीयताका सर्टिफ़िकेट दिलाये, ग्रहण नहीं कर सकते थे। यथार्थवाद बिना सांस्कृतिक-नमकके गले नहीं उतरता था, और धीरे-धीरे वह नमक कुछ ऐसा मुँह लग गया कि उसकी हलाली करनेमें दीन-दुनियाका होश ही नहीं रहा। जिधर देखिए, उधर नमकीन। नमक ही जीवनका परम सत्य है—यह आग्रह ऐसा दिलोंमें जमा कि जगह-जगह नमक बनने लगा। मार्क्सके गलेमें 'रघुपतिराघव' का रामनामी दुपट्टा और अरविन्दोमाला डाले, या (नागरजीके ही शब्दोंमें) 'कम्युनिज़मको गान्धीवादो अहिंसाका जनेऊ पहनाकर उसे भारतीय बनाये ('बूँद और समुद्र' पृष्ठ १०३) बिना, रोटी-बेटीकी तो बात ही क्या, उसे अपने घरकी देहलीज नहीं लाँघने दी जा सकती थी।' नागरजीने भी कम्युनिस्ट वनकन्याको सज्जनकी सजनी बनानेमें वही नमक-अदायगी की है। 'निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीपशिखोदय' कहकर कवि सुमित्रानन्दन पन्तने जिस 'युग-पुरुष' की वन्दना की है—'बूँद और समुद्र' को समझनेके लिए ठीक उसी मानसिक पृष्ठभूमिकी आवश्यकता है। रातमें गोमतीके किनारे मन्दिरमें महिपाल शिवके 'विरोधोंका समन्वय' करनेवाले रूपकी वन्दना करता है—मानो वह उपन्यासका पैटर्न दे रहा हो।

उपन्यासका नायक चित्रकार सज्जन, एक ही साँसमें 'कम्युनिस्ट'

वनकन्या और इलहामी बाबारामजी—दोनोंका वरण किये हुए हैं। समग्रत: उपन्यास एक ऐसे बड़े कमरेकी तसवीर सामने लाता है, जिसमें कहीं किसी कोनेमें बैठी ताई ननदोंसे घुस-फुस बातें करती, आस-पास मँडराते बिल्लीके बच्चोंको झिड़कती, सिन्दूरमें घोवाले तिल मिलाकर आटेके पुतलेपर मारणयन्त्र साध रही है; कहीं कर्नलकी हिरासतमें महिपाल पत्नीकी अदालतमें पेश है; कहीं बाबारामजी अपने पागलोंको लिये भंग घोट रहे हैं, और कहीं सज्जन और कन्या रास देख रहे हैं। वातावरणको प्रभाव देनेके लिए और लोग आते-जाते रहते हैं। और सब मिलाकर यह कमरा सम्पन्न परिवारके सज्जनका मस्तिष्क है, जो तमाशाई-दर्शककी तरह गली-मुहल्लोंके जीवनका अध्ययन करने राजा द्वारकादासकी पुरानी हवेलीके एक कमरेमें आकर रहने लगता है।

नागरजीके तीनों उपन्यासोंके प्रमुख पात्र—सेठ बाँकेमल, मास्टर पाँचूगोपाल और सज्जन अपेक्षाकृत भोक्ता कम, श्रोता और दर्शक अधिक हैं। वे अपने व्यक्तिगत जीवनकी तुलनामें अपने आस-पासके जीवनको अधिक दिखाते-सुनाते हैं। आजके इस युगमें जब उपन्यासकारने उपन्यासको अपने ही अन्तर्मनकी डायरी बना दिया है, यह बहुत क्रान्तिकारी बात है। नागरजीके कान और आँख जितने तेज़, संवेदनशील और पैने हैं, शायद ही हिन्दीके किसी उपन्यासकारके उतने हों; लेकिन मैं ज़रा साहसपूर्वक उनसे कहूँगा कि वे बाबारामजी-जैसे सिद्धोंके दर्शनों और प्रवचनोंमें अपनी इन दुर्लभ शक्तियों और हमारे धैर्यको न खोयें तो बड़ा उपकार हो।

जी हाँ, मैं बिना किसी लाग-लपेटके कहूँगा कि बाबारामजीका चरित्र इस उपन्यासमें जिस रूपमें लाया गया है, वह निहायत आपत्तिजनक है, और सन् १९५७ में प्रकाशित होनेवाले उपन्यासके लिए सचमुच एक कलंककी चीज़ है। विज्ञान संसारकी सभी बातोंका जवाब देनेका दम्भ नहीं करता, प्रयत्न करता है। आज भी बहुत-से चमत्कार हैं, जिनकी समुचित व्याख्या विज्ञान नहीं कर पाया है, लेकिन उन चमत्कारोंको

जाननेसे अधिक पूजना और श्रद्धा देना, या उनके चरणोंमें अपना मस्तिष्क चढ़ा देना ही एकमात्र सही रास्ता है, तो आइए हमलोग उड़न तश्तरियों को पूजें, हिममानवके चरण-चिह्नोंको पूजें, पोटाशियम साइनाइड और तीन गोलियोंसे भी न मरनेवाले रासपुटीनको पूजें। ताईके टोने-टोटकेको रुचि और आदरसे देखनेमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, महिपालकी सांस्कृतिक-पुरातत्त्वीय बहकोंको जी कड़ा करके हम दरगुज़र कर दे सकते हैं; भुस-भरे मरे बच्चेको देखकर दूधसे भर-भर आनेवाली भैंसकी तरह, मथुरा-वृन्दावनकी सड़ती लाशोंको देखकर श्रद्धा-विगलित होकर रोनेवाले सज्जनपर भी हम तरस खा सकते हैं, लेकिन पहुँचे हुए सन्तों और अन्तर्यामी सिद्धोंकी पलटनकी वन्दनामें नागरजी भी अपनी 'वन्दनाका एक स्वर और मिला दें', यह हरगिज़ सहनीय नहीं है। वैसे ही क्या कम ढोंग और भ्रम हिन्दुस्तानमें हैं जो नागरजीको एक और बनवा देनेकी ज़रूरत पड़ी। जिस तरहके महिलाश्रमका भण्डाफोड़ सज्जनने किया है, क्या वे भी एक दिन यों ही सदुद्देश्योंसे प्रेरित होकर नहीं बने थे?

'दास्तान अमीरहम्ज़ा' में उमरू अय्यार जहाँ भी मुसीबतमें फँस जाता है, फ़ौरन ही हज़रत ख्वाजा खिज्र प्रकट होकर उसकी मदद करते हैं, उसे मुसीबतसे निकालते हैं। उसे आवाज़ें सुनाई देती हैं: "तेरे बायीं ओरके पत्थरके पीछे एक चोर दरवाज़ा है। उसे हटा···" इत्यादि और अलिफ़ लैलामें सिरका बाल जलाकर जिन और आसेब प्रकट होते हैं। क्या आज भी मानव-मस्तिष्क उसी युगमें खड़ा है? उसी स्तरपर है? फिर यह सज्जनको सुनाई पड़ती आवाज़ें—बाबारामजीका समय-असमय प्रकट होना, अपने जादुई प्रभावसे मनकी बातें जानना और सज्जनसे लेकर ताई तकको बात-की-बातमें लाखों रुपयोंके त्यागके लिए प्रेरित कर देना, यह सब क्या है?

अगर अपनी सांस्कृतिक विरासतका मोह और इतिहासका प्रेम इस नतीजे और स्तरपर लाकर खड़ा कर दे, तो सचमुच हमें उस सबकी

आवश्यकता नहीं है ! हम—अर्थात् नया मस्तिष्क—उसे बेबाक़ उद्धत और अशिष्ट रूपसे अस्वीकार कर देनेको बाध्य हैं । हम अपने संग्रहालयोंको संग्रहालय ही बना रहने देना चाहते हैं—जादूगरका कमरा नहीं । इतना तो नागरजी भी मानेंगे कि भगवान्ने शेष सारी दुनियासे अलग किसी ख़ास मिट्टीसे हिन्दुस्तानके इन चमत्कारी पुरुषोंको नहीं गढ़ा । हिन्दुस्तानके बाहर फिर ऐसे अवतार क्यों नहीं सुनाई देते ? इस दृष्टिसे तो सूँघते हुए भीड़में छिपकर खड़े चोरके पास पहुँच जानेवाला मदारीका बैल सबसे अधिक 'पहुँचा हुआ सिद्ध' है । सचमुच इस मनोवृत्तिको क्या कहा जाये कि हम ठेठ कम्युनिज़्मकी बातको भी इन चमत्कारी योगियोंसे सुनकर ही आनन्द-लाभ कर सकते हैं, वैसे वे त्याज्य हैं हो !

तो मैं कह यह रहा था कि नागरजी के निर्माणमें उनके युगकी वे 'टिपीकल' मध्यवर्गीय प्रवृत्तियाँ रही हैं, जो एक ओर तो प्रचण्ड बुद्धि-वादी, उग्र, प्रगतिशील होनेका दम भरती थीं और फ़ौरन ही दूसरी ओर भाग्यवाद, पुनर्जन्मवाद, साधु-सन्त, पण्डे-पुजारी, तीर्थ इत्यादिके खूँटेसे आस्थाको बाँधे रखती थीं, इसलिए 'बूँद और समुद्र' का अच्छे से अच्छा पात्र मूलतः इन प्रवृत्तियोंका शिकार है ।

ख़ैर, इस आक्रोशका अर्थ कभी भी इस सत्यसे इनकार करना नहीं है, कि 'बूँद और समुद्र' हिन्दीके श्रेष्ठतम उपन्यासोंमें-से एक है, अपने वर्ग और कालकी बेजोड़ तसवीर है । अपनी इन सारी विशेषताओंके साथ वह उन लोगोंका सफल प्रतिनिधित्व कर सकता है, जिनका इसमें चित्र है । इसे नागरजीने भूमिकामें 'मध्यवर्गके नागरिक-समाजका गुण-दोष-भरा चित्र' कहा है । 'मध्यवर्गीय नागरिक-समाज'के किन विशेष लोगोंकी यह तसवीर है, इसे नागरजी ज़रा और साफ़ कर देते तो इस सबकी आवश्यकता नहीं पड़ती—क्योंकि निश्चित रूपसे यह मध्यवर्ग वह नहीं है, जिसमें हम अर्थात् आजकी पीढ़ी जीती है, यह मध्यवर्ग वह है, जिसमें हम जी चुके हैं, अर्थात् जो हमारे सामने चुक रही है—समाप्त-

प्राय हो गयी है। चुनाव इत्यादिके नयेपनके बावजूद यह द्वितीय महायुद्ध-से पहलेका मध्यवर्ग है। सारे उपन्यासमें प्राय: एक भी नौकरी-पेशेवाला आदमी नहीं है—सभी खाने-पीनेकी चिन्तासे मुक्त या फ्री-लान्सर हैं। ताराका पति टी० एन० वर्मा भी 'प्रोप्राइटर अजन्ता रेडियो' ही है। खाने-पीनेकी नहीं दहेज इत्यादिकी चिन्ताके लिए महिपालपर आर्थिक कष्ट आता है—वह हार पाकर समाप्त हो जाता है। जिस मध्यवर्गमें वकील, डॉक्टर, प्रोफ़ेसर, विद्यार्थी, क्लर्क, एजेण्ट, बेकार—और ठीक उन्हींके स्तरकी राजनीति, मुहब्बत, खेल, सिनेमा, क्रिकेट, जीवित रहने का संघर्ष, महत्त्वाकांक्षाएँ, फ्रस्ट्रेशन''''घुटन, कुण्ठा, विकृतियाँ, बहसें—कुछ भी नहीं है, वह शायद हमसे पहलेका मध्यवर्ग है।—पता नहीं क्यों, हर समय मुझे ऐसा लगता रहा जैसे यह जीवनकी जद्दोजेहदसे रिटायर्ड लोगोंवाला मध्यवर्ग है—जिनकी पेन्शनें आती हैं, किराये आते हैं, दूकानोंपर नौकर काम करते हैं या जो अपने पेशेमें भली प्रकार जमे हैं। उनके जीवनको झकझोरती हैं औरतें, डॉ० शीला स्विग, चित्रा राजदान। अपने जीवनमें काफ़ी खेले-खाये प्रौढ़ोंके रोमान्सकी ये कहानियाँ हैं—उन प्रौढ़ोंकी, जो जीवनमें अब जैसे-तैसे इस रूपमें भी कहीं सैटिल हो जाना चाहते हैं। इस प्रयत्नमें कुछको जीवनसे तलखी मिलती है। कुछको झूठा-सच्चा सन्तोष। सारे उपन्यासके स्त्री और पुरुष अपने पारस्परिक सम्बन्धोंमें जैसे किसी भीषण पापकी छायाओंसे आतंकित, त्रस्त और आन्दोलित हैं। उन्हें हमेशा लगता रहता है जैसे वे कुछ ऐसा कर चुके हैं, जो अवैध था, वर्जनीय था और जो नहीं होना चाहिए था—वे कुछ ऐसा कर रहे हैं, जिसे समाप्त हो जाना चाहिए, क्योंकि वह पिछलेके नैरन्तर्यमें है! कन्या और सज्जनको छोड़कर वे सभी एक ऐसी व्यवस्थाके शिकार, और अवस्थामें जीवित हैं, जिसके प्रति उन्होंने पूरी तरह आत्म-समर्पण कर दिया है, इसलिए उनकी स्थापनाएँ और विश्वास व्यावहारिक संघर्षोंमें नहीं आते—वे उन्हें आपसी बहस-मुबाहिसोंमें ही तय कर लेते

हैं । व्यवहारमें तो वे पुरानेके प्रति समर्पित हैं ही, जो शीला स्विंगका ही बलिदान नहीं माँगता—महिपालको भी पीस देता है ।

'बूँद और समुद्र' का मध्यवर्ग उन लोगोंका मध्यवर्ग है, जो गुज़रते राजा-रईसों और जमते हुए सेठोंके हर उत्तराधिकारको सँभालनेको बाध्य है—कुछको वह स्वीकार करता है, कुछसे पिण्ड छुड़ानेमें असमर्थ है, कुछसे लड़ता है, कुछको एकदम फेंक देना चाहता है, और कुछको सेवा और भक्तिमें लगाकर जैसे प्रायश्चित्त करते हुए मुक्तिकी साँस लेता है । चलो, पुरखोंके पापका हमने कुछ तो मार्जन किया । इसलिए इसमें दान, भक्ति, सेवा, आत्महत्या सभी कुछ हैं । और इस मध्यवर्गकी बोल-चाल, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, संस्कार-संस्कृतिका जैसा सजीव, सटीक, और सवाक् चित्र नागरजीने दिया है, वह प्रथम श्रेणीकी औपन्यासिक प्रतिभा और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिके बिना दे पाना असम्भव है । बोल-चालके लहजे, भाषाके लटके, स्थान-स्थानकी बोलियाँ, मानसिक उतार-चढ़ाव, शारीरिक चेष्टाएँ, चेहरे-मुहरेके हाव-भाव, नाटकीय परिस्थितियाँ जितने सुन्दर ढंगसे नागरजीने दी हैं—उन सबको इतना जमकर भारतवर्षमें कोई और उपन्यासकार दे पाया है या नहीं—मैं नहीं जानता । आजकल जीवनको ज्योंका त्यों चित्रित करनेका यथार्थवादी आग्रह हिन्दी उपन्यासोंमें लोक-संस्कृति, लोक-जीवन और लोक-भाषाको अधिकसे अधिक वास्तविक रूपमें प्रस्तुत कर रहा है । नागार्जुन, फणीश्वरनाथ 'रेणु', उदयशंकर भट्टने अपने कुछ उपन्यासोंमें वार्तालापोंको देशकालानुरूप भाषापर विशेष बल देना शुरू कर दिया है, लेकिन मैं निस्संकोच रूपसे कह सकता हूँ कि देश, काल, अवस्था, पात्र, मनोवृत्ति सभी रूपोंमें कथोपकथनकी भाषा जितनी समर्थ नागरजी की है, शायद ही सफलताकी उस ऊँचाईको किसीने छुआ हो । कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, सभीकी बोली तो आपको नागरजीकी रचनाओंमें मिलेगी ही, आगरा, लखनऊ, बनारसकी भाषाके सूक्ष्म वर्ग और पात्रानुसार भेदोपभेद नागरजीकी अपनी विशेषता

है। यहाँ भी बुद्धिजीवी इण्टलैक्चुअलसे सेठ-व्यापारी वर्गकी भाषा अलग है, नौकरों और जनसाधारणकी भाषा अलग है, पण्डे-पुजारियों और 'जिजमानों' की बोली अलग है, उनमें भी बूढ़ों और जवानोंकी बोली, पुरुषों और स्त्रियोंकी बोली अलग सुनाई देती है। स्त्रियोंकी चेष्टाओं और बोलियोंका नागरजीका अध्ययन सचमुच विश्वकोशीय है। सास, बहू और बेटी सब अपने ढंगसे बोलती हैं। अगर इतना गहरा और सूक्ष्म अध्ययन न होता तो ताई-जैसा अमर चरित्र दे पाना असम्भव था। यों तो नन्दो, बड़ी, कल्याणी—सभी अपना सानी नहीं रखतीं।

सामन्तवादकी सिमटती-समाप्त होती संस्कृति, भाषा-बोली, रीति-रिवाज और समग्रत: वह जीवन नागरजीके कथाकारका प्रिय विषय रहा है। उसका अध्ययन उन्होंने बड़ी लगन और फ़ुरसतसे किया है, बड़े स्नेह और चावसे उसकी बातें सुनी हैं। नागरजीको मैं इसीलिए भारतका अद्वितीय हास्य-लेखक मानता हूँ कि वे कभी हास्यास्पद परिस्थितियाँ नहीं गढ़ते। उनका हास्य एक विशेष संस्कृति और समाजमें पली मानसिकता और मनोविज्ञानकी वह मजबूरी है, जिसपर हम हँसते हैं। लेखकको हमारे हँसनेपर कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन वह उनकी मजबूरीसे सहानुभूति रखता है, इसलिए खुद नहीं हँसता। चेखवसे जहाँ नागरजीकी बहुत-सी बातें मिलती हैं, वहाँ हास्यका यह तरीक़ा भी मिलता है। रेलके बोल्ट उखाड़कर मछली पकड़नेकी बंसीके काँटेमें लगानेवाले भोंदू आदमीके तर्कोंपर आप हँसें तो हँसिए—लेखक नहीं हँस सकता। लोगोंके अनागरिक रवैये, लड़कियोंके बेशऊरेपन, रात-रातभर गाना, हँसना, इकट्ठे होना मिलिटरीके रिटायर्ड हवलदारके लिए तो जीवन और मरणकी समस्या है, आप उसपर खिलखिला सकते हैं। यह टिपीकल 'चेखवीय' हास्य है। यह उन दो पीढ़ियोंका गम्भीर अध्ययन है जिनके लिए एक दूसरेके सारे तौर-तरीक़े हास्यका आलम्बन बनते हैं।

नागरजीके महाकालके दयाल ज़मींदार और मोनाई दोनों विराट् हो कर 'बूँद और समुद्र'में राजा सर द्वारकादास और लाला जानकी-सरनके वेशमें दिखाई देते हैं। दोनों ही अपने-अपने उपयुक्त रोलमें हैं। इस बार इनके साथ यूनियन बोर्डके सेक्रेटरी नहीं; गवर्नर और मन्त्री हैं और योजनाएँ चुनावके प्रजातन्त्रीय अस्त्र-शस्त्र हथियानेकी हैं। इन दोनों महानुभावों और इनके या उनके पुरखों-द्वारा दी हुई संस्कृति-सभ्यताके हर रूपसे नागरजी ख़ूब परिचित हैं। वे उनकी हर नब्ज़को जानते हैं। लगता है, उन्होंने इनकी सोहबतें की हैं, उन्हें भीतर तक देखा है। इस सारी प्रक्रियामें एक कमज़ोरी यह आयी कि उन दोनोंका स्थान लेनेवाली शक्तियोंको भी प्रायः उन्होंने उन्हींके चश्मेसे देखा है। इसलिए उनकी बौद्धिक सहानुभूति यदि कन्याकी ओर (कन्या युवती, सुन्दरी और विदुषी है) भागती है, तो हार्दिक आस्था बाबा रामजीकी ओर (क्योंकि उनके पास वह सब है जिसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी पूजनेका आदेश हमें मिला है) और फल यह होता है कि 'कम्युनिस्ट' कन्या विचारोंमें क़तई प्रगतिशील नहीं है, वह 'राम भगतिनियों' में रह गयी है और रामजी सारे वादोंसे परे नये मानवके मसीहा—सुपरमैन।

लेख समाप्त करनेसे पहले कुछ सफ़ाई अपनी ओरसे दूँ। इतनी समृद्ध-सामग्री और ऐसी पैनी अन्तर्दृष्टिसे सम्पन्न अमृतलाल नागर निर्विवाद रूपसे हम लोगोंके बीचमें 'जायण्ट' हैं, इसलिए यशपालके प्रकाशकका यह विज्ञापन उनके ऊपर ज्यों-का-त्यों लागू होता है : "उसे उदीयमान समझ-कर इन कहानियोंको परखने और आलोचना करते समय किसी लिहाज़ और मुरव्वतकी ज़रूरत नहीं। पाठक कलाके क्षेत्रमें अपना राई-रत्ती उगाहनेकी आशासे इन कहानियोंका पढ़ सकते हैं।"

व्यक्तिको समाजके सन्दर्भ और परिपार्श्वमें समझने और इस सारे समाजके विस्तृत-विशद विहंगावलोकनके परिणाम-स्वरूप व्यक्तित्वको

सामाजिक परिभाषा देनेकी दिशामें 'बूँद और समुद्र' अकेला है। यों बाल-की खाल निकालनेको हमारे यहाँ अच्छी दृष्टिसे नहीं देखा जाता, लेकिन बूँदमें सागरकी विराट् भूल-भुलैया दिखाकर नागरजी सज्जनको किनारे ले आये हैं, यह खुशीकी बात है। अब किनारेपर बैठाकर वे खुद उससे किनारा न कर जायें—यह मेरी उनसे व्यक्तिगत माँग है।

● ●

निर्मल वर्मा

कथाशिल्पका विशिष्ट प्रयोग*

जब किसी कृतिपर विभिन्न प्रकारकी विरोधी धारणाएँ व्यक्त की जा चुकी हों—यहाँतक कि उसकी आड़ लेकर वैयक्तिक-स्तरपर अप्रासंगिक वाद-विवाद उठ खड़े हुए हों—तब ऐसी स्थितिमें उस कृतिपर सहज रूपसे कुछ भी कह पाना कठिन हो जाता है। पुस्तकके सम्बन्धमें हमारी मौलिक प्रतिक्रियाओंके साफ़-सुथरे आइनेपर बहसकी धूल जमा हो जाती है और हम 'आलोचनाके मानदण्डों'से इतने अधिक सन्त्रस्त हो जाते हैं कि हमें स्वयं अपनी अनुभूतियोंपर अविश्वास होने लगता है। अतः यह आकस्मिक नहीं कि 'परती : परिकथा'पर मेरे अनेक साहित्यिक मित्रोंने समय-समयपर अपनी राय बदली है (या एक ही समय दो परस्पर-विरोधी धारणाएँ व्यक्त की हैं!)—यह कहना कठिन है कि ये 'विचार-परिवर्तन' हमेशा 'परिकथा'के आत्यन्तिक-महत्त्वके आधारपर ही हुए हों। यह उलझाव किसलिए?

जाहिर है इसका कारण 'परिकथा'की कथावस्तु या शिल्पका उलझाव नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत पुस्तकके सम्बन्धमें जो भी मतभेद रहा हो, उसपर दुरूहता या अस्पष्टताका आरोप शायद ही किसीने लगाया है। वस्तुतः इस उलझावका कारण 'परिकथा'में न होकर हमारी आजकी आलोचना-पद्धति, साहित्यके तथाकथित मानदण्डोंमें सन्निहित है। 'परती : परिकथा'-के मूल्यांकनमें उसकी प्रशंसा और भर्त्सना करते हुए जो अतिरंजित

* परती : परिकथा : फणीश्वरनाथ 'रेणु'

विशेषण प्रयोग किये गये हैं, उसे देखकर लगता है मानो उसके गुण-दोषोंका तो विश्लेषण कम हुआ है, आलोचकोंने* उसे अपने सैद्धान्तिक मानदण्डोंके अमूर्त चौखटों (ऐब्सट्रैक्ट केटेगेरीज़) में फ़िट करनेका प्रयत्न ही अधिक किया है।

'परती : परिकथा' हिन्दी उपन्यासोंकी परम्परागत पद्धतिसे भिन्न है (हालाँकि 'मैला आँचल'के बाद रेणुके कथा-शिल्पमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई देता)। उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण भी पुरानी लीकोंसे हटकर होगा। समूचा उपन्यास पढ़ जानेके बाद लगता है जैसे हम किसी गाँवका अद्‌भुत विचित्र 'कार्नीवाल' देख आये हैं। अनेकानेक रंगों, गन्धों, सुरोंकी हहराती धारा हमारे बीच बहकर आगे बढ़ गयी है, अनेक व्यक्तियोंकी असंगतियों, सुख-दुःख, हास-विलाससे हमने अपनेको सम्पृक्त किया है; किन्तु ये चेहरे, रंग और सुर अपनेमें महत्त्वपूर्ण नहीं हैं—महत्त्वपूर्ण है इस 'कार्नीवाल'की गतिमयता, अविरल प्रवाहकी कलकल, हवामें उड़ते रंगोंकी आभा, एक मायावी लय जो समस्त व्यक्तियों और घटनाओंके बीच गुज़रती हुई हमारे मस्तिष्क और हृदयको आलोडित कर देती है।

कहा गया है कि 'परती : परिकथा' में केवल कच्चा माल है, उसमें किसी प्रकारका जीवन-दर्शन नहीं, कोई शृंखलाबद्ध योजना नहीं, उसमें किसी केन्द्रीय-सूत्रका सर्वथा अभाव है। सहसा मनमें प्रश्न उठता है—क्या ये तत्त्व 'मैला आँचल' में विद्यमान हैं ? यदि नहीं, तो क्या हम यह मान लें (जो हमें मानना चाहिए, यदि हमारी समीक्षा-पद्धति तर्कसंगत है) कि 'मैला आँचल' उपन्यासके स्वीकृत मान-दण्डोंपर खरा नहीं उतरता।

लगता है अब तक 'मैला आँचल' की केवल भावुकतापूर्ण प्रशंसा की गयी है, उसके द्वारा 'रेणु' ने हिन्दी उपन्यासके रचना-विधान और कथा-शिल्पके क्षेत्रमें जो परिवर्तन किये हैं, नये मोड़ लिये हैं, उनके आधारपर हमने अपने रूढ़िगत मानदण्डोंको परिवर्तित या परिमार्जित करना उचित

नहीं समझा। यदि ऐसा किया होता, तो 'रेणु' के 'कथा-शिल्प' के सम्बन्ध-में जो बहस 'मैला आँचल'पर समाप्त हो जानी चाहिए थी, उसे नये सिरेसे 'परती : परिकथा' पर आरम्भ करनेकी आवश्यकता अनुभव न होती।

औपन्यासिक कला-शिल्प, कथा-संयोजन तथा चरित्र-गठनके प्रति—हर सजग लेखककी तरह—'रेणु' का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण और आग्रह है, जो 'मैला आँचल', 'परती : परिकथा' तथा उनके आगामी उपन्यासोंमें भी अवश्य मौजूद रहेगा, इसपर आपत्ति करना हर कलाकारके विशिष्ट कलात्मक व्यक्तित्वको ही अस्वीकार करना होगा। पहले उपन्यासकी कथावस्तु, पात्रोंकी मानसिक उथल-पुथल, समस्याएँ तथा समवेदनाएँ दूसरे उपन्यासमें बदल सकती हैं, उनके प्रति लेखकका विशिष्ट कलात्मक आग्रह अथवा शिल्पगत दृष्टिकोण नहीं (जबतक लेखक उसे स्वयं बदलनेकी आवश्यकता महसूस न करे)। इस दृष्टिसे 'परती : परिकथा' को 'मैला आँचल' की पुनरावृत्ति कहना उतना ही निरर्थक जान पड़ता है, जितना यदि हम वर्जीनिया वुल्फके 'टू द लाइट हाउस' को केवल इस आधारपर 'मिसेस डे लोवे' की पुनरावृत्ति कहें, कि दोनों उपन्यासोंमें एक ही प्रकार का कथा-शिल्प दिखाई देता है। क्या यह बात भी समझाकर कहनी होगी कि 'रेणु' ही दोनों उपन्यासोंके रचयिता हैं, अतः दूसरे उपन्यासमें कमसे कम उसकी पुनरावृत्ति होना अनिवार्य है ?

किन्तु जहाँ एक ओर दोनों उपन्यासोंके रूप-विधान और रचना-गठनके बाह्य तत्त्व एक-दूसरेसे मिलते-जुलते है, वहाँ 'परिकथा' का सामाजिक परिवेश न केवल 'मैला आँचल' से अधिक व्यापक है, बल्कि उसका स्वरूप और आन्तरिक प्रक्रियाएँ भी मूलतः भिन्न दिखाई देती हैं। राष्ट्रीय-आन्दोलनका ज्वार उतरनेके बाद स्थायित्वके जिस वातावरणमें परानपुर-का ग्राम्य-जीवन चित्रित किया गया है, उसमें अनेक अन्तर्विरोधी तत्त्व विराजमान हैं, जो विभिन्न वर्गों और राजनीतिक दलोंमें एक गहरा

तनाव-सा उत्पन्न करते हैं। इस तनावके जो बीज 'मैला आँचल' में राष्ट्रीय-आन्दोलनकी उच्छल प्राण-धारा तले दबे-से रह गये थे, वे 'परिकथा' में अधिक स्पष्ट और विकसित रूपमें प्रकट हुए हैं। लैण्ड-सर्वे, कोसी-प्रोजेक्ट, सर्वोदय इत्यादि आन्दोलन जहाँ इस तनावको अधिक प्रखर और सुनिश्चित रूप प्रदान करते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे एक विशाल 'सीसमोग्राफ' के रूपमें भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जिसके द्वारा हम परानपुरके सामाजिक धरातलकी परतोंके भीतर छिपी वैयक्तिक स्वार्थोंकी टकराहट, राजनीतिक दलोंकी अवसरवादिता, और उच्च आदर्शोंके पीछे दबी क्षुद्र, ओछी लिप्साएँ देख सकते हैं।

किन्तु इस कलह-क्लेशके बावजूद परानपुरमें भी पूर्णिमाका चाँद उगता है। लाजमयी और मलारीका गीत-स्वर परतीकी सफ़ेद बालूपर पंख फड़फड़ाता हुआ उड़ता है। पाँचों कुण्डोंमें पाँच चाँद रात-भर झिलमिलाते हैं, शरदकी चाँदनीमें पहाड़से उतरनेवाले पक्षियोंकी पहली पाँत उतरती है····चाँदनीकी यह स्वप्निल संगीतमयता 'परिकथा' में आद्योपान्त छायी रहती है।

इस तनाव और उल्लासके दो कूलोंके बीच परानपुरके निवासियोंकी जीवन-धारा अविरल रूपसे प्रवहमान है। श्री भवेशनाथके कैमरेके 'व्यूफाइण्डर' से हम परानपुर गाँवका केवल धूसर, वीरान प्रान्तर, बन्ध्या धरती और बालुचरोंकी अन्तहीन शृंखला देख सकते हैं। वह सचमुच कैमरेकी आँख है। किन्तु परतीके आँचल तले पलते जनपदको, गाँवोंके लोगोंकी आत्माको कैमरेकी आँख नहीं देख सकती, कलाकारकी अन्तर्दृष्टि ही वहाँ तक पहुँच पानेमें समर्थ हो सकती है।

'रेणु'की यह दृष्टि उपन्यासकारकी दृष्टि है जो छोटी-छोटी घटनाओंको अद्भुत नाटकीयता प्रदान करती है। इन घटनाओंके माध्यमसे 'रेणु' ने ठोस, जीवन्त कथा-पात्रों ('फिक्शनल कैरेक्टर्स') की सृष्टि की है, और यह उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। साधारण, रोजमर्राकी घटनाओंके

महीन सूत्रों-द्वारा कुछ गम्भीर सत्योंको उद्घाटित करना, उनके माध्यमसे पात्रोंकी आकांक्षाओं और असंगतियोंको अभिव्यक्त करना सचमुच एक कठिन समस्या है। हमेशा यह खतरा बना रहता है कि कहीं लेखक अपनी निरपेक्ष दृष्टिसे च्युत होकर एक स्थूल, [illegible] दृष्टिकोण न अपना ले। यह केवल हवाई खतरा नहीं है। पिछले वर्षोंमें हिन्दी उपन्यास-का दुर्भाग्य ही यह रहा है कि लेखक अपनेको 'सोशलॉजिस्ट' पहले समझता है—कलाकार बादमें। फिर चाहे उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रच्छन्न रूपमें मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्वों-द्वारा प्रदर्शित हो (नदीके द्वीप) या सामाजिक विषमताओंके सम्बन्धमें लम्बी सैद्धान्तिक बहसोंके रूपमें ('बूँद और समुद्र', 'जयवर्धन')। यह एक अजीब 'कॉम्प्लेक्स' है, जिससे न्यूनाधिक मात्रामें हर लेखक पीड़ित दिखाई पड़ता है। यथार्थके प्रति यह विकृत, विक्टोरियन दृष्टिकोण अधिकांश उपन्यासकारोंके कलात्मक व्यक्तित्वको कुण्ठित-सा कर देता है। बाहरी नियन्त्रण (एक्सटरनल रेजीमेण्टेशन) का विरोध किया जा सकता है, क्योंकि हम उसके प्रति सजग हैं, किन्तु यथार्थके प्रति यह 'सैद्धान्तिक' दृष्टिकोण एक अन्दरूनी-नियन्त्रण (इनर रेजीमेण्टेशन) उत्पन्न करता है, जो स्थूलरूपसे दिखाई नहीं देता, इसलिए और भी अधिक घातक है।

इस सन्दर्भमें 'रेणु' से—एक कलाकारकी हैसियतसे कोई जीवन-दर्शन प्राप्त करनेकी माँग करना सर्वथा अनुचित और असंगत जान पड़ता है। हमारी आलोचना-पद्धतिकी 'ट्रैजेडी' ही यह रही है कि हम हर कला-कारसे एक 'जीवन-दर्शन' की माँग करते हैं। एक उपन्यास (या कोई भी कलाकृति) हमारी अन्तर्दृष्टिकी सम्भावनाओंको अधिक व्यापक और संवेदनशील बनानेमें समर्थ हो सके—इसीमें उसकी सार्थकता निहित है। उस व्यापक दृष्टिके सहारे हम अपना जीवन-दर्शन स्वयं खोज सकें—यह अलग बात है।

'परती : परिकथा' की सबसे बड़ी शक्ति शायद यही है कि सतही

तौरसे हमें जहाँ बिखराव या विश्रृंखलता दिखाई देती है, उसके पीछे परानपुरकी समस्त विशेषताएँ और असंगतियाँ, हर छोटेसे छोटे प्राणीका दुःख-सुख, जीते-जागते, लड़ते-झगड़ते जीवित मनुष्योंकी गाथाके दर्शन होते हैं। मुंशी जलधारीदास, लुत्तो, मलारी, सामबीत्ती, पीसी-जैसे उपेक्षित नगण्य पात्रोंके व्यक्तिगत झगड़ों, नैतिक कमजोरियों और आह्लाद-उल्लासके बृहत् कैनवासपर 'रेणु'ने ग्राम-जीवनका (एक मिनिएचरके रूपसे) जो ठोस, संश्लिष्ट और विविध रंगोंसे गुम्फित चित्र प्रस्तुत किया है, वह अपनेमें अद्वितीय है। यहाँ तक कि भिम्मल मामाके अनर्गल-प्रलाप-द्वारा हम गाँवके जिन मीठे-कड़वे सत्योंको देख पाते हैं, वे कदाचित् उन लम्बी, उबा देनेवाली सैद्धान्तिक बहसोंसे उपलब्ध नहीं कर पाते, जिनका बाहुल्य आजके अनेक हिन्दी उपन्यासोंमें दिखता है। ये चित्र इतने मांसल और उनकी समस्याएँ इतनी विश्वसनीय हैं, कि कभी-कभी यह भ्रम होने लगता है कि वे स्वतःचालित हैं, उनके पीछे कोई 'चालक-शक्ति' ही नहीं है। कला-कृतिमें यह भ्रम—इल्यूज़न—जिसके द्वारा हम 'चालक-शक्ति'को भूल कर अपनेको हाड़-मांसके जीवन्त प्राणियोंके दुःख-सुखसे एकीकृत कर सकें—शायद उसकी सबसे बड़ी सफलता है।

किन्तु इस सफलताके बावजूद क्या 'रेणु' अपनेको समस्त आग्रहोंसे मुक्त रखनेमें समर्थ हुए हैं ? लगता है जैसे जित्तनकी सृष्टि करनेमें उनकी निरपेक्ष, कलात्मक दृष्टि लड़खड़ा गयी है—वह उनके उपन्यासकी सबसे निर्बल कड़ी है। उपन्यासकारका प्राथमिक उद्देश्य जीवन्त, स्पन्दनशील पात्रोंकी सृष्टि करना है और उसमें 'रेणु'को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है, किन्तु यह उसका केवल 'प्राथमिक उद्देश्य' है, सम्पूर्ण उपलब्धि नहीं। (यह बात दूसरी है कि हिन्दीके अनेक प्रमुख उपन्यासकार इस 'प्राथमिक-उद्देश्य'को प्राप्त करनेमें भी सफल नहीं होते)। किन्तु एक महान् लेखक इससे आगे जाता है—यथार्थके प्रति एक गहन संवेदना तथा निर्वैयक्तिक और निरपेक्ष दृष्टिकोणकी प्राप्तिके लिए अपने पूर्वाग्रहोंसे जूझता है; आत्म-

संघर्षके इस ऊँचे स्तरपर ही वह सही अर्थोंमें स्रष्टा बन पाता है—कलाकी यही सम्पूर्ण उपलब्धि है।

जित्तनको 'रेणु'की सहानुभूति प्राप्त हुई है, कलाकारने उसके द्वारा अपनी संवेदनाओंको अभिव्यक्त करनेका प्रयास किया है—यह अपनेमें बिलकुल उचित है। कथा-कृतिके किसी एक केन्द्रीय पात्रकी समस्याओं और संवेदनाओंके द्वारा हर लेखक अपनी समस्याओंको चित्रित करनेमें स्वतन्त्र है—तॉल्स्तॉयके 'मियेर' और 'लेविन' इसके जीते-जागते सफल उदाहरण हैं। किन्तु इसके लिए कलाकारको अनिवार्य रूपसे दो शर्तें पूरी करनी चाहिए। पहली—यह कि वह पूरी निर्ममता तथा तटस्थतासे अपने इस 'केन्द्रीय पात्र'की निर्बलताओं, अन्तर्द्वन्द्वों तथा मानसिक उलझनों-को चित्रित करे—उसके केवल एक या दो पहलुओंको उजागर करनेमें ही अपनी सार्थकता न समझ ले। दूसरे—अन्य प्राणियोंके प्रति वह उतना ही संवेदनशील रह सके जितना वह अपने प्रिय पात्रके प्रति है।

कहना न होगा कि जित्तनके चरित्र-गठनमें बहुत बड़ी सीमा तक 'रेणु' इन दोनों शर्तोंको पूरा करनेमें असमर्थ रहे हैं। लुत्तोसे लेकर मक़बूल तक जितने भी प्रतिस्पर्धी पात्र हमारे सामने आते हैं, वे जीवन्त और स्पन्दनशील प्राणी होनेके बावजूद जित्तन बाबूकी तुलनामें विकलांग, निकृष्ट और विकृत दिखाई देते हैं। जित्तनका जितना गहरा लगाव, 'ट्रैक्टर'से है, उतना ही शायद वह परानपुरकी धरतीसे दूर है। उसमें अभिजात वर्गका सन्तुलन है, जो लुत्तन-जैसे निम्नवर्गीय, स्वार्थपरक व्यक्तियोंमें लुप्त हो चुका है, किन्तु यह सन्तुलन आत्म-मन्थन, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों अथवा सत्य-असत्यके नैतिक प्रश्नोंके अनिश्चयसे उत्पन्न हुए हृत-आलोडनका परिणाम नहीं है। वह तो जित्तनके चरित्रका 'एरिस्टो-क्रेटिक ट्रेट' है, जिसके आधारपर 'रेणु'ने उसे धूलमें सने लड़ते-झगड़ते प्राणियोंके 'असन्तुलन'से उत्कृष्ट सिद्ध करनेका प्रयास किया है।

'रेणु'ने जित्तनके इर्द-गिर्द जो स्वप्नजाल बुना है, उसके भीतर

ताजमनी और इरावती-जैसी नारियोंको गहन संवेदनाके स्थानपर मिली है, 'रेणु'की कोरी भावुकतापूर्ण सहानुभूति, जिसके परिणामस्वरूप शरत् बाबूके नारी-पात्रोंकी पीली छायाएँ-सी दिखाई देती हैं। जित्तनके इस स्वप्नजालपर मिसेज रोडवुडकी डायरोके पन्ने भी टँगे हैं जो उपन्यासके उत्तरार्द्धको अत्यन्त भावुकतापूर्ण, निर्बल और अविश्वसनीय बना देते हैं।

किन्तु इन कमियों और दोषोंके बावजूद 'रेणु'ने 'परती : परिकथा'में समाजके बदलते सन्दर्भमें व्यक्तियोंकी उत्तरोत्तर अधिक संश्लिष्ट होनेवाली मानसिक-प्रक्रियाओं और नैतिक दबावोंका जो चित्रण किया है, सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनोंके सूत्रोंमें मनुष्यकी जिन आकांक्षाओं और दुर्बलताओंको पिरोया है, वह अपनेमें सराहनीय है।

'परती : परिकथा'का 'बिखराव' 'रेणु'के कथा-शिल्पका एक विशिष्ट प्रयोग है, जो उन्होंने ग्राम्य जीवनके वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण और परिवर्तनशील मानवीय सम्बन्धोंको अभिव्यक्त करनेके लिए अपनाया है—यही कारण है कि उपन्यासका हर पात्र, चाहे थोड़े समयके लिए ही हमारे सम्मुख आये, हमारे मानस-पटलपर अपने व्यक्तित्वकी अमिट छाप छोड़ जाता है। 'कार्नीवाल'के कोलाहलमें हम उनकी आवाज़ोंको, लोगोंकी भीड़में उनके चेहरोंको आसानीसे पहचान सकते हैं। हम उनके क्रिया-कलापोंको अन्य व्यक्तियों और घटनाओंके सन्दर्भमें आसानीसे परख सकते हैं। उनके जीवनके सूत्र हवामें ही नहीं लटकते रहते—परानपुरकी धरतीके इतिहाससे उनके जीवनका वैषम्य, सुख-दुःख और संवेदनाएँ अन्तरंग रूपसे जुड़ी दिखाई देती हैं। उनके भीतर 'टाइप'की समग्रता दिखती है, तो व्यक्तित्वका अलगाव भी मिलता है। अतः यह 'बिखराव' केवल एक शिल्पगत प्रयोग है। यदि वह उपन्यासमें विशृंखलता या अराजकता न लाकर मानवीय-सम्बन्धोंको अधिक गहन और स्पष्ट रूपमें अभिव्यक्त करनेमें समर्थ होता है, तो उसकी उपयोगिता असन्दिग्ध है। यह बात दूसरी है कि हम उपन्यासके क्षेत्रमें एक ही प्रकारके कथा-शिल्प-

को आदर्श मान बैठें और उसके प्रति हमारा आग्रह इतना प्रबल हो कि उपन्यासके रचना-विधानकी अन्य समस्त पद्धतियाँ हमें निरर्थक और लक्ष्यहीन दिखने लगें।

'परती : परिकथा'में बिखराव है—मातीसके किसी चित्रके रंगोंका-सा बिखराव! सतही तौरपर देखनेसे कैनवासपर इधर-उधर बिखरे रंगके धब्बोंके अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता। लगता है जैसे इन धब्बों और टूटी-फूटी रेखाओंके पीछे कोई भी चालक-मस्तिष्क नहीं है, सब कुछ बेडौल और अनगढ़-सा दिखता है। किन्तु ज़रा ध्यानसे देखें तो इन्हीं रंग-बिरंगे धब्बों और अनगढ़ रेखाओंके बीच एक अद्भुत 'सिम्फनी' की संगीतमय धारा उमगती दिखाई देती है। यह 'सिम्फनी' और कुछ नहीं, परतीकी ही धूल-धूसरित, स्नेहसिक्त गाथा है, जो जीवनकी गतिमयताके संगीतसे स्पन्दित परानपुरके धूसर, वीरान अन्तहीन प्रान्तरमें दिन-रात बहती है।

• •

ओमप्रकाश 'दीपक'

अनुभूति और विचारकी असंगति *

ईसाके जीवनमें 'मेरी' नामकी दो महिलाएँ थीं, एक उनकी माँ और दूसरी उनकी शिष्या मेरी मैग्दलीन। नामोंके साम्यके बावजूद अगर किसी युरोपी लेखकको इस दोनोंका अन्तर न मालूम हो, तो निश्चय ही घटियासे घटिया प्रकाशक भी उसकी पाण्डुलिपिको रद्दीमें फेंक देगा और अगर कहीं पुस्तक छप भी गयी तो लोग इतना हँसेंगे कि लेखक शायद आत्महत्या कर ले। लेकिन हिन्दुस्तानमें लेखक होनेके लिए शायद यह जानना भी ज़रूरी नहीं है कि रुक्मिणी और अर्जुनका सम्बन्ध क्या था।

श्री राजेन्द्र यादव जाने-माने लेखक हैं, उनके बारेमें विशेष कुछ कहनेकी ज़रूरत नहीं है, और 'उखड़े हुए लोग' की चर्चा भी काफ़ी हुई है। पृष्ठ ६८ पर आप फ़रमाते हैं, 'आप सोच सकती हैं जयाकी स्थिति ? अर्जुनकी गोदमें पड़ी रुक्मिणीकी स्थिति ?—पृथ्वीराजकी छातीसे चिपकी संयोगिताकी मानसिक अवस्था ?'' सलहज और नन्दोईका रिश्ता मज़ाक़का होता है, यह तो मालूम था लेकिन अर्जुनके साथ सुभद्रा नहीं रुक्मिणी भागी थी, यह बात नयी मालूम हुई। यादवजीने शायद कोई नया 'महाभारत' पढ़ा हो, या कौन जाने, लिख ही डाला हो! (या सम्भवत: यह महाभारतकी मार्क्सवादी व्याख्या है!)

जो बात आम तौरपर दस-बारह सालके बच्चे भी जानते हैं, जब वही बात यादवजीको मालूम नहीं, तो फिर युरोपी लेखकोंके बारेमें

---

* उखड़े हुए लोग : राजेन्द्र यादव

अगर कोई भूल हो जाये तो उसे क्षम्य ही समझना चाहिए। यूँ अपनी क़ाबिलियतका, यादवजीने खुलकर प्रदर्शन किया है। जगह-ब-जगह दर्जनों युरोपी विद्वानोंकी चर्चा है। उन्हींमें एक जगह पृष्ठ १९५ पर आप लिखते हैं, "लेकिन सच पूछो तो मानसिक रूपसे हम खड़े हैं वहीं, जहाँ आजसे सौ साल पहले डी० एच० लारेन्स खड़ा था, और जैसे हम बैठकर बातें कर रहे हैं वैसे ही 'लेडी चैटरलीज़ लवर' में बातें होती थीं।" सौ साल पहले, यानी सन् १८५५ के आस-पास! लेकिन बेचारा डी० एच० लारेन्स तो पैदा ही १८८५ में हुआ था, और मरा १९३० में! मुमकिन है किसी पूर्वजन्ममें दोनों लेखकोंकी मुलाक़ात हुई हो। लेकिन यादवजी तो शायद पूर्वजन्मका सिद्धान्त मानते नहीं। फिर तो इसका रहस्य वही जानें।

और इसपर जब यादवजी अपने 'बयान-इक़बाली' (जो कुछ भी सोचकर रखा हो, भूमिकाका शीर्षक उपयुक्त है) में कहते हैं कि "इसे '५४–'५५ के पूरे दो वर्ष प्रतिदिन लिखा और सँवारा गया है," तो अचरज होता है कि इस सँवारनेमें क्या पाण्डुलिपिपर बेल-बूटे बनाये गये या अक्षरोंपर दोबारा स्याही फेरी गयी या और भी कुछ किया?

जानकारीका स्तर यह है। और इसी बूतेपर मार्क्सके ऐतिहासिक भौतिकवादकी भी चर्चा है, गान्धीकी अहिंसापर फ़तवे हैं, और स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद कांग्रेसी नेतृत्वके अधःपतनके ऐतिहासिक कारणोंकी खोज है। आप कल्पना कर सकते हैं कि इन सबकी क्या दुर्गति हुई है।

लम्बे-लम्बे अर्थहीन भाषणोंके बावजूद, शरद और जयाकी प्रणय-कथा रोचक है। वे एक-दूसरेसे प्रेम नहीं करते, ऐसा नहीं है कि शरदके लिए जयाका स्थान कोई अन्य लड़की न ले सकती हो, या जयाके लिए शरदका स्थान कोई अन्य पुरुष न ले सकता हो। जया एक मध्यमवर्गीय लड़की है, अध्यापिका है। 'मुन्शी' घरानेमें अपने विवाहके प्रस्तावसे दुखी है। शरद उसका मित्र है। उसे इस दुखसे मुक्ति दिलानेके लिए 'सम्मिलित

जीवन' का सुझाव रखता है। बस। लेकिन इसपर भी कथा रोचक है। इसलिए कि उनमें सहानुभूति है, समझ है, जो विवाहित जीवनको सुखमय न सही, सन्तोषमय बनानेके लिए पर्याप्त होता है। अधिकांश व्यक्तियों-को सुखकी तलाश नहीं होती, सुखकी पीड़ा उनके लिए असह्य होती है। सुखके लिए जो विद्रोह, जो संघर्ष अनिवार्य होता है, वह समाजको भी असह्य होता है। शरद और जयाको सुखकी खोज नहीं समझ और सन्तोष-की खोज है। जो परिचित है, जाना-पहचाना है, वही समझ और सन्तोष दे सकता है। मुन्शी घरानेमें विवाह करनेसे जयाको शिकायत इस कारण नहीं है कि सम्बन्धित व्यक्तिको वह जानती नहीं अथवा यह कि वह किसी दूसरे व्यक्तिसे प्रेम करती है। शिक्षा और शहरके अपेक्षाकृत स्वतन्त्र जीवनमें जो कुछ उसका प्रिय, परिचित बन गया है, उसके छूटने, खोनेकी आशंकासे वह दुखी है। शरदके साथ वह सब बचा रहेगा, इसलिए उसके साथ 'सम्मिलित जीवन' का प्रस्ताव वह स्वीकार कर लेती है।

ज़िन्दगीमें आमतौरपर यही होता है। हिन्दुस्तानमें तो अकसर होता ही है। और इसका चित्रण यादवजीने बड़े कौशलसे किया है। पारस्परिक समझके मार्गमें आनेवाली स्वाभाविक बाधाएँ, उलझनें और उनका निरा-करण, सभीका चित्रण बहुत सुन्दर और रोचक है। कठिनाई यह है कि यादवजीकी रायमें यह बड़ा क्रान्तिकारी काम है। प्रसंगमें बाह्य, औप-चारिक क्रान्ति तो अवश्य है। शरद जयाको अपनी पत्नी नहीं, 'साथिन' कहता है। और जया सरकारी या ग़ैर-सरकारी, किसी प्रकारके 'विवाह' की रस्मके बिना ही शरदके साथ रहने लगती है, यद्यपि यहाँ भी 'सामाजिक स्वीकृति' को आवश्यक बताया गया है। लेकिन मानसिक स्तरपर तो कथा सामान्य मध्यमवर्गीय जीवनकी ही है।

सन् १९५४-'५५ में अगर कोई लेखक एक मध्यमवर्गीय युवक और एक मध्यमवर्गीय युवतीके स्वेच्छासे विवाह करनेको क्रान्ति कहे, तो हँसी आनेकी ही बात है। विवाह एक मानवी सम्बन्ध है। लेकिन एक मध्यम-

वर्गीय हिन्दुस्तानी लड़का कितनी लड़कियोंको जानता है, जिनमें-से वह अपनी पत्नीका चुनाव कर सकता हो? और एक मध्यमवर्गीय लड़की कितने लड़कोंको जानती है, जिनमें-से वह अपना पति चुन सके? और इस सीमित दायरेके अन्दर ही समझ-समझौतेको सामाजिक क्रान्तिकी संज्ञा देना हास्यास्पद नहीं तो क्या है?

'उखड़े हुए लोग' पढ़कर तो यही लगेगा कि मध्यमवर्गके बारेमें मार्क्सवादी स्थापनाएँ दुरुस्त ही हैं। शायद 'मार्क्सवादी' कहना उचित न होगा, यूँ कह लें कि यादवजी जिन्हें 'मार्क्सवादी' स्थापनाएँ समझते हैं, वे दुरुस्त मालूम होती हैं। उपन्यासके पात्र कहीं भी अपने व्यवहारमें मध्यमवर्गके दायरेसे बाहर नहीं निकलते, लेकिन अपने वर्गकी ओरसे बार-बार घिघियाते हैं, "मैं भी क्रान्तिकारी हो सकता हूँ। मैं भी क्रान्तिकारी हूँ। तुम मुझे क्रान्तिकारी क्यों नहीं मानते?"

उपन्यासका दूसरा अंश भी रोचक है, पात्र आकर्षक हैं। सूरज, जो प्रेममें असफल होकर मानवी सम्बन्धोंपर विश्वास ही खो बैठता है, शरद और जयाके सफल जीवनको देखकर पुनः विश्वास प्राप्त करता है। वह समाजके निम्नतम वर्गका यतीम है, जो धीरे-धीरे ठोकरों और अनुभवोंके बाद आस्थाहीन, मध्यमवर्गीय पत्रकार बन जाता है, लेकिन मज़दूरोंपर गोली चलते देख, फिर आस्थावान् हो, उन्हींमें मिल जाता है। मायादेवी, जो एक पाखण्डीके प्रेममें अपना सब कुछ निछावर कर देती हैं, अपने पतिकी हत्यामें भी भागीदार बनती हैं, और वास्तविकताका ज्ञान होनेपर स्वयं भी उच्छृंखल हो जाती हैं। देशबन्धु, जो कायर है, पाखण्डी है, व्यभिचारी है, राष्ट्रीय आन्दोलनमें जो माफ़ी माँगकर जेलसे बाहर आता है, मायादेवीको धोखा देकर उनका सब कुछ छीन लेता है, जो ऐसा बहुरूपिया है कि कोई समझ ही न पाये वह क्या है। और मायादेवीकी पुत्री पद्मा, जो सब-कुछ देखकर व्यथित है, माँके अपराध जिसकी जिन्दगीमें ज़हर घोल जाते हैं, और एक दिन जब देशबन्धु शराब पीकर उसके

कमरेमें घुस आता है, तो वह खिड़कीसे कूदकर मर जाती है।

किन्तु जो कठिनाई शरद और जयाके प्रणयप्रसंगमें है, वही इन सभी प्रसंगोंमें है। उपन्यास-लेखकके कन्धोंपर विचारकका भूत उसी तरह सवार है, जैसे सिन्दबादके कन्धोंपर समुद्रका बूढ़ा शैतान। वह लेखकको चलने नहीं देता।

सूरजका उपन्यासमें विशेष महत्त्व है, क्योंकि वह न केवल लेखककी दृष्टिको सबसे अच्छी तरह व्यक्त करता है, वरन् निर्वाह भी सबसे अच्छी तरह उसीका हुआ है। उसका व्यक्तित्व बहुत ही असामान्य है, यद्यपि लेखकने अपनी ओरसे इस बातकी भरसक चेष्टा की है कि वह अस्वाभाविक न लगे। बुद्धि, विवेक, चरित्र, निष्ठा, भावुकता, लगन, मेहनत, सभी गुणोंका उसमें विचित्र-सा मिश्रण है। वह जीवन आरम्भ करता है जेब-कतरेके रूपमें, किताबोंकी दूकानका एजेण्ट बनकर अपनी मेहनतसे ही शिक्षित होता है, एक लड़कीके असफल प्रेममें आवारा हो जाता है, आवारगीमें पकड़ा जाता है और जेलमें सन् '४२ के क्रान्तिकारियोंके सम्पर्कमें धीरे-धीरे पत्रकार बन जाता है। अतीतकी असफलताएँ और देशबन्धुकी कारस्तानियाँ उसे आस्थाहीन बना देती हैं।

देशबन्धु-जैसे लोग, जिनमें चतुराईके अतिरिक्त और कोई गुण नहीं, और केशव-जैसे उनके सहायक भी दुनियामें मिल ही जायेंगे। लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि ऐसे पात्रोंके जीवनको किसी ऐतिहासिक विश्ले-षणका आधार नहीं बनाया जा सकता। उपन्यासमें साम्यवादके प्रति लेखकने जो प्रेम प्रदर्शित किया है, मैं उसीसे अनुमान लगाता हूँ कि वे अपनेको मार्क्सवादी मानते होंगे। किन्तु अगर यादवजीका विश्लेषण ही मार्क्सवाद है, तो भगवान् ही बचाये उसे। मार्क्सवादके विश्लेषणका आधार ऊपरी, वैयक्तिक यथार्थ नहीं, वरन् वर्ग-यथार्थकी अन्तरधारा है।

इस सिलसिलेमें और कुछ कहनेकी ज़रूरत नहीं है। यादवजीका दृष्टिकोण, मुमकिन है कुछ लोगोंको रुचे, कुछ लोगोंको न रुचे। मुझे नहीं

रुचा, तो भी इसकी कोई शिकायत नहीं। है भी, तो केवल इतनी कि उपन्यासके कथाक्रम और पात्रोंमें, न इतनी गहराई है, न इतनी व्यापकता कि उनसे वे नतीजे निकाले जा सकें, जो यादवजीने निकालने चाहे हैं। उनके बिना मेरे-जैसे पाठकोंको उपन्यास कहीं अधिक रोचक लगता।

उपन्यासके वैचारिक स्तरके सम्बन्धमें केवल एक उदाहरण दूँगा। पृष्ठ २११ पर आपने लिखा है, "ठीक वैसे ही लोग इतिहासको मरोड़ते हैं, उसे सीधे वैज्ञानिक विकास-क्रमसे देखनेके बजाय उलटी-सीधी तोड़-मरोड़ करते हैं और जैसे हर बार ऐसा करते समय वह पूछते हों—'निकाल आजकी समस्याका हल—निकाल आजकी समस्याका हल।'" दुनियामें ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो इसिहासके विकास-क्रममें कोई अर्थ नहीं देख पाते। यादवजी भी उनमें हों तो मुझे नहीं मालूम। लेकिन जो लोग मानते हैं कि इतिहासका कोई क्रम है और उसका कोई अर्थ भी है, वे तो उस क्रममें वर्तमानकी समस्याओंका हल और भविष्यका दिशा-निर्देशन खोजनेकी चेष्टा करते ही हैं। यादवजी भी करते हैं, इसीलिए सूरजको पूँजीवादका दुर्ग तोड़नेवाला भीम बनानेके उद्देश्यसे, उसे हड़ताली मज़दूरोंका नेता बनाते हैं। लेकिन फिर इससे इनकार क्यों करते हैं, यह नहीं मालूम। शायद चाहते हैं कि दूसरे लोग भी बिना प्रश्न पूछे, जिसे वे 'वैज्ञानिक विकास-क्रम' कहते हैं, उसे आँख मूँदकर मान लें।

मैं नहीं जानता कि यादवजीकी उम्र क्या है। मुमकिन है राष्ट्रीय आन्दोलनके समय बहुत छोटे रहे हों और उसके बारेमें न जानकारी हो न समझ। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलनके साथ उनका वैचारिक या रागात्मक किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं रहा, इतना तो स्पष्ट ही है। राष्ट्रीय आन्दोलन और गान्धीजीके बारेमें उन्होंने जो फ़तवे दिये हैं, वे किसी ऐसे व्यक्तिके लिए सम्भव नहीं, जिसका स्वाधीनता-संघर्षसे कुछ भी सम्बन्ध रहा हो—सन्'४२ या उसके पूर्वके क्रान्तिकारियोंके लिए भी नहीं।

वर्धा आश्रममें देशबन्धुकी डायरीके कुछ अंश यादवजी ने दिये हैं

और फिर आगे चलकर कहा है, "लेकिन बेटा पड़ गया कांग्रेसियोंके चक्करमें, पहले क्रान्तिकारियोंके साथ भी गया, मगर वहाँ जान लेने और देनेका सौदा था, सो भागकर गान्धीजीकी शरणमें जाना पड़ा। अहिंसाका दर्शन इन सब बातोंसे बरी था। सत्याग्रह करना और जेल जाना।"

इसके साथ ही एक अन्य वाक्य भी उद्धृत कर देना चाहूँगा जो उपन्यासमें बिलकुल अनावश्यक है लेकिन जो लेखककी दृष्टिको समझनेके लिए उपयोगी है "ट्राट्स्की भी तो कहता था कि सारी दुनियामें क्रान्ति एक साथ हो जाये" सूरजजीने चिढ़ाकर कहा, "पाँचकी जगह पाँच हज़ार क्यों नहीं मरे!"

इस उद्धरणके दूसरे वाक्यमें इशारा देशबन्धुकी ओर है। अपनी ही मिलमें गोली चलनेके बाद मज़दूरोंके साथ झूठी एकात्मकता व्यक्त करने वाले पूँजीपतिको और ट्राट्स्कीको इस प्रकार एक ही जगह रखनेका क्या तुक है? एक ही कारण हो सकता है कि यादवजी ट्राट्स्कीको कोसे बिना उपन्यास समाप्त नहीं करना चाहते थे।

ट्राट्स्कीको लेखकने एक ही वाक्यमें समाप्त कर दिया है। गान्धीजीके साथ कुछ अधिक दया दिखायी है। लेकिन जिन प्रसंगोंकी चर्चा मैं कर चुका हूँ, उसके अलावा और कुछ नहीं है।

हिंसक क्रान्तिके प्रति लेखकको ऐसा मोह है कि राष्ट्रीय आन्दोलनमें सन्' ४२ और उसके पूर्वके क्रान्तिकारियोंके अतिरिक्त, और कोई उन्हें श्रद्धाके योग्य नहीं लगता। लेकिन हिंसक और अहिंसक क्रान्तिमें अन्तर क्या है? मूल रूपसे केवल इतना ही कि एकमें 'जान लेने और देने,' दोनोंका सौदा होता है, दूसरेमें केवल जान देनेका। यादवजीको शायद मालूम नहीं कि राष्ट्रीय आन्दोलनमें हज़ारों व्यक्तियोंको बिना किसीकी जान लिये अपनी जान देनी पड़ी थी। और गान्धीकी अहिंसाके प्रतीक धरसानाके सत्याग्रही तो थे ही जिनमें-से हर एक मार खाते-खाते बेहोश हो गया था पर अपनी जगहसे हटा नहीं था, वे हज़ारों-लाखों अनपढ़ मूक

भारतीय भी थे, जिन्हें उसने निहत्थे ही बन्दूकोंके सामने खड़े होनेका साहस प्रदान किया था।

गान्धीकी ऐतिहासिक विकृति और ट्राट्स्कीको अनावश्यक रूपसे कोसना इनका कोई तर्क इस उपन्यासमें मुझे नज़र नहीं आता। गान्धी और ट्राट्स्कीके पक्षमें मुझे कुछ नहीं कहना। लेकिन विचारों और सिद्धान्तोंकी चर्चा करनेके लिए वयसे नहीं, तो बुद्धिसे वयस्क होना आवश्यक है। गान्धीके अनुयायियोंमें देशबन्धु-जैसे बहुतेरे लोग हो सकते हैं और हैं। ऐसा क्यों है, यह अपने-आपमें एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसपर हलके ढंगसे फ़तवे देनेका काम कोई नासमझ बुद्धि ही कर सकती है।

संक्षेपमें, कथाकी दृष्टिसे 'उखड़े हुए लोग' एक अच्छा उपन्यास है, हिन्दीमें ऐसे उपन्यास कम ही हैं। चरित्र अच्छे-खासे उभरे हैं, आकर्षक हैं। कथा रोचक है। लेकिन उसे ऐतिहासिक विश्लेषणका जामा पहनानेकी चेष्टा यादवजी न करते तो अच्छा था। मार्क्सवादको भी उन्होंने एक बचकाना सिद्धान्त बना डाला है। मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ, लेकिन इतना जानता हूँ कि मार्क्सकी रचनाएँ सोनेसे पहले कुछ देर मन बहलानेके लिए बिस्तरपर लेटकर नहीं पढ़ी जा सकतीं। भूल हुई, पढ़ी तो शायद जा सकती हैं, पर समझी नहीं जा सकतीं।

पुस्तककी भाषाके सम्बन्धमें भी कुछ कहना ज़रूरी है। ऐसा लगता है कि यादवजीने यह उपन्यास उन लोगोंके लिए नहीं लिखा जो केवल हिन्दी जानते हैं। उपन्यासको समझनेके लिए हिन्दीके साथ अँगरेज़ीका भी पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक है। एक ही पृष्ठपर 'कम्प्लेक्स,' 'मैनरली,' 'कल्चर्ड,' 'युनिवर्सिटी कनवोकेशन' 'क्लास-फ़ेलो' का प्रयोग किया गया है। एक अन्य पृष्ठपर 'ब्रेक', 'एडीटोरियल', 'डॉमीनेटिंग', 'क्रुएल', 'अबाउट-टर्न' का। कम-ज़्यादा, सारी पुस्तकमें इसी प्रकार अँगरेज़ीके शब्दोंका बेहिचक इस्तेमाल किया गया है। यह दोष अपने-आपमें इतना

बड़ा है कि इसपर और कुछ कहना अनावश्यक है।

मैंने यादवजीकी सारी रचनाएँ नहीं पढ़ीं। यह उपन्यास और कुछ कहानियाँ ही पढ़ी हैं। उनसे मुझे लगा कि यादवजी लेखक रूपमें खण्डित व्यक्तित्वके शिकार हैं। उनकी रचनाओंका एक पक्ष ऐसा है, जो अनुभूतियोंको ग्रहण करनेकी क्षमता और उन्हें व्यक्त करनेका कौशल प्रदर्शित करता है, और दूसरा ऐसा, जो बिना पूरी तरह समझे-बूझे ही इन अनुभूतियोंको एक विचारधाराके चौखटेमें ज़बरदस्ती बिठा देना चाहता है। दोनोंमें मेल नहीं है। लेकिन जबतक यह मेल नहीं आता, उनके लिए प्रथम कोटिकी रचनाओंकी सृष्टि असम्भव है।

● ●

कुँवरनारायण

कविदृष्टिका अभाव*

काफ़ी पहले यशपालका उपन्यास 'दिव्या' पढ़ा था। इस ढंगका यह पहला ऐतिहासिक उपन्यास नहीं, लेकिन ऐसे अन्य उपन्यासोंकी अपेक्षा यह अधिक हेतुपूर्ण और विशिष्ट लगा था। उसके बाद अरसे तक यशपालकी कृतियोंसे परिचय छूटा रहा। यशपालके मार्क्सवादी पूर्वग्रहोंके कारण उनकी कृतियोंके प्रति शायद मनमें ऐसी कुछ धारणा बन गयी थी जैसी अधिकांश मार्क्सवादी कृतियोंके प्रति बनी हुई थी—कि वे भी सतही और प्रचारात्मक अधिक होंगी, गम्भीर कम। लेखकके पिछले कुछ उपन्यासोंको देखते हुए शायद यह धारणा बिलकुल निराधार भी नहीं कही जा सकती, लेकिन विशिष्टताकी जो मुहर 'दिव्या'को उस ढंगके अन्य उपन्यासोंसे अलग करती है, वह अन्तर यशपालके उपन्यासों तथा वैसी ही पृष्ठभूमिपर लिखे गये दूसरे उपन्यासोंमें भी देखा जा सकता है। 'झूठा-सच'को विचारनेसे पहले लेखकके इस मार्क्सवादी पूर्वग्रहके कारण उसकी कृतियोंके प्रति बन गये अपने इस पूर्वग्रहको स्वीकार कर लेना आवश्यक समझता हूँ, क्योंकि 'झूठा-सच'की पहली विशेषता ऐसे पूर्वग्रहोंका स्पष्ट खण्डन ही मानी जा सकती है। न तो यह उपन्यास सतही है, न मार्क्सवादी दृष्टिकोणका औपन्यासिक प्रचार-मात्र। उपन्यास निस्सन्देह मानव-जीवनके उन गण्य दस्तावेज़ोंमें है जिनका मूल्यांकन प्रमुखतः एक कला-कृतिके रूपमें होना चाहिए।

---

* झूठा-सच : यशपाल

इस उपन्यासका सबसे सशक्त अंग है चरित्रोंका चित्रण——उनका विषम परिस्थितियोंके बीच अदम्य संघर्ष। ऐसा नहीं कि वे परिस्थितियों-पर सदा विजयी ही होते हैं, लेकिन वे आसानीसे टूटते नहीं। उनमें जीवनके प्रति एक गहरी आसक्ति है जो निराशाके घोरतम क्षणोंमें भी जीनेका बल देती है। यह जीवन-लालसा या आसक्ति ही उपन्यासकी धुरी है जिसके सहारे चरित्रों, घटनाओं, संघर्षों, राजनैतिक दावँ-पेंचों तथा सैकड़ों सूक्ष्म और स्थूल प्रतिक्रियाओंसे लदे-फँदे लगभग १२०० पृष्ठोंके इस उपन्यासका कथानक चलता है। उपन्यास आरम्भ करते समय उसके बृहत् आकारको देखकर सन्देह होता था कि क्या इसे समाप्त करनेका धैर्य रहेगा? लेकिन उसे आसानीसे समाप्त कर चुकनेके बाद यह आश्चर्य किये बिना न रह सका कि छोटी-बड़ी दर्जनों जीवनियोंका इस प्रकार निर्वाह कि उनमें-से एककी भी विशिष्टता नष्ट न हो, उन्हें इस प्रकार सामान्य और असामान्य परिस्थितियोंमें कुशलतासे गूँथना कि उनकी चारित्रिक विशेषताएँ उभर सकें, साधारण उपलब्धि नहीं। साथ ही, चरित्रोंको लेकर जो वांछनीय तटस्थता लेखक बरतनेमें सफल हुआ है वह अन्यत्र उसीके उपन्यासोंमें मिलना कठिन है। 'गीता : पार्टी कॉमरेड'के रोमैण्टिक मार्क्सवादकी तुलनामें 'झूठा-सच'का निहित जीवन-दर्शन लेखकके प्रौढतर दृष्टिकोणका द्योतक है। यह नहीं कि 'झूठा-सच' मार्क्सवादी दृष्टिकोणके आशावादी पहलूके प्रति सचेत नहीं, बल्कि यह कि उसे वह एक सफल कला-कृतिमें पूर्णतः पचा सकनेमें सफल हुआ है। एक कृति किसी वैचारिक आग्रहके कारण उतनी अशक्त नहीं होती जितनी कि उस विचारके अपचके कारण। यह दूसरी बात है कि हम लेखककी यथार्थसम्बन्धी बुनियादी धारणासे ही असहमत हों, और यह न मानें कि जीवन केवल सामाजिक और आर्थिक जरूरतोंसे ही निर्देशित होता है, उन आत्मिक या आन्तरिक जरूरतोंसे नहीं, जिन्हें नितान्त वस्तुवादी दृष्टिकोणसे समझाना कठिन है। शायद यह निःसंकोच

कहा जा सकता है कि यशपाल ऐसी ज़रूरतोंको विशेष महत्त्व नहीं देते––या उन्हें भी, मार्क्सवादियोंकी ही तरह, व्यक्तिकी सामाजिक और आर्थिक विषमताओंसे उत्पन्न मानते हैं। कमसे कम 'झूठा-सच'में ऐसा कोई चरित्र नहीं जो किसी सूक्ष्म आत्ममन्थनसे गुज़रता हुआ दिखाई दे। चाहे वह क्रमशः अपने आदर्शोंसे गिरता हुआ नायक जयदेव पुरी हो, चाहे बिना किसी आदर्शके भी एक आदर्श नायकत्वकी ओर उठती हुई उसकी बहन तारा हो, चाहे पुरीसे अपना वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ती और तोड़ती हुई कनक हो–– वे सब जीवनके प्रति एक बिलकुल दैनिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण रखकर चलते हैं। किसी भी परिस्थितिमें उनका ध्यान तात्कालिक सामाजिक या पारिवारिक या आर्थिक कठिनाइयोंसे आगे, उन जटिलतर प्रश्नोंकी ओर नहीं जाता जिनका सम्बन्ध हमारे अस्तित्वकी बुनियादी मजबूरियोंसे है। सामाजिक और आर्थिक सन्तुष्टिको ही जीवनका चरम समाधान मान लेनेके ये अर्थ हैं कि हम रोग, बुढ़ापे, मृत्यु आदिकी यथार्थताको विचारणीय समस्या नहीं मानते। 'झूठा-सच'के इतने बड़े आयाममें भी मनुष्यकी तात्कालिक आवश्यकताओं-की पूर्तिसे बृहत्तर किसी मानवीय आकांक्षाको लेखकने नहीं लिया है। पात्रोंका साहसपूर्ण संघर्ष, जीनेके लिए तो प्रेरणा देता है, लेकिन किसी बड़े हेतुके लिए जीनेकी प्रेरणा नहीं देता। स्वरक्षा मनुष्य और पशु दोनोंके लिए स्वाभाविक है; आक्रान्त होनेपर दोनों ही पूरी तरह अपनी रक्षा करनेका प्रयत्न करेंगे। लेकिन पशुसे अधिक विकसित मानव-विवेक यह समझ सकता है कि ऐसे भी जीवन-सत्य हैं जिनकी रक्षाके बिना अपनी रक्षा भी या तो सम्भव नहीं, या कोई मानी नहीं रखती।

उपन्यासके निष्कर्षको विचारनेपर ऐसा भी लग सकता है मानो पात्रोंके न टूटने, हारनेका कारण कोई समर्थ जीवन-दृष्टि या सांस्कृतिक विरासत नहीं, बल्कि इनका अभाव है! जैसा कि मैंने पीछे कहा, उनमें जीवनके प्रति एक आसक्ति तो है, पर आस्था नहीं : वह आस्था नहीं

जिसका सम्बन्ध मनुष्यकी विकासशील चेतनासे है, बल्कि वह आसक्ति है जो किसी भी जीवमें होती है। इस ऐतिहासिक तथ्यको समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि बहुत बड़ी प्राकृतिक या राजनैतिक दुर्घटनाओंके बीच ज़रूरी नहीं कि नष्ट-होने-योग्य ही नष्ट हो, और बचने-योग्य ही बच रहे। ऐसे किसी विषयपर लिखी गयी एक कृतिमें यदि यह विवेक स्पष्ट नहीं उभरता तो उसे पूर्णतः सफल कृति नहीं कहा जा सकता। ऊपरसे देखनेपर ऐसा लगता है कि पंजाब-विभाजनके बवण्डरमें पड़कर जो लोग दिल्लीकी ओर आये उनके साथ ऐसी कोई विशिष्ट सांस्कृतिक, या धार्मिक या नैतिक परम्परा नहीं आयी जिसका विनाश या सताया जाना पाठकके मनपर किसी अमूल्य और मार्मिक क्षतिका बोध करा सके। ऐसा सन्देह हो सकता है कि लेखक या तो जान-बूझकर जीवनकी इन सूक्ष्मताओंको महत्त्व नहीं देता, या जिन लोगोंकी बात वह कर रहा है उनमें ऐसी सूक्ष्मताएँ हैं नहीं, या फिर लेखक उन्हें समझ सकनेमें समर्थ नहीं।

लेकिन, 'उपन्यासमें जो नहीं है' उसकी ओर ध्यान आकर्षित करनेमें मेरा अभिप्राय 'उपन्यासमें जो है' उसका महत्त्व गिराना नहीं। तारा जिन मूल्योंका प्रतीक है, और पुरी जिन दुर्बलताओंका, उनका संघर्ष नैतिक-अनैतिक, अच्छे-बुरे आदि रूढ़-संघर्षोंसे कहीं अधिक वास्तविक है। यथार्थ-को प्रमुखता देनेवाले यशपालके लिए, पुरानी परिपाटीके अनुसार अच्छेको पुरस्कृत और बुरेको दण्डित दिखाकर औपन्यासिक न्याय करनेका लोभ नहीं रहा है। सामाजिक-आर्थिक दृष्टिसे न तारा असफल कही जा सकती है, न पुरी; फिर भी, जो मूल्य तारा-द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं और पुरी-द्वारा अपमानित उनके बीच यदि मनुष्यताका सही पक्ष ही ऊपर आया है, तो इसे मैं उपन्यासकी एक सराहनीय उपलब्धि मानता हूँ।

लेकिन, जब मैं यह कहता हूँ कि उपन्यासके पात्रोंमें सूक्ष्म अनुभूतियों-का अभाव है तो मेरा संकेत पात्रोंकी अपेक्षा लेखकमें खटकनेवाली एक कमीकी ओर है। यशपाल कवि नहीं हैं : अपनेमें यह तथ्य कोई महत्त्व

नहीं रखता किन्तु उपन्यासके सन्दर्भमें एक ऐसे गुणका अभाव प्रकट करता है जिसके बिना एक साहित्यिक कृति 'क्लैसिक' की कोटिमें नहीं आ सकती। ज़रूरी नहीं कि एक अच्छा कवि अच्छा उपन्यासकार भी हो, लेकिन एक अच्छे उपन्यासकारमें यदि कविके भी गुण हों तो वह निश्चय ही बेहतर उपन्यासकार हो सकता है। 'मादाम बोवारी' का कोई भी पात्र कवि नहीं, उसी प्रकार 'झूठा-सच' का कोई भी पात्र कवि नहीं; लेकिन जिस विशेष अर्थमें उपन्यासकार गुस्ताव फ्लोबेअर कवि हैं और यशपाल नहीं, उसका अन्तर दोनोंकी कृतियोंमें स्पष्ट देखा जा सकता है। 'झूठा-सच' के नीरस प्रेम-प्रसंग लेखकके स्थूल दृष्टिकोणकी प्रत्यक्ष असफलताएँ हैं।

'झूठा-सच' मुख्यतः सामाजिक-राजनैतिक पृष्ठभूमिपर लिखा गया यथार्थवादी उपन्यास है। इससे भिन्न किसी दृष्टिकोणसे जाँचते समय यह सावधानी बरतना आवश्यक है कि विवेचना कृतिके मूल मन्तव्यको देखते हुए असन्तुलित न हो जाये। उपन्यासकी प्रमुख उपलब्धि उस साधारण जन-जीवनका विस्तृत और यथातथ्य वर्णन है जिसका एक रूप हम पंजाब-विभाजनके समय ('वतन और देश' : पहला भाग) पाकिस्तानमें देखते हैं, और दूसरा रूप विभाजनके बाद ('देशका भविष्य' : दूसरा भाग) दिल्ली तथा उत्तर प्रदेशमें। लेखककी जो भी स्वाभाविक सीमाएँ हैं उनके बावजूद उसकी प्रतिभा छिपती नहीं। घटनाओं और चरित्रोंकी इतनी असाध्य विविधताको एक उपन्यासके दायरेमें इस इतमीनानसे सँभाल लेना शिल्पकी मामूली सफलता नहीं।

पंजाब-विभाजन उपन्यासका मुख्य खल-पात्र माना जा सकता है, जो पंजाबसे उखड़कर दिल्लीकी ओर आनेवाली एक समूची पीढ़ीके जीवनको अस्त-व्यस्त कर देता है। कैसे इस पैशाचिक तहस-नहसके बाद भी साहस और आपसी सहायताके बलपर वह पीढ़ी अपनेको नयी परिस्थितियोंमें फिरसे जमाती है, उपन्यासका कथा-वस्तु है। उस बड़ी राजनैतिक घटना-को कुछ साधारण, कुछ विचारशील पात्रोंके द्वारा इस प्रकार देखा गया है

कि उसमें दैनिक जीवनकी निकटता और तीव्रता आ गयी है। विश्व-साहित्यमें ऐसे उपन्यासोंकी एक विशिष्ट परम्परा है, जैसे, तॉल्स्तॉयका 'वार ऐण्ड पीस' तथा शोलोखोव और अपटन सिंक्लेयरके उपन्यास। 'झूठा-सच' भी उतने ही बड़े लक्ष्यको लेकर चलता है—किसी सीमा तक उसमें सफल भी होता है—लेकिन तुलना करते समय उसमें वह कमी महसूस होती है जिसके बारेमें मैं कह आया हूँ।

कथानकको मुख्यतः तीन चरित्रोंके माध्यमसे देखा जाना चाहिए—पहला, जयदेव पुरी; दूसरा, उनकी बहन तारा और उन दोनोंका परिवार; तीसरा, कनक और उसका परिवार। प्रसंगवश, पुरी और ताराका मकान जिस गलीमें है—भोला पान्धेकी गली—उसका वर्णन उपन्यास साहित्यके उन अमिट स्थलोंमें-से है जिनके लिए कहा जा सकता है कि वे यथार्थसे भी गहरा प्रभाव मनपर छोड़ जाते हैं। कथाका एक सूत्र है पुरीका कनक-से प्रेम, किन्तु उनके विवाहमें सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओंके कारण बाधाएँ, पंजाब-विभाजनकी घटनाएँ, कनककी दृढ़ता और पुरीसे विवाह—बच्चे, राजनीति-विशारद सूदजीकी कृपासे पुरीका आर्थिक उत्थान और चारित्रिक पतन तथा अन्तमें कनकसे सम्बन्ध-विच्छेद। आदर्शवादी पुरीका कथानकके सूक्ष्म ताने-बाने-द्वारा धीरे-धीरे नायक-पदसे गिरना उपन्यासकी उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक सफलताओंमें-से है। नायकके प्रति लेखक कहीं भी परम्परागत औपन्यासिक पक्षपात नहीं दिखाता : तटस्थ भावसे उसे जीवनकी कठिन परीक्षाओंसे गुज़ार कर हमारे सामने अन्तिम परिणाम रख देता है—बिना कोई राय दिये हुए, बिना कहीं उसकी ओरसे शरीक हुए। मानो वह अच्छे-बुरे, गुण-दोष आदिकी जटिल मीमांसामें पड़नेके बजाय, उस वास्तविक जीवन-क्रमको हमारे सामने रखना चाहता है जिसे समझे बिना और कुछ समझना अपनेको धोखा देना है।

कथानकका दूसरा सूत्र है तारा, उसका मुसलमान राजनैतिक कार्य-कर्त्ता असदके प्रति आकर्षण और निराशा, उसका ज़बरदस्ती एक अयोग्य

वरसे विवाह, पंजाब विभाजन, तारापर बलात्कार, छुटकारा, दिल्लीमें कई नौकरियाँ और अन्तमें एक स्थायी सरकारी नौकरी, शिक्षित और उदार डॉ० प्राणनाथसे पुनर्विवाह। ताराका विकास पुरीसे विपरीत ढंगसे होता है और अन्तमें वही उपन्यासका सबसे सशक्त और प्रमुख पात्र बनकर उभरती है। इन दोनोंसे अलग व्यक्तित्व है अर्ध-आधुनिक शिक्षा-दीक्षावाली कनकका। इन दोनोंकी अपेक्षा कनकका व्यक्तित्व इस अर्थमें अधिक जटिल माना जा सकता है कि वह एक ऐसे वातावरणमें पली है जिसमें पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियोंका आभिजात्य गोलमाल है। लेखक शायद इस चरित्रको उतनी खूबीसे नहीं उभार पाया है जितना मध्यवर्गीय और निम्न-मध्यवर्गीय चरित्रोंको। ऐसा लगता है कि व्यक्तित्व-की मनोवैज्ञानिक जटिलताओंको व्यक्त करने लायक़ अन्तर्दृष्टि और भाषा यशपालके पास नहीं। वे जीवनको समझदारीसे देखते हैं और जो कुछ देखते हैं उसे उतनी ही वफ़ादारीसे बयान करनेमें कम लेखक उनकी बराबरी कर सकते हैं, लेकिन जहाँ कल्पना और पैनी संवेदनाओंको व्यक्त करनेका सवाल है, उनकी भाषा पर्याप्त लचीली नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनकी भाषाकी अन्य विशेषताओंका क़ायल नहीं: उदाहरणके लिए, असामान्य विचारों और तर्कोंको अत्यन्त सहज और सुलझे ढंगसे कह सकनेकी उनमें अपूर्व क्षमता है। विषयके साथ-साथ भाषा भी जटिल न हो जाये, मूलत: इसका सम्बन्ध लेखककी वैचारिक ईमानदारी और स्पष्टतासे तो है ही, लेकिन उसका यह पहलू भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि लेखक स्वयं अपने विचारोंको व्यक्त करनेके इस माध्यम—यानी भाषा—के विकासमें कितनी गहरी दिलचस्पी रखता है, उसके संवर्धनमें कितना प्रयोगशील है। यशपालकी भाषामें भी एक ख़ास शैलीका रस लिया जा सकता है—वैसे ही जैसे जैनेन्द्र, अज्ञेय या हज़ारीप्रसादजीकी भाषाओंकी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। उपन्यासके सन्दर्भमें यशपालकी भाषाका यह गुण श्लाघ्य है कि वह कहीं भी थकाती नहीं।

● ●

श्रीकान्त वर्मा

दूसरोंका नरक*

सही चीज़ोंके ग़लत नाम हो सकते हैं। क़लमको हवाई जहाज़ और ड्राइंग रूमको सड़क कहनेवाला पिछले ज़मानेमें पागल माना जाता होगा, आजके ज़मानेमें वह विज्ञापन-पटु व्यापारी होता है। लेकिन यदि किसी समर्थ लेखकको स्वनिर्मित ड्राइंग रूम कभी सड़क और कभी ड्राइंग रूम और कभी दोनों ही नज़र आने लगे, तो मानना चाहिए कि ड्राइंग रूमकी रचना और अवधारणामें ही कोई मौलिक दोष है—कोई बिन्दु है जिससे टकराकर लेखककी दृष्टि विभक्त हो जाती है और फिसलकर उस ओर चली जाती है, जो उसे सड़क नज़र आती है। ड्राइंग रूमके अन्दर भी सड़क हो सकती है मगर सड़कपर ड्राइंग रूम नहीं हो सकता है। मोहन राकेशके मौलिक, साहसिक, और फ़ोटोग्रैफ़िक उपन्यासका ड्राइंग रूम सड़कपर है या यों कहा जाये कि यह ड्राइंग रूम कुछ दूर चलकर एक सड़कमें परिणत हो जाता है, जो दिल्लीकी दरिद्र, भयावह और अँधेरी बस्तियोंसे होकर जब दूतावासोंके गन्धमें डूबी हुई, अपने गन्तव्य तक पहुँचती है, तब (इसके लिए पाठककी थकान ही उत्तरदायी है) पाठकको साराका सारा ड्राइंग रूम भी सड़क नज़र आने लगता है। ड्राइंगरूमको महाजनी सभ्यताका प्रतीक माननेवाले एक सामाजिक कार्यकर्ताका उद्देश्य इससे सिद्ध हो सकता है, मगर एक लेखकका नहीं। ड्राइंग रूमके साथ ड्राइंग रूमका और सड़कके साथ सड़कका बरताव होना चाहिए।

---

* अँधेरे बन्द कमरे : मोहन राकेश

यह ड्राइंग रूम है प्रेम। और जिस तरह हर ड्राइंग रूमका अपना सौन्दर्य ही नहीं, अपनी घुटन भी होती है, उसी तरह ही प्रेमका भी अपना सौन्दर्य ही नहीं, अपनी घुटन भी होती है। जहाँ तक इस सौन्दर्यका प्रश्न है, मोहन राकेशके उपन्यासके 'नरेटर' को इसपर दृष्टिपातका शायद अवकाश ही नहीं मिला है, लेकिन जहाँ तक इसकी घुटन, ऊब और एक-रसताका सम्बन्ध है, शायद यह पहला उपन्यास है जिसने इतनी तीव्रताके साथ इसे प्रतिष्ठित किया है। 'अँधेरे बन्द कमरे' मेरे लिए यदि एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, तो केवल इसी दृष्टिसे। अन्य दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण वह सामाजिक कार्यकर्त्ताओंके लिए होगा।

हम प्रेम करते हैं और पहलेसे अधिक अकेले होते जाते हैं। हम प्रेम करते हैं और एक दूसरेसे अधिकाधिक अपरिचित होते जाते हैं। हम प्रेम करते हैं और एक दिन हम पाते हैं कि हम प्रेम नहीं करते थे। बहुत-से लोग यह खोज नहीं भी कर पाते। शायद अधिकांश लोग। ऐसे लोगोंका जीवन सबसे अधिक ट्रैजिक होता है। ध्यानसे देखा जाये तो हमारे समयके अधिकांश लोगोंकी प्रेम-कहानियाँ उन लोगोंकी कहानियाँ हैं जो अपने-अपने काँचके कटघरेमें खड़े एक दूसरेको सम्बोधित कर न जाने क्या कर रहे हैं; यहाँ तक कि काँचके बाहरसे चेहरेपर मुद्रित खीझ भी पानीमें हिलती आकृतियोंकी तरह अस्पष्ट नज़र आती है। हमारा प्रेम उन गूँगे और बहरे लोगोंका प्रेम है, जिनके पास अन्दरकी कोई भाषा नहीं।

सार्त्रने नरकको कल्पना आधुनिकताकी इसी नियतिको लेकर की होगी : 'नरक दूसरोंमें है।' कामूका अनुभव भी इससे बहुत भिन्न न था : "हम लोग सह-अस्तित्वके लिए अभिशप्त हैं।" आन्तरिक भाषा और सूत्रके अभावमें सचमुच ही सह अस्तित्व—जिसे भ्रमवश हम प्रेम कहते हैं—एक अभिशाप है।

उपन्यासकी कहानी और दिल्लीके सांस्कृतिक जीवनको दयनीय

और हास्यास्पद ढंगसे अपने इर्द-गिर्द समेटनेका प्रयत्न करनेवाले नीलिमा और हरबंस एक इसी प्रकारके अभिशप्त दम्पति हैं। एक-दूसरेको अपनी असफलता और अप्रतिष्ठाके लिए उत्तरदायी ठहराते हुए, वे एक दूसरेके कटघरेमें खड़े मुजरिम हैं। प्रतिभाहीन दम्पति हरबंस और नीलिमा मध्यवर्गके उस स्टॉकके चरित्र हैं, शिक्षा और संस्कारवश जिनमें महत्त्वाकांक्षाका जागृत हो जाना स्वाभाविक है। मगर हर महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति प्रतिभावान् नहीं होता। नीलिमाको विश्वास है कि उसमें एक नर्तकीकी प्रचुर-प्रतिभा है, मगर पतिकी उदासीनताके कारण, वह अपनी सफलताके साधन न जुटा सकी। असफलताकी पीड़ा प्रतिभावान्से अधिक, प्रतिभाहीन व्यक्तिमें होती है। हरबंसकी ट्रैजेडी यह है कि वह कभी उपन्यास लिखना चाहता था, न लिख सका; जो होना चाहता था, न हो सका। इसके लिए नीलिमा ज़िम्मेदार है। ऊपरी तौरपर यह ग़लत चुनावकी कहानी जान पड़ सकती है। उपन्यासकारने अन्तर्स्थितिको जगह-जगह जितना 'सिम्प्लीफाइ' कर दिया है, उससे ऐसा लगना और भी स्वाभाविक है। मगर यदि समस्या यहीं तक सीमित होती, तो उसका समाधान भी उतना ही आसान होता।

लेकिन स्थिति इससे कुछ भिन्न है, जिससे स्वयं हरबंस और नीलिमा परिचित नहीं। वे नहीं जानते कि वे एक-दूसरेसे प्रेम नहीं करते या उनका प्रेम समाप्त हो चुका है। यदि वे अपने जीवनमें सफल हुए होते, महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी हुई होतीं, तब भी अन्दरकी स्थिति यथावत् होती। शरीरका ही 'आर्गेस्म' नहीं होता, प्रेमका भी 'आर्गेस्म' होता है। युंगका मत है कि उत्तेजना और तनावके अभावमें प्रेम भी निर्जीव और लुंज हो सकता है। एक बिस्तरेपर सोकर भी पति-पत्नी सर्वथा अपरिचित और अजनबी हो सकते हैं। प्रेमहीन रतिसे बड़ा नरक और क्या हो सकता है। मगर नरकमें आदमी अकेले नहीं रह सकता। नीलिमाकी जीवन-गन्धसे ऊबा हुआ हरबंस, लन्दन चला जाता है। मगर सहभोग और

सह-अस्तित्व मनुष्यकी नियति है, वह इससे पृथक् नहीं रह सकता। अपने अकेलेपनसे ऊब और घबराकर हरबंस नीलिमाको लन्दन बुलानेका संकल्प करता है और कुछ अत्यन्त मार्मिक पत्र लिखता है जिनकी गणना इस उपन्यासके उत्कृष्ट स्थलोंमें की जा सकती है। नीलिमा भी, हरबंससे अलग रहनेके संकल्पके बावजूद, अकेले नहीं रह पाती है। यहाँ तक कि युरोपमें भी एक बार, अपने निश्चयके बाद भी, वह अडिग नहीं रह पाती, हरबंसके पास लौट जाती है। कमज़ोर और अक्षम पति हरबंस भारतवर्ष लौटकर नीलिमाके नृत्य-आयोजनका प्रमुख संयोजक और प्रचारक बननेके बावजूद दाम्पत्य-जीवनमें सन्तुलन स्थापित करनेमें असमर्थ होता है। दूतावासों, पत्रकारों और प्रदर्शन-जीवियोंके सहयोगसे आयोजित नृत्य-प्रदर्शनकी असफलतापर, नीलिमा अपने सम्पूर्ण जीवनकी असफलताका उत्तरदायित्व हरबंसको सौंप अलग हो जाती है। मगर कर्तव्य-भावना उसे फिर हरबंसके पास लौटा लाती है। प्रेम नहीं रह जाता, कर्तव्य रह जाता है। कर्तव्यसे बड़ी विवशता क्या हो सकती है! मगर अधिकांश लोगोंके साथ यही होता है। आधुनिकताकी फैली हुई पृष्ठभूमिपर प्रेम एक दुःखान्त नाटक है, जिसका हर अभिनेता कर्तव्यकी भावनासे संग-संग अभिनय करने तथा विभिन्न मुद्राओंमें जीवित रहनेके लिए बाध्य है। हर अभिनेताका अपना मन है, अकेलापन है, जो उसका नेपथ्य है। हरबंस और नीलिमा, इसी नेपथ्यमें छटपटाती, झुँझलाती, खीझती आकृतियाँ हैं, एक-दूसरेके लिए अर्थहीन हैं। इस अर्थहीनता और विफलताको इतनी विविध भंगिमाओंमें प्रतिष्ठित करनेका, 'अँधेरे बन्द कमरे' पहला प्रयास है और कोई कारण नहीं कि इस दृष्टिसे इसे एक असामान्य उपन्यास न माना जाये? यह विश्वास किया जा सकता है कि और भी लेखक इस संकेतको ग्रहण करेंगे और आधुनिकताकी इस जटिल मनःस्थितिको अधिकाधिक तीव्रताके साथ प्रतिष्ठित करनेका यत्न अपने उपन्यासोंमें करेंगे।

अच्छा होता 'अँधेरे बन्द कमरे' का कथानक हरबंस और नीलिमाके

घुटन-भरे ड्राइंग रूम तक ही सीमित रहता। मगर उपन्यास और उपन्यास-कारका आग्रह है कि अपनी पीठपर अपना ड्राइंग रूम लादे दिल्लीकी विपन्न और सम्पन्न आबादियोंके बीच चलनेवाली उस सड़ककी सार्थकता-पर भी विचार किया जाये, जो न होती तो उपन्यास अपनी अवधारणा, योजना और रचनामें निर्दोष होता।

"यहाँ आओ, मधुसूदन !" 'न्यू हैरल्ड' का सम्पादक अपनी समरकी पतलूनमें हाथ डाले पाइपका कश खींचता हुआ कमरेकी खिड़कीके पास खड़ा था।....वह बोला, "मैं जब भी इस खिड़कीके पास आकर खड़ा होता हूँ, तो मुझे न जाने कैसा लगने लगता है। मुझे लगता है जैसे मैं एक नदीके बहावको ऊपरसे देख रहा हूँ, मगर इसकी तहमें, एक और ही दुनिया है, जिसको यहाँसे देखनेपर कुछ अनुमान नहीं होता। ये बसें, ये कारें, ये भाग-भागकर सड़कें पार करते हुए लोग ! इन्हें देखकर क्या यह अन्दाजा भी होता है कि इस हलचलकी तहमें इनमें-से हरेक आदमी कहाँ और किस तरहकी ज़िन्दगी जीता है। इनमें कई लोग हैं, जिनके चेहरे और लिबास देखकर मनमें एक ईर्ष्या जाग आती है; मगर हो सकता है अपने व्यक्तिगत जीवनमें वे ऐसे सीलन और बदबूदार वातावरणमें रहते हों जहाँ जाकर इनसानके लिए साँस लेना भी कठिन हो जाता है ! मैं जब भी इस भीड़पर नज़र डालता हूँ तो इस तरहकी बात सोचकर कई बार मेरा मन उदास होने लगता है।" यह कहते हुए वह थोड़ा मुसकराया और अपनी बायीं आँखको ज़रा-सा दबाकर बोला, "तुम्हें पता है, किसी ज़माने-में मैं भी कविता किया करता था।"

मधुसूदन भी किसी ज़मानेमें कविता किया करता था। मगर मधुसूदन कवि नहीं है, रिपोर्टर है—कवि होता तो अपने इर्द-गिर्द इकट्ठे लोगोंके जीवनमें गाहे-ब-गाहे आनेवाले सौन्दर्यके उन क्षणोंका भी भोक्ता होता, जो किसी रचनाको सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। इस उपन्यासका दुर्भाग्य यही है कि इसका नैरेटर एक रिपोर्टर है, जिसे नगरकी कथा कहनेका अतिरिक्त मोह

है। मैं नहीं जानता किसी नगरपर उपन्यास कैसे लिखा जा सकता है! निबन्ध और अखबारी रिपोर्टें ही क्या पर्याप्त नहीं; जो इसके लिए उपन्यासका माध्यम चुना जाये! प्रश्न यह है कि क्या सचमुच ही उपन्यासका कोई विषय होता है या उपन्यास कुछ चरित्रों और पात्रोंके घात-प्रतिघातसे उत्पन्न होता है, यहाँ तक कि समय और स्थान भी इस संघर्षसे पैदा होता है। हर उत्कृष्ट उपन्यासमें समय और स्थान होता है, मगर वह कैलेण्डर और जाग्रफ़ीपर बिखरा हुआ नहीं होता। स्थान और समयकी गन्ध चरित्रमें होती है और यदि स्थान और समयके संकेतका लोप कर दिया जाये, तब भी चरित्र अपने समय और स्थानकी विशिष्टताका प्रतिनिधित्व करेगा। तॉलस्तॉयके उपन्यासोंसे यदि काल और स्थानके सूक्ष्म संकेत हटा दिये जायें तब भी उनके चरित्र उन्नीसवीं सदीके रूसी ही नज़र आयेंगे! चेखॅवकी कहानियोंके पात्रोंमें, नाम बदल देनेपर भी, क्रान्तिपूर्व रूसकी गन्ध रहेगी। देश तो चरित्रमें डूबा हुआ रहता है। उसे नक़्शेकी तरह बिछाकर देखने और फिर उसपर अपने पात्रको खड़ा करनेकी आवश्यकता उपन्यासकारको अनुभव नहीं होनी चाहिए। मगर रिपोर्टर मधुसूदनको राजधानीके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनके विषयमें लम्बी-लम्बी अखबारी रिपोर्टें लिखनेका चस्का है। इन रिपोर्टोंकी, स्पष्ट ही, एक सामाजिक, राजनैतिक और हाइज़ीनिक उपयोगिता है। मगर इनका उचित स्थान उपन्यास नहीं, अख़बारका कॉलम है।

—मधुसूदन नौ वर्षोंके बाद दिल्ली आया है। नौ वर्षोंमें दिल्ली बदल गयी है। दिल्ली ही क्यों दुनिया बदल गयी। केवल मधुसूदन उस अनुपातमें नहीं बदला है। वह बम्बई भी रह आया है मगर मूलतः वह क़स्बेका आदमी है। विपन्नता उसे दिल्लीके एक अस्वच्छ और अस्वस्थ अंचलमें रहनेके लिए बाध्य करती है। वहाँ वह ग़रीबी, बीमारी, गन्दगी, प्रेम, दया, मनुष्यताके वे अनुभव प्राप्त करता है, जिनसे उसकी सहानुभूति उत्पीड़ितोंके प्रति और बढ़ती है, मगर जिनका इस उपन्यासकी मुख्य-कथा-

से कोई सम्बन्ध नहीं। पत्रकारितामें कुछ सफलता प्राप्त करने और आर्थिक स्थिति सुधर जानेके बाद, वह एक अपेक्षाकृत स्वस्थ स्थानको शिफ़्ट कर जाता है। रिपोर्टर होनेके नाते भी उसे कला, संस्कृति, सामाजिक प्रदर्शन आदिके उन क्षेत्रोंमें उठना-बैठना पड़ता है, जहाँ उसे घुटनका अनुभव होता है। एक खोखली संस्कृति उसके सामने उपस्थित है। हिपॉक्रिसीके प्रति वह फ़ौरन रिएक्ट करता है। और अन्तमें जब महत्त्वाकांक्षिणी सुषमा उसे अपने जीवनकी रिक्तता भरनेका साधन बनानेका चतुर प्रस्ताव रखती है तो वह अपने मनमें दर्द सँजोये हुए, ग़रीबी, भुखमरी और प्रेमकी ओर लौट जाता है। मैं नहीं जानता, यह आत्म-निर्णय है या पराजय! वस्तुतः मधुसूदन एक स्टॉक कैरेक्टर है, जिसे नायक बनानेके उपक्रममें रचयिताने एक कमज़ोर चरित्र बना डाला है।

मधुसूदन एक ईमानदार, परिश्रमी एवं आस्थावान् व्यक्ति है। उसकी आस्था सचमुच ही सराहनीय है। मगर जीवन और तमाम वस्तुओंके प्रति वह स्थूल ढंगसे विचार करता है। यहाँ तक कि जटिल सामाजिक और राजनैतिक स्थितियोंपर भी वह सरल टिप्पणियाँ करता चलता है। यह एक कुशल पत्रकारका गुण हो सकता है। कोई उपन्यास इस प्रकारके 'स्नैप्स' से समृद्ध हो सकता है, मुझे सन्देह है। किसी समाजकी राजनैतिक और सामाजिक अवस्थाको प्रतिष्ठित करनेके लिए, यह आवश्यक हो जाता है कि उपन्यासकार कुछ प्रतिनिधि चरित्रोंका निर्माण करे। जिस नयी दिल्लीके राजनैतिक और सांस्कृतिक खोखलेपनसे ऊबकर मधुसूदन, एक दूसरे नरकमें चला जाना पसन्द करता है, उसका प्रतिनिधि चरित्र हम किसे कहें? पॉलिटिकल सेक्रेटरी, पत्रकार, कलाकार आदिके नामपर उपन्यासकारने कुछ मसख़रे इकट्ठे किये हैं। दरअसल वे मसख़रे नहीं हैं; चतुर, कूट, जालसाज़ और वह सब हैं, जिनके कारण कोई संस्कृति अस्वीकार्य हो सकती है। मगर लेखकने बरताव इनके साथ मसख़रोंका-सा किया है। खोखलापन दिखानेके लिए अन्दर जाना पड़ता है। 'अँधेरे बन्द कमरे'

के लेखकने अनजाने, इस खोखलेपनपर मसखरेपनका नक़ाब चढ़ा दिया है। हम उनसे घृणा नहीं कर सकते, उनपर हँस सकते हैं। यह इस उपन्यासके उस इष्टकी असफलता है, जिसकी ओर संकेत लेखकने भूमिकामें किया है।

बुद्धिजीवीका संकट एक समूची संस्कृतिका संकट होता है। हमारे देशके बुद्धिजीवियोंके सामने आज कुछ वैसा ही संकट उपस्थित है, जैसा एक ज़मानेमें फ़्रान्समें उपस्थित था। सार्त्रके उपन्यास (एज ऑव रीज़न) का नायक मैथ्यू एक ओर बोर्ज़ुआ मूल्योंका विरोधी है, दूसरी ओर फ़्रान्सकी कॅम्युनिस्ट पार्टीका सदस्य होनेमें स्वयंको असमर्थ पाता है। मैथ्यूकी ट्रैजेडो उसका विवेक है। मैथ्यूका कॅम्युनिस्ट मित्र उसे कॅम्युनिस्ट पार्टीमें शामिल हो, अपने आत्म-संकटसे उभरनेकी सलाह देता है। मैथ्यू सोचता है, उसका मित्र सचमुच भाग्यवान् है, जिसने अपनी तमाम समस्याओंका एक सरलीकृत नुस्खा प्राप्त कर लिया है। काश वह भी इतना ही भाग्यवान् होता। अर्थात् उसके विवेक और पार्टीके विवेकमें अन्तर्विरोध न होता। यह स्वीकार करना चाहिए कि निर्णयके अभावमें हमारे देशके बुद्धिजीवियोंकी एक समूची पीढ़ी इस 'क्राइसिस' से उभर नहीं सकी। उनके नामपर, एक क्लीब और लुंज प्रतिभा है।

आज जो भी पीढ़ो सक्रिय और जीवित है, उसके सामने भी कुछ हेर-फेर एक ऐसा ही संकट उपस्थित है। इसे क्या कहें कि दो संस्कृतियोंके बीच खड़े मधुसूदनके मनमें ऐसो कोई क्राइसिस नहीं। क्राइसिस होती तो उसका दर्द होता और यह दर्द मधुसूदनको एक ऊँचे धरातलपर प्रतिष्ठित कर देता। मधुसूदनके मनमें क्राइसिस नहीं क्योंकि उसके पास हर प्रकारके संकटसे उभरनेका एक फ़ॉर्मूला है, रास्ता है। यह रास्ता है, चेम्सफ़ोर्ड रोड, जिससे होकर वह जब चाहे तब दिल्लीकी अस्वच्छ और ग़रीब आबादीकी ओर लौट सकता है। यह एक सामाजिक कार्यकर्त्ताका मार्ग हो सकता है, बुद्धिजीवीका नहीं। बुद्धिजीवीकी समस्याका निदान, इतना

आसान नहीं। यहाँतक कि मधुसूदनका फ़्रस्टेशन भी मिथ्या जान पड़ता है। पाठक उसे एक मीडिआकर और पॉलिटिलिकल सेक्रेटरी एक स्नीक कहकर डिसमिस कर सकता है। मैं नहीं जानता मोहन राकेश-जैसे मेधावी लेखकने, मधुसूदन-जैसे निरर्थक पात्रकी अवतारणा क्यों की है। मधुसूदनके न होनेपर कहानीका कुछ न बिगड़ता, बल्कि वह अधिक संगठित और संग्रथित होती।

तब भी हमारी भेंट सुषमा-जैसी आधुनिकासे हो सकती थी, जो इस उपन्यासका सबसे लुभावना व्यक्तित्व है; घटनाओं और स्थितियोंको आवृत्ति और पुनरावृत्तिके बीच एक सर्वथा नया प्रसंग है। सुषमासे अच्छा प्रतीक आधुनिकताका और क्या हो सकता है! आधुनिकताकी चमक-दमक, आत्म-केन्द्रता, लस्ट और अकेलापन सब उसमें मौजूद हैं। और आधुनिकताके गुण और उपलब्धियाँ भी, जिन्हें मधुसूदन नहीं देख पाता या देखनेसे इनकार करता है। अच्छा होता यदि सम्भावनाहीन मधुसूदनके चरित्रकी गलियोंमें निरर्थक भटकनेके बजाय, लेखकने अमित सम्भावनाओंवाले इस चरित्रपर सम्पूर्ण विचार किया होता। फिर भी! अपने संक्षिप्त रूपमें भी सुषमा एक अनुपम चरित्र है और उसने अपनी गरिमासे उपन्यासको एक वयस्क धरातलपर प्रतिष्ठित कर दिया है।

आदमी एक ही स्तरपर जीवन नहीं जीता अनेक स्तरोंपर जीता है, या जीनेका स्वांग करता है। कॉफ़ी हाउस भी जीवनका एक स्तर है, या एक स्वांग है। ऐसे कितने ही स्तर हैं। और एक-एक स्तरमें कितनी ही सम्भावनाएँ हैं। कला इस बातकी माँग करती है कि ढेर सारे पात्र इकट्ठे कर देनेके बजाय, कुछेककी सम्भावनाएँ ढूँढ़ी जायें। इन सम्भावनाओंसे जुड़कर ही, उपन्यासकी कथा समृद्ध होती है। मगर 'अँधेरे बन्द कमरे' के लेखकने 'बाइस्कोप'की-सी झाँकियाँ दिखानेके प्रयत्नमें, इन तमाम चरित्रोंको बेमानी, स्केची और फ़िज़ूल कर दिया है। वे सिनेमाकी

रील टूट जानेपर, परदेपर दिखाये जानेवाले स्लाइडोंकी तरह हैं; मगर लेखकका आग्रह है कि उन्हें भी फ़िल्मके रूपमें स्वीकार किया जाये।

तथ्य हैं, मगर मूल्य नहीं है। कॉफ़ी हाउस, प्रदर्शन-गृह, दूतावासकी पार्टियों और गेट-टुगेदरमें इकट्ठे होनेवाले लोगोंके नोट्स और रेखा-चित्र हैं। मगर इन्हें मूल्य-स्तरपर प्रतिष्ठित नहीं किया गया। अतः सबके-सब बेमानी हैं। वे केवल पन्ने भरते हैं।

जगह-जगहपर पन्ने भरनेका काम लम्बे-लम्बे भावुकतापूर्ण वक्तव्योंने भी किया है। "हवामें एक कोहनूर झिलमिलाता है...." से आरम्भ होकर न जाने कितने पृष्ठों चलनेवाला वक्तव्य !! अपनी पीठपर, इस प्रकारके वक्तव्यों, आँकड़ों और तथ्योंके बड़े-बड़े पोस्टर चिपकाये चलनेवाला मधुसूदन, असलमें एक काग़ज़ी आदमी है। वह 'आइडियालॉजी' को ज़िन्दगी मानकर चलता है। वह अन्त तक नहीं समझ पाता कि उसने जीवन नहीं जिया है, 'आइडियालॉजी' जी है। 'आइडियालॉजी' 'ऐब्स्ट्रेक्शन' तक पहुँचती है। मधुसूदन भी 'ऐब्स्ट्रेक्शन' तक पहुँचता है। सुषमाका परित्याग कॉंक्रीटका नेगेशन और 'ऐब्स्ट्रेक्ट' की स्वीकृति है। तथ्यपरक पात्रका अन्त, हमेशा 'ऐब्स्ट्रेक्शन' में होता है। चतुर लेखक इस 'ऐब्स्ट्रेक्शन'को भविष्य कह सकते हैं, मगर वस्तुतः यह भविष्य नहीं होता, वर्तमानसे पलायन होता है।

यह अवश्य है कि मधुसूदनके निजी जीवनके कुछ मार्मिक प्रसंग हैं—जहाँ वह रिपोर्टर नहीं हैं, कुतुब रोडसे लौटनेवाला एक 'सेक्स-स्टाड' नवयुवक है या ठकुराइनकी ओर फिसल जानेवाला कमज़ोर मानव है। जेबमें एक चवन्नी लिये, कुतुब रोडसे लौटनेवाला व्यथामें डबडबाया हुआ मधुसूदन, सचमुच एक ज़ीवित व्यक्ति है और उसके दर्दमें एक आत्मीय संगीत है। ठकुराइनका मुख्य-कथासे कोई सम्बन्ध नहीं, मगर अपनी सजीवताके कारण उसने उपन्यासमें अपनी एक जगह बना ली है। इस

प्रकारके छोटे-छोटे कई ख़ूबसूरत प्रसंग हैं, जिनसे उपन्यास स्थान-स्थानपर संगीतमय हो उठा है। इन प्रसंगोंके निर्माण और बुनावटमें, मोहन राकेशने एक समर्थ कलाकारका परिचय दिया है और इस मानवीय पकड़, दृष्टि और कौशल तथा उपन्यासकी मुख्य कथाकी अवधारणा और उपचारने उन्हें एक 'मेजर' सम्भावनाके रूपमें प्रतिष्ठित किया है।

• •

नेमिचन्द्र जैन

अनुभूति और अभिव्यक्तिकी कलात्मक अन्विति *

पिछले दस-पन्द्रह वर्षोंमें हिन्दी उपन्यास अपनी सार्थकताके लिए कई नये परिप्रेक्ष्य खोजता रहा है और अब उसमें व्यक्तिके आन्तरिक सत्यका बाह्य परिवेशके साथ समंजन, रोमैण्टिक दृष्टिकी बजाय जीवनके यथार्थ साक्षात्कारका प्रयास, भावुकता या भावनाप्रधानताके स्थानपर तीखापन, कलात्मक संयम और निर्ममता आदि विशेषताएँ क्रमश: अधिकाधिक दीखने लगी हैं। अब उपन्यासकार प्राय: यह प्रयत्न करता है कि गहनसे गहन अनुभूतिकी अभिव्यक्तिके लिए भी साधारण जीवनके यथासम्भव सहज और दैनन्दिन पक्षोंका ही सहारा ले। बल्कि शायद उसे यह अनुभव होता है कि गहनतम सत्य और उसकी अनुभूति साधारण जीवनमें ही अधिक सम्भव है।

हिन्दी उपन्यासके इस यथार्थोन्मुख अभियानमें श्री नरेश मेहताका १९६३ में प्रकाशित उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' एक उल्लेखनीय पथचिह्न है। उसमें आजके हिन्दी उपन्यासकी ये सभी विशिष्टताएँ विभिन्न रूपोंमें तथा विभिन्न पारस्परिक अनुपातों और सन्तुलनोंमें न केवल मौजूद हैं, बल्कि एक कलात्मक उपलब्धिके स्तरपर अभिव्यक्त हो सकी हैं। उसमें एक युगविशेषके सामाजिक जीवनके मूल्यों और मान्यताओंकी पृष्ठभूमिमें वैयक्तिक जीवनका बड़ा संवेदनशील और आत्मीयतापूर्ण चित्र है जो

---

*यह पथ बन्धु था : नरेश मेहता

भावसंकुल और तीखा भी है और संयत भी।

'यह पथ बन्धु था' में मालवाके एक छोटे-से क़स्बेके अत्यन्त साधारण सरकारी शिक्षक श्रीधर ठाकुरकी कथा है। श्रीधरके मनमें कोई बड़ी प्रेरणा या महत्त्वाकांक्षा नहीं, कोई बड़ा स्वप्न या कोई गहरी बेचैनी या कर्मठता नहीं। पर अपनी घोर साधारणतामें भी उसके भीतर आत्म-सम्मान है, नैतिकता है, और चाहे साधारण ही सही, किन्हीं आदर्शोंमें आस्था है। आत्मसम्मानका यह सूत्र उसे क़स्बेके, और परिवारके अत्यन्त सीमित संकीर्ण वातावरणमें-से इन्दौर और काशीके शहरी जनसंकुल तथा उथल-पुथलसे भरे वातावरणमें खींच लाता है। उसने अपने राज्यका एक इतिहास लिखा था जिसकी प्रशंसा होती है, पर इसीसे विभागीय अधि-कारियोंको उससे ईर्ष्या भी होने लगती है। उसपर राज्यके शासकोंका पर्याप्त सम्मानपूर्वक उल्लेख न करनेका आरोप लगाया जाता है और ग्रन्थमें आवश्यक संशोधन करनेकी माँग की जाती है। जब श्रीधर इसके लिए तैयार नहीं होता तो उससे त्यागपत्र देनेको कहा जाता है। नौकरीके सिवाय उसके पास जीवन-यापनका कोई अन्य साधन नहीं। उसकी पत्नी और तीन बच्चे हैं, वृद्ध माता-पिता हैं और परिवारकी अवस्था अत्यन्त विपन्न है। श्रीधर कुछ स्थिर नहीं कर पाता और अन्तमें एक प्रकारकी आन्तरिक विवशताके कारण वह एक रात चुपचाप, किसीसे कुछ कहे-सुने बिना ही, घर छोड़कर इन्दौर चला जाता है। वहाँ वह राजनीतिमें, आतंकवादी कार्यकर्ताओंके साथ पड़ जाता है और अपने लिए कोई काम नहीं जुटा पाता। इसी ग्लानिवश वह घर भी कोई समाचार नहीं भेजता। कुछ समय बाद उसे इन्दौर भी छोड़ना पड़ता है और तब वह काशी जा कर रहता है जहाँ वह पहले कांग्रेसी आन्दोलनमें भाग लेनेके कारण तथा बादमें अपने आतंकवादी सम्पर्कोंके कारण तेरह-चौदह वर्ष जेल काटता है। छूटनेपर एक साप्ताहिक पत्र निकालता है तथा अन्य राजनीतिक-साहित्यिक कार्योंमें भी भाग लेनेका प्रयास करता है। पर अपने व्यक्तित्व-

की अव्यावहारिकता और निष्क्रियता तथा राजनीतिक और साहित्यिक जीवनकी क्षुद्र दलबन्दियोंके कारण तथा किसी तीव्र महत्त्वाकांक्षा अथवा आन्तरिक प्रेरणाके अभावमें, वह न तो कुछ कर ही पाता है न कुछ बन पाता है ! अन्तमें पचीस वर्ष बाद असफल, पराजित, टूटा हुआ वह अपने घर लौट आता है। इतने दिन उसने घरसे कोई सम्पर्क नहीं रखा। अतः वह नहीं जानता कि इस बीच उसके माता-पिता मर चुके हैं; दोनों भाई मकानका बँटवारा करके अलग हो चुके हैं; पत्नी सरस्वती यक्ष्माकी अन्तिम अवस्थामें है; दोनों लड़कियोंके विवाह हो चुके हैं, उनमें-से एक सास-ससुरके अत्याचारके कारण पंगु और परित्यक्ता होकर अपनी माँके साथ ही रहती है। श्रीधरके घर पहुँचनेके बाद ही पत्नीकी भी मृत्यु हो जाती है और पंगु पुत्री अपने नानाके घर चली जाती है। श्रीधर अब अपने घर आकर भी अकेला है। उतना ही साधारण और विवश है। उसके जीवनकी नयी दिशाका प्रारम्भ एक राज्यका इतिहास लिखनेके कारण हुआ था, अब वह मानवका इतिहास लिखनेका संकल्प करता है।

इस कथा-संक्षेपसे सम्भवतः यह स्पष्ट है कि इस उपन्यासमें मूलतः व्यक्तिकी जीवन-यात्राको ही उसके विभिन्न आयामोंमें चित्रित किया गया है। पर यह व्यक्ति विभिन्न सूत्रोंसे अपने परिवेशसे जुड़ता है; वह उसकी उपज भी है और उसको जाने-अनजाने, न्यूनाधिक मात्रामें, प्रभावित भी करता है। उपन्यासमें श्रीधरके व्यक्तित्वको, उसके आन्तरिक गठन और उसकी परिणतिको, उसके परिवेशके विभिन्न पक्षोंकी पृष्ठभूमिमें रखकर देखा गया है, मनोविश्लेषण या समाज-विज्ञानके स्तरपर नहीं, गतिमान मानवीय स्तरपर। जैसे, श्रीधरका जन्म एक अत्यन्त कुलीन, धार्मिक, निष्ठावान् ब्राह्मण परिवारमें हुआ है जो क्रमशः अत्यन्त विपन्न अवस्थामें पहुँच चुका है। पिता कीर्तनियाँ हैं, भागवत बाँचते हैं और आचारवान् संयमी व्यक्ति हैं। माता भी वैसी ही हैं। श्रीधर मँझले पुत्र हैं जिन्होंने माता-पिताकी शालीनता, संयम, आस्था, निष्ठा सभी कुछ पाया है।

उनकी पत्नी सरस्वती भी एक पढ़े-लिखे सुसंस्कृत परिवारकी लड़की है, श्रीधर-जैसी ही सहनशील, आस्थावान्, उदार। पर इनके विपरीत श्रीधरके दोनों भाई और उनकी पत्नियाँ अत्यन्त आत्मकेन्द्रित, स्वार्थी और दुनियादार हैं, क्षुद्र, क्रूर और आदर्शहीन। श्रीधरका व्यक्तित्व मुख्यतः परिवारके इन्हीं प्रभावोंसे निर्मित है।

पर उसके बचपनमें एक और भी सुकुमार प्रभाव है, स्थानीय मराठा सरदार बाला साहबकी पुत्री इन्दुका, जो उम्रमें श्रीधरसे दस साल बड़ी थी। जब श्रीधर दस सालका था तभी उसका दूर पूनामें विवाह हुआ और वह चली गयी। पर सातसे दस वर्ष तककी कच्ची, प्रभावशील आयुमें इन्दुके साथ उसका घनिष्ठ सम्पर्क रहा और इन्दुके व्यक्तित्वकी गहरी छाप श्रीधरके मनपर पड़ी। इन्दुका व्यक्तित्व आभिजात्य और सरलता, कलाप्रियता और विलासिता, स्वतन्त्रता और मानसिक दमनके अनेक अन्तर्विरोधी तत्त्वोंकी उपज है। श्रीधरसे उसे बड़ा गहरा स्नेह है, पर उसके भावमें अतृप्त लालसा और बड़ी बहनकी दुलारपूर्ण ममता दोनोंका बड़ा अनोखा मिश्रण है। युवती इन्दुका सम्पर्क बालक श्रीधरको स्वप्नशील तो बना जाता है पर उसे किसी प्रकारकी शक्ति नहीं देता, किसी प्रकारकी गहरी संकल्पमूलक तीव्रता उसके भीतर नहीं जगाता। श्रीधरके व्यक्तित्वके निर्माणमें, उसकी आजीवन निष्क्रियता, परावलम्बिता और आत्मत्वहीनतामें, उसके किशोर जीवनके इन प्रभावोंका गहरा योग है जिसे सूक्ष्मतासे लेखकने उपन्यासके प्रारम्भमें ही दिखाया है।

परवर्ती कर्मसंकुल जीवनमें श्रीधरके व्यक्तित्वके यही सब पहलू नयी परिस्थितियोंके संघातमें आते हैं। उसमें आत्मविश्वास और पहलका अभाव है और वह सहज ही दूसरोंके लिए एक साधन बन जाता है। पर परिस्थितिवश उसे अनायास ही विभिन्न राजनीतिक आन्दोलनों तथा साहित्य और पत्रकार-जगत्‌की संकीर्ण दलबन्दियोंमें फँसना पड़ता है और वह बिशन, मालिनी, रतना-जैसे व्यक्तियोंके सम्पर्कमें आता है। उपन्यासमें

व्यक्ति और परिवेशके इस संघातका भी विस्तृत चित्रण है। यदि बाह्य परिस्थितियोंके सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्यमें श्रीधरके सामान्य जीवनकी व्यर्थता स्पष्ट उभर कर सामने आती है, तो श्रीधरके सन्दर्भमें बदलते हुए मानवीय सम्बन्धोंकी, राजनीतिक, साहित्यिक और सामाजिक संस्थाओं और आन्दोलनों और व्यक्तियोंकी व्यर्थता, अमानुषिकता और निस्संगता भी उतनी ही तीव्रतासे उभर कर आती है। जीवनके दोनों पक्ष एक-दूसरेपर आलोचनात्मक टिप्पणी करते-जैसे जान पड़ते हैं। आन्तरिक जीवन और उपलब्धि अथवा अनुपलब्धिके साथ बाह्य परिवेशके इस निरन्तर सम्बन्ध और संघातके कारण, उनके बीच एक प्रकारके निरन्तर सन्तुलनके कारण, इस उपन्यासमें गहराई और विस्तार दोनों ही हैं और यह आत्मकेन्द्रिता अथवा बाह्यकेन्द्रिता दोनों प्रकारकी एकांगिताओंसे किसी हद तक बच सका है। उसमें प्रस्तुत मानव-स्थितियोंमें एक साथ ही भावगत ऊष्मा भी है और बाह्य यथार्थकी प्रामाणिकता भी, जो उन्हें अपने स्तरपर पर्याप्त विश्वसनीय बनाती है।

व्यक्ति और परिवेशके संघातकी अभिव्यक्ति 'यह पथ बन्धु था' में एक और भी स्तरपर हुई है। यह जितनी श्रीधरकी जीवन-गाथा है उतनी ही उसकी पत्नी सरस्वती या सरोकी भी। बल्कि कई दृष्टिसे सरोकी कथा कहीं अधिक एकाग्र, तीखी, मार्मिक और करुणापूर्ण है। सरो श्रीधरकी भाँति ही निरीह, मूक और सहनशील है, और साथ ही समर्पित तथा शालीन भी। इसी कारण वह परिवारके भीतर रहकर अकल्पनीय त्रास पाती है, और सीमाहीन अगाध समुद्रकी भाँति जीवनकी तीखी पीड़ाको अपने भीतर समाये रखती है। इस दृष्टिसे 'यह पथ बन्धु था' पुराने ढंगके सम्मिलित परिवारके विघटनकी भी कथा है, और उसकी चक्कीमें एक सुकुमार आस्थावान् स्त्रीके पूर्णतः पिस जानेकी कथा भी, जो भारतीय नारीके विडम्बनापूर्ण जीवनके एक समूचे युगको रूपायित करती है। भारतीय पारिवारिक जीवनकी विशृंखलता, जर्जरता, विकृति

और अमानवीयताके ऐसे कारुणिक चित्र हिन्दीमें बहुत कम हैं। प्रायः उनमें या तो एक प्रकारकी सिद्धान्तवादिता अथवा आत्मसजगता होती है या फिर छिछली भावुकता। 'यह पथ बन्धु था' के पारिवारिक जीवनके चित्रोंमें निर्मम यथार्थपरकता जितनी है उतनी ही घनिष्ठ परिचयकी आत्मीयता और वास्तविक विशुद्ध करुणा भी। इसीसे न तो उसमें कोई अतिनाटकीयता है, न कोई कृत्रिम भावावेश। ज़िन्दगीकी अनगिनती छोटी-छोटी बातोंसे उसका ताना-बाना बुना गया है। फिर भी उसमें सार्थकताकी कमी नहीं। बल्कि उसमें स्पष्ट ही परिवार और उसके विघटनके परिप्रेक्ष्यमें सहज मानव आचरण और उसके मूल्योंकी विडम्बना निहित है। एक प्रकारसे सरोकी कथा श्रीधरके जीवनका ही अन्य अर्धवृत्त है जो दोनों सिरोंपर उसके पहले अर्धवृत्तसे जुड़ा हुआ है और उन दोनोंको मिलाकर ही पूर्ण वृत्त बनता है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस जीवनवृत्तमें केवल बाह्य सत्य ही नहीं, आन्तरिक सत्यका उद्‌घाटन प्रमुख है। श्रीधर और सरोकी ट्रैजेडी सामान्य जीवन-मूल्योंकी ट्रैजेडी है। आजकी दुनियामें सहज या साधारण होकर जीना कितना असम्भव है! कोई व्यक्ति यदि अपने छोटे-से घेरेमें छोटी-सी साधारण कोटिकी ईमानदारी और सचाईसे जीवित रहना चाहे तो यह भी कितना दुष्कर है! अपने प्रति सच्चा और सहज होना जीवन-संघर्षके लिए अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि एक प्रकारकी अयोग्यता है। जीनेके लिए, किसी प्रकारकी सफलता, उपलब्धि या परिपूर्णताके लिए, आत्म-विज्ञापन और आत्मप्रक्षेपणका असीम सामर्थ्य चाहिए। हलकेसे हलके और छोटेसे छोटे स्तरपर भी किन्हीं मूल्योंके प्रति सजग और संवेदनशील होकर सुखी हो सकना प्रायः असम्भव है। 'यह पथ बन्धु था' में श्रीधर और सरोके अतिरिक्त इन्दु, मालिनी, बिशन, रतना आदि सभी व्यक्ति अपनी-अपनी आस्थाओंके लिए अपने-अपने स्तरपर मूल्य चुकाते हैं; यहाँ-तक कि पेमेन, कीर्तनियाँजी, श्रीधरकी माँ, गुणवन्ती सबका जीवन एक-

न-एक स्थलपर आकर, पंगु और व्यर्थ हो जाता है। इस दृष्टिसे बड़ी गहरी उदासी और करुणा सारे उपन्यासमें परिव्याप्त है। सहृदयता और सचाईके लिए, निष्ठा और ईमानदारीके लिए, कहीं कोई स्थान नहीं। दूसरी ओर इस उपन्यासमें इतने सारे व्यक्ति अपने प्रति, अपनी मान्यताओंके प्रति, सच्चे बने रहते हैं, टूट जाते हैं पर झुकते नहीं। यह निस्सन्देह परोक्ष ढंगसे जीवनके मूल्योंमें गहरी आस्थाका ही संकेत देता है। इन सब ईमानदार व्यक्तियोंका सफलताके लिए समझौता कर लेना कहीं अधिक निराशाजनक और दुर्भाग्यपूर्ण होता। मानवताका इतिहास एक स्तरपर ऐसे ही अनगिनती साधारण लोगोंको निष्ठाका और उस निष्ठाके प्रति समर्पित हो सकनेका, इतिहास है। वे ही, श्रीधर-जैसे लोग ही, उस इतिहासके निर्माता भी हैं और लेखक भी।

जीवनके प्रति यह दृष्टिकोण निस्सन्देह सत्यके बड़े महत्त्वपूर्ण अंशको प्रकट करता है और उस हद तक इस उपन्यासमें बड़ी सहज करुणा और भावसघनता है। पर साथ ही इसमें एक प्रकारका रोमैण्टिक सरलीकरण भी कहीं-न-कहीं है ही। जीवन उस तरहके दो-टूक सफ़ेद और काले खाँचोंमें बँटा हुआ नहीं है जैसे इस उपन्यासमें दीख पड़ते हैं। इनसानकी कहीं अधिक गहन और तीव्र ट्रैजेडी इस बातमें है कि व्यक्ति स्वयं ही अपना शत्रु होता है; प्रत्येक आदर्श, निष्ठा, और मूल्यमें ही उसका विलोम, उसका विरोधी तत्त्व भी, निहित है। अधिकांशतः हम अपने-आपसे लड़ते-लड़ते ही धराशायी होते हैं। यह बात वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही स्तरोंपर महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह जीवनकी एक मूलभूत जटिलताको प्रकट करती है। समर्थ सर्जनात्मक कृतिमें जीवनके इस अन्तर्विरोधकी इस जटिलताकी अभिव्यक्ति अनिवार्य है। 'यह पथ बन्धु था' में इस दृष्टिसे बड़ा सरलीकरण दिखाई पड़ता है। उसके पात्र साधारण हों या असाधारण, या तो भले हैं, या फिर बुरे। उनमें आन्तरिक द्वन्द्व, परस्पर-विरोधी तत्त्वोंका संघर्ष तथा उससे उत्पन्न तनाव और दबाव

नहीं है। वे एक ही आयाममें जीते हैं, जो इस अर्थमें रोमैण्टिक, आत्म-परक और एकपक्षीय हैं। यही स्थिति बाह्य घटनाओं और परिस्थितियोंके चित्रणमें भी स्पष्ट है। इस एकायामिताके कारण ही 'यह पथ बन्धु था' में करुणा तो है पर विक्षोभ या विस्फोट नहीं, टकराहट नहीं। केवल श्रीधर या सरो ही नहीं, इस उपन्यासमें चित्रित समस्त जीवनमें एक ऐसी निरीहता, निष्क्रियता और आन्तरिक गतिका अभाव है कि जीवनकी अदम्यताका, उसकी अजस्र गतिमानताका, उसके उद्वेलनका कोई चिह्न ही नहीं मिलता। ऊपरसे धीमे-धीमे सहज-साधारण गतिसे बदलते हुए जीवनके पीछे भी अवश्य कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी स्तरपर ऐसी तीव्र टकराहट होती है, ऐसा विस्फोट होता है, जिससे साक्षात्कार करके मन कण्टकित और आतंकित हो उठता है। और वहीं-कहीं जीवनका केन्द्र-बिन्दु भी होता है जिसमें बाकी सारी घटनाओं-व्यापारों और परिवर्तनोंका रहस्य छिपा रहता है। लेखक तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि-द्वारा ही इस केन्द्रसे जीवनकी निहित विराटतासे साक्षात्कार कर पाता है। 'यह पथ बन्धु था' में यह दृष्टि नहीं मिलती। उसका लेखक अभी यथार्थके अपेक्षाकृत अधिक सरलीकृत, बाह्य तथा ऊपरी रूपोंको ही देख सका है। दूसरे शब्दोंमें, वह रोमैण्टिक जीवन-दृष्टिसे अभी अपनेको पूर्णतः मुक्त नहीं कर पाया है। इस उपन्यासमें रोमैण्टिक दृष्टिका यथार्थोन्मुखता-के साथ एक सन्तुलन तो है पर उससे पूर्णतः मुक्ति अभी नहीं है।

इस रोमैण्टिक दृष्टिके और भी कई रूप इस उपन्यासमें हैं। मराठा सरदार बाला साहबके अतीतका चित्र न केवल काल्पनिक है बल्कि अतिरिक्त और अनावश्यक भी है। मालिनी शरच्चन्द्रकी राजलक्ष्मीकी ही छाया है जो दिलचस्प होकर भी न केवल अनावश्यक रूपसे आदर्शीकृत है, बल्कि मूल कथासूत्र और भावसूत्रके साथ उसकी कोई अनिवार्य संगति नहीं है। उसे लेखकने केवल मोहवश ही उपन्यासमें रख छोड़ा है। इन्दुका वृद्ध सामन्तसे विवाह, बिशन और कमलका अवास्तव प्रेम, बिशनका

मालिनीसे विवाहका प्रस्ताव आदि ऐसे कितने ही प्रसंग इस उपन्यासमें हैं जो लेखकके अतीतके प्रति, किसी भावुकतापूर्ण स्थिति, भावना या प्रति-क्रियाके प्रति, रोमैण्टिक मोहको अधिक सूचित करते हैं, गहन जीवन-दृष्टि या कलात्मक सार्थकताको कम। उपन्यासमें ऐसे कई स्थल हैं जहाँ लेखक यथार्थमें निर्ममतापूर्ण गहरा नहीं उतर पाता और सतहके रंगीन आकर्षक रूप ही उसे मुग्ध रखते हैं। ऐसा ही रोमैण्टिक मोह वैचारिक स्तरपर भी कई जगह इस उपन्यासमें है जिसका चरम उदाहरण है इसका अन्तिम पृष्ठ। उसमें लेखकने इतिहासकी गतिकी बड़ी सतही और भावुकतापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है जो न उपयोगी है न वैज्ञानिक।

किन्तु दिलचस्प बात यह है कि इस रोमैण्टिक रुझानके बावजूद यह उपन्यास निरा कल्पना-विलास और सस्ती भावुकतापूर्ण कथा होनेसे बच गया है और एक कलात्मक उपलब्धिका रूप ले सका है। इसके कई महत्त्वपूर्ण कारण हैं जिनमें सर्वप्रमुख हैं लेखकका कलात्मक संयम और विवेक, अभिव्यक्तिमें अतिरेक और अतिनाटकीयताका अभाव तथा भाव-वस्तुके साथ घनिष्ठ आत्मीय परिचय। अधिकसे अधिक रोमैण्टिक स्थितियोंमें भी लेखक उनके साथ बह नहीं जाता। वह अपना सन्तुलन बनाये रखता है और किसी भी स्थितिको एक निश्चित सीमासे अधिक काल्पनिक और अवास्तव नहीं होने देता। यह संयम और विवेक उपन्यास-में कई रूपोंमें प्रकट हुआ है जिनमें-से श्रीधरके चरित्रकी परिकल्पना और उसके माध्यमसे एक अनुभूति-सत्यकी अभिव्यक्ति विशेष विचारणीय है।

श्रीधरको लेखकने एक अत्यन्त ही साधारण और सामान्य प्रकारका व्यक्ति दिखाया है। असाधारणसे असाधारण व्यक्ति और परिस्थितियाँ भी उसके व्यक्तित्वकी मूल संरचनाको नहीं बदल सकतीं। बल्कि उनके सम्पर्क और सन्दर्भमें उसके व्यक्तित्वकी साधारणता और अकिंचनता शायद और भी प्रकाशित हो उठती है। इन्दुके साथ उसका किशोर सम्बन्ध उसे कुछ भावनाशील बनाता है, पर उस सम्बन्धको लेखकने कहीं

भी असंयत नहीं होने दिया है। काशीप्रवासके अन्तिम दिनोंमें इन्दुसे श्रीधरकी फिरसे भेंट तो होती है पर उसकी परिणति किसी भावुकतापूर्ण स्थितिमें नहीं होती। इसी प्रकार रतनाके साथ भी श्रीधरका भावसूत्र एक ऐसी सीमापर आकर ठहरा रह जाता है कि कहीं कोई भावातिरेक नहीं फूट पाता। उसके कारण दोनोंके सम्बन्धोंमें एक मद्धिम-सी मोहक मधुरता अन्तर्व्याप्त रहती है। वे दोनों, कमसे कम रतना, एक आन्तरिक तीव्रतासे उत्कट रहते हैं, पर उसकी अभिव्यक्तिमें कहीं कोई भावुक उच्छृंखलता नहीं है, कोई इच्छापूर्ति या कोई मानसिक विलासिता नहीं है। फाँसीपर जानेके पहले जब वह इस एक वाक्यमें अपना समस्त भावावेग प्रकट करके चली जाती है कि 'तुमि आमार शामी' तो, इस स्थितिकी हलकी-सी भावुकताके बावजूद, यह वाक्य भावोंका तूफ़ान नहीं उत्पन्न करता। बल्कि वह समूचा प्रसंग भी श्रीधरके जीवनकी करुणाको ही रेखांकित करता है। वास्तवमें श्रीधर बहुत-से असाधारण व्यक्तियोंके सम्पर्कमें आकर भी, बहुत सारी असाधारण और सामान्य परिस्थितियोंमें पड़कर भी सहज ही साधारण और सामान्य बना रहता है। भावातिरेक उसके भीतर है ही नहीं। बल्कि बहुत बार तो सन्देह होता है कि कोई भाव भी है या नहीं।

एक बार रतनासे बात करते-करते हलका-सा उत्तेजित होनेपर श्रीधर कहता है—

"मैं तो अपनेको कुछ भी नहीं कर पाता। कभी-कभी तो यह भी अनुभव नहीं हो पाता कि मैं हूँ, और तब मुझे क्या करना चाहिए... नहीं, मेरी कोई उपादेयता नहीं है—कहीं भी और कभी भी।" (पृष्ठ ४२३)

लेखकने कई प्रकारसे श्रीधरके व्यक्तित्वके इस पक्षका उल्लेख किया है। जैसे—

"ठीक अपनी आदतके अनुसार कि जब वे कुछ करते हैं या सुनते हैं तब बिलकुल अनासक्त विदेह बने बहस कर रहे होते या सुन रहे होते

हैं। जैसे उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। शायद इसीलिए उन्हें किसी बातका दुःख नहीं होता, या व्यक्त नहीं हो पाता।" (पृष्ठ ४२६)

"उन्हें क्रोध आना चाहिए था लेकिन उन्हें खेद हुआ। चुनौती अनुभव करनेपर ही तो क्रोध आता है ? और श्रीधर बाबू कभी क्रोध नहीं करते क्योंकि प्रायः चुनौती नहीं अनुभव करते।" (पृष्ठ ४६)

"पता नहीं क्यों श्रीधर बाबूमें कभी असन्तोष ऊपर उभरकर नहीं आ पाता। वे स्वयं ही कभी नहीं समझ पाते कि अगत्या वे चाहते क्या हैं ? जब उन्हें प्रश्न करना होता है या उत्तर देना होता है—वे बस देखते रहते हैं। कहीं किसी चीज़के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं लगती।" (पृष्ठ ४०९)

"उन्हें दुःख नहीं परिताप था, पश्चात्ताप था। अपने असफल होनेपर नहीं, अपमानित होनेपर। उन्होंने प्रत्येक बार समुद्रकी रत्नाकरी सीमाओंमें प्रवेश करनेकी भरसक चेष्टा की लेकिन कोई-न-कोई ज्वार उनके सारे कर्मको नगण्य सिद्ध कर हर बार किनारे ला पटक देता।" (पृष्ठ ५९२)

श्रीधरके व्यक्तित्वकी साधारणताका यह चौखटा लेखकने प्रारम्भसे अन्त तक बड़ी सावधानीसे प्रयत्नपूर्वक बनाये रखा है—इतना कि कभी-कभी तो यही असाधारण लगता है। बल्कि कभी-कभी अस्वाभाविक और आरोपित लगता है। पर इसमें कहीं कोई छल नहीं है। बोध और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरोंपर लेखक उसके विषयमें अपनी प्रामाणिकता नष्ट नहीं होने देता। इस कारण यह उसके कलात्मक संयमका एक अन्यतम आयाम भी है। ऐसा ही एक आयाम है सरोके जीवनकी पीड़ाके चित्रणमें। कई दृष्टियोंसे वह अपूर्व नारी है जिसकी सहनशीलताकी कोई सीमा नहीं। उसके पास शब्द नहीं हैं पर भाव इतने सघन और तीव्र हैं कि उनकी तुलना नहीं हो सकती। पचीस वर्ष बाद घर लौटनेपर श्रीधर जब अपने कमरेमें पहुँचते हैं तो देखते हैं—

"वहीं एक लकड़ीके सिंहासनपर उनके स्कूलके दिनोंका चित्र रखा था

जिसके सामने दीप जल रहा था तथा रेशमी पवित्रा (माला) से मंण्डित था। सहसा श्रीधर बाबू अत्यन्त विचलित हुए कि यही वह स्थान है जहाँ बैठ कोई उन्हें अहोरात्र पुकारता रहा है। अँधेरेमें कहीं भटक न जाये इसलिए दीपालोक किये रहा है। पता नहीं कहीं ठौर मिलता है कि नहीं इसलिए इस छोटे सिंहासनको विश्व बना दिया उस व्यक्तिने।" (पृ० ५७६)

इस प्रतीतिके पीछे दुःख और पीड़ाके साथ-साथ एक समर्पित जीवनकी पूरी गाथा है जो अपनी निष्ठामें सचमुच महिमामयी है। उसी रातको इतने लम्बे अन्तरालके बाद सरो जो कुछ श्रीधरसे कहती है उसकी भावसिक्तता और करुणा, अतिरेकहीन संयमित कथनकी दृष्टिसे हिन्दी लेखनमें बेजोड़ है।

वास्तवमें इस संयमके कारण ही समस्त उपन्यासमें, उसके सारे प्रसंगान्तरोंके बावजूद, भावुकता और रोमैण्टिक मोहके बावजूद, एक कलात्मक अन्विति बनी रहती है। स्वयं कथामें, उसमें उलझे हुए पात्रोंके व्यक्तित्वोंमें, ऐसे बहुत-से स्थल हैं जिनमें नाटकीयता और अतिरंजनाकी पूरी-पूरी सम्भावना है। पर लेखक उनके फन्देमें प्रायः नहीं पड़ता और हर बार उस मोहको बचा जाता है। उल्का-जैसे व्यक्तित्व भी श्रीधरके जीवनमें जैसे अनायास आते हैं वैसे ही अनायास निकल भी जाते हैं। अतिरेकका अभाव और अल्पकथन हिन्दी लेखनमें इतना विरल है कि इस उपन्यासमें वह अनोखा और आश्चर्यजनक लगता है। उसकी कलात्मक तटस्थता ही उसे कृतित्वके विशिष्ट स्तरपर उठा देती है।

इस उपन्यासकी एक अन्य विशिष्टता है उसकी आत्मीयता, उसकी भाववस्तुके साथ लेखकका घनिष्ठ परिचय। परिचित अनुभूति-क्षेत्रोंकी सीमाएँ छोड़कर कल्पना-लोकोंमें विचरनेका किशोर प्रयत्न उसमें बहुत ही कम है। मालिनी-जैसे पात्रोंको छोड़ दें तो अधिकांश व्यक्ति बड़ी संवेदनशीलता और सहानुभूतिके साथ अंकित किये गये हैं। उनके बहुत-से पक्ष

नहीं खुलते, पर जितने खुलते हैं वे विश्वसनीय लगते हैं। श्रीधरके माता-पिताका अंकन बड़ी ममतासे हुआ है; इसी प्रकार श्रीमोहन-सावित्रीका बड़ी तीखी घृणासे। किन्तु इस दम्पतिकी सरोके प्रति सीमाहीन क्रूरता अमानुषिक होकर भी अतिरंजित नहीं लगती। और कान्ता तो उस सघन आलोकहीन वातावरणमें धूपकी किरण-जैसी लगती है। ठाकुर सकलदीप नारायण सिंह, रामखेलावन बाबू आदि चरित्रोंमें एकांगिताके बावजूद आन्तरिक संगति मौजूद रहती है। 'यह पथ बन्धु था' के व्यक्तियों और स्थितियोंमें कहीं-कहीं तो यह स्वाभाविकता इस हद तक है कि लगता है, लेखक उनसे अत्यधिक सम्पृक्त है, कलाकारके रूपमें अपनेको उनसे विलग नहीं कर सका है, उनसे पर्याप्त तटस्थ नहीं हो पाया है। यह स्थिति इस उपन्यासको और भी संयमित होकर अधिक गहन और तीव्र होनेसे रोकती है, इसमें सन्देह नहीं। पर वह सम्पृक्ति इतनी अधिक भी नहीं है कि अपने स्तरपर इस उपन्यासको महत्त्वपूर्ण कलाकृति न होने दे। भावना-शीलता और संयमका यह सन्तुलन अपने-आपमें ही कोई नगण्य उपलब्धि नहीं है।

इस संयम और सन्तुलनका प्रभाव अनिवार्यतः उपन्यासके शिल्पपर भी पड़ा ही है। बल्कि शिल्पगत संयमके बिना उसकी उपलब्धि ही सम्भव न थी। किन्तु उसके शिल्पकी विशिष्टता उसकी सरलतामें है, किसी तीखी प्रयोगात्मकतामें नहीं। उसके वर्णनोंमें कथाके सम्बन्ध-सूत्रोंमें प्रवाह है, निरन्तरता है और बीच-बीचमें तीव्र सघनता भी। इस दृष्टिसे उसका ढंग 'शेखर' से मिलता-जुलता है। इसी प्रकार स्थितियों और व्यक्तियोंको प्रस्तुत करनेमें शायद अनजाने ही विसदृशता (कॉण्ट्रास्ट) का बड़ा प्रभावपूर्ण उपयोग हुआ है। बिशन और श्रीधर, रतना और मालिनी, इन्दु और सरो, सरो और सावित्री, कान्ता और गुणवन्ती आदि पात्रोंमें बड़ी रोचक विसदृशता है और वे जैसे एक दूसरेको अधिक रूपायित होनेमें सहायक होते जाते हैं। विभिन्न कथासूत्रोंको भी कुशलतासे एक-

दूसरेसे सम्बद्ध रखा गया है। प्रकृति और जनजीवन दोनोंके वर्णनोंमें बड़ी सूक्ष्मता, काव्यात्मकता और चित्रात्मकता है। बीच-बीचमें काव्य-सुलभ बिम्ब आकर बिखरे हुए भावसूत्रोंको जैसे अनायास ही केन्द्रीभूत और आलोकित कर जाते हैं। ऐसे ही 'यह पथ बन्धु था' में एक विशेष प्रकारकी आंचलिकता भी है जो सहज स्वाभाविक परिवेशके रूपमें आती है, आक्रामक रूपमें नहीं। वह साधन है, साध्य नहीं। इसलिए रचनाके समग्र प्रभावको बढ़ाती है, उसकी प्रेषणीयताको सीमित नहीं करती।

किन्तु इन सारी बातोंके बावजूद शिल्पके स्तरपर उपन्यासमें कुछेक शिथिलताएँ बड़ी तीव्र हैं। जैसे उपन्यासके अन्तको ही लीजिए। मनुष्यके इतिहासकी व्याख्यासे सम्बन्धित भावुकताका उल्लेख पहले किया गया है। पर वास्तवमें उस चर्चाकी उस स्थलपर सार्थकता ही क्या है ? मूलतः वह अनावश्यक और अनर्गल लगता है, विचारोंकी दृष्टिसे छिछला तो है ही। बल्कि वह उसके ठीक पहलेकी भावतीव्रताको नष्ट कर देता है। इसी प्रकार पूर्वावलोकन (फ़्लैशबैक) पद्धतिका भी बहुत अधिक और अनावश्यक उपयोग हुआ है। या, रातको छतपर बैठकर बिशन जिस प्रकार मालिनीकी कथा सुनाता है वह बहुत विश्वसनीय नहीं लगता। और फिर उपन्यासका काल-प्रवाह! उसमें कई एक भूलें भी हैं, असंगतियाँ भी हैं, और वह प्रायः आरोपित भी लगता है। ऐतिहासिक घटनाओंसे काल्पनिक व्यक्तियों या स्थितियोंको जोड़ते समय बड़ी सावधानीकी आवश्यकता होती है। उसके द्वारा जितनी आसानीसे किसी बातको विश्वसनीय बनाया जा सकता है, उतनी ही आसानीसे पूर्णतः मिथ्या और सन्दर्भहीन भी। इसके प्रति पर्याप्त सजगता इस उपन्यासमें नहीं बरती गयी है।

इसी प्रकार इस उपन्यासकी भाषा, नरेशजीके अपने अन्य लेखनकी तुलनामें बहुत कुछ सुथरी होनेपर भी, कई जगह बहुत खटकती है। क्रियापदों सम्बन्धी कृत्रिमता और अराजकता तो है ही, शिथिल वाक्यांश

और अशुद्ध तथा अनुपयुक्त प्रयोग भी बहुत हैं। इन बातोंके अतिरिक्त उसमें पात्रानुकूल भाषागत यथार्थवादिता बड़ी अजीब लगती है। इसमें कुछ मराठीभाषी पात्र बीच-बीचमें मराठी बोलने लगते हैं; बँगलाभाषी पात्र बँगला हिन्दी या बँगला बोलते हैं; पारसी मिसेज़ ऐलची बम्बइया हिन्दीके अलावा गुजराती बोलती हैं; कुछ बनारसी लोग कभी-कभी भोजपुरी या उसकी हिन्दी मिश्रित खिचड़ी बोलते हैं। इस दृष्टिसे मालवा-के तो सारे पात्रोंको मालवी ही बोलनी चाहिए थी। इस प्रकारके भाषा-गत प्रयोगोंमें न केवल संगति नहीं है बल्कि बीच-बीचमें उनमें बड़ी भूलें भी हैं, विशेषकर बंगाली पात्रोंकी बँगलानुकूल हिन्दीमें। उदाहरणके लिए 'होम आपको बहुत खोजा' में 'होम' सही नहीं है। बंगाली 'हाम' कहता है, 'होम नहीं, क्योंकि बंगलामें 'अकार' का ही 'ओकार' होता है, 'आकारका नहीं। या 'की आपनी श्रीधर बाबू आशेन ?' में 'आशे' या 'आशेन' सही नहीं है। इस तरहके और भी प्रयोग हैं। लेखकको बहुत-से बँगला शब्दों, वाक्यांशों, या सम्भवतः बँगला भाषा या बंगाली मात्रसे कुछ अतिरिक्त मोह है, ऐसा कई प्रकारसे उसकी रचनाओंमें प्रकट होता है। किसी समर्थ अथवा समर्थताकामी लेखकके लिए ऐसा कोई मोह या आग्रह कभी बहुत शोभनीय नहीं हो सकता। वह अनिवार्य रूपसे रचनाके स्तरको गिरा देता है।

फिर भी इस अराजकताके बावजूद कुल मिलाकर 'यह पथ बन्धु था' की भाषामें अपना एक विशेष प्रकारका स्वरूप और सौष्ठव अवश्य है। पूरी शैलीमें एक प्रकारकी पुरानेपनकी गूँज-जैसी है जो कथाके काल और विषयके अनुरूप और अनुकूल होनेके कारण अच्छी लगती है। साथ ही वह आजकलके तीखे, चटक, नुकीले गद्यसे भिन्न है जिसमें कृत्रिम नवीनता-से बचकर, प्रकृत और अछूते जीवनके सोंधेपनका स्वाद है। जहाँ वह प्रयोगात्मकतासे आक्रान्त नहीं है, वहाँ उसमें बड़ी तीव्रता और सघनता भी है और आत्मीयताजन्य निश्छल मार्मिकता भी, जो इतनी विरल होनेके

कारण और भी अनूठी और अनुपम लगती है। एक प्रकारसे इस उपन्यास-की भाषाकी शिथिलताओंकी चर्चा इसलिए अधिक आवश्यक है कि अधि-कांशतः वह इतनी सक्षम और तीक्ष्ण है।

अन्तमें यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि 'यह पथ बन्धु था' उपन्यासके रूपमें साहित्य-सृष्टिके प्रायः प्रत्येक स्तरपर सक्षमताका ही प्रभाव डालता है और हिन्दी उपन्यासकी उपलब्धिके एक नये शिखर-की सूचना देता है। स्वयं नरेश मेहताके अपने कथा-साहित्यमें, विशेषकर 'डूबते मस्तूल' के पाठकके लिए, तो वह एक लगभग अविश्वसनीय सुखद आश्चर्य है। निस्सन्देह वह बड़े सहज भावसे सामाजिक और साहित्यिक अभिव्यक्तिके एक लम्बे युगको रूपायित करता है और अनायास ही अपने भीतर परम्परा और समकालीनताके बीच एक नयी समन्विति, एक नये सन्तुलनकी खोज करता है। उसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरोंपर एक ऐसा आन्तरिक सामंजस्य है जो हिन्दी कथा-साहित्यके एक अभिनन्दनीय आयामका सूचक है।

●●

देवीशंकर अवस्थी

एक टूटा दर्पण *

दिक्कालकी मापमें अघोरनाथने चन्द्रद्वीपकी उपत्यकामें चन्द्रगुहाके पिछले हिस्सेमें उट्टंकित वृत्तकी जो प्रतिलिपि प्राप्त की, उसका काल है ईसाकी बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी और घटना-स्थल है आर्यावर्त—आजका उत्तरी भारत। यों उसमें प्रसंगतः मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, किरात आदि देशोंके रोचक विवरण हैं और केवल प्रसंगतः आ गयी संज्ञाओंसे कुछ अधिक ही हैं। कथामें राजनीतिके दावँ-पेंच हैं; प्रजातन्त्रका जयघोष है, तान्त्रिक और बौद्ध साधनाओंकी मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ हैं; सिद्धोंकी सिद्धियोंका चमत्कार है; गोरखनाथके योगका प्रताप है; पटुनटकलाचपल कृष्णकी लीलाका गान है; सामन्ती समाज-व्यवस्थापर प्रकाश है; रणनीतिकी विवेचना है; देशमें सोनेके रिज़र्व स्टाककी समाप्तिकी घोषणा है और मुद्रास्फीतिकी समस्या है; विदेशी आक्रमण हैं; इसलामकी विशिष्टता भी है और देश-प्रेमकी पुकार भी; आश्लेषमें लिपटी हुई बाहुएँ भी हैं और तलवार भाँजती हुई भुजाएँ भी। इसमें कोटि-वेधी रस भी है और मर्मभेदी दृष्टि भी; अमोघवाक् भविष्यवाणियाँ भी हैं और पृथ्वीसे पराजित होनेवाले ग्रह-नक्षत्र भी। 'चारु चन्द्रलेख' में भारतवर्षकी मोहक प्रकृति—वन, लता, वृक्ष, पुष्प, पर्वत, उपत्यका, चाँदनी, सूर्योदय—है और है कालिदासकी कविता और उस कविताकी व्याख्या। भाषाविज्ञानके विद्यार्थियोंके लिए भी सामग्री है और चीनी आक्रमणके सन्दर्भमें यह भी

* चारु चन्द्रलेख : हजारीप्रसाद द्विवेदी

जानने योग्य है कि शानवंशके प्रतापी राजाओंकी एक लाख सेनाको सिर्फ़ पाँच हज़ार विदेहोंने समाप्त कर दिया था और तिब्बत असलमें हमारा ही है। अस्तु, इसमें अतीतका इतिहास है, वर्तमानके विचार हैं एवं भविष्यके लिए सन्देश है, और इस अर्थमें कालके एक खण्डमें सीमित न रहकर कथा 'त्रिकालव्यापिनी' हो जाती है—त्रिजगन्मनोज्ञा त्रिपुर-सुन्दरीकी भाँति।

देश और कालमें ही नहीं, रूप और प्रकृतिमें भी इतनी फैली-बिखरी सामग्रीको समेटनेवाली कथाके लिए इतिहासके प्रामाणिक स्रोत हैं; कुछ पुराने ग्रन्थोंमें मिलनेवाली कथाएँ, कुछ साधना-ग्रन्थोंके कर्मकाण्ड-सम्बन्धी श्लोक, और दर्शनकी चर्चा करनेवाले ग्रन्थोंके कुछ विचार। इतने क्षीण कथा-सूत्रोंकी वयन-चेष्टा लेखककी शक्ति और साहसका प्रमाण है और उस कल्पनाको बधाई दी जानी चाहिए जो इस असाध्य-साधन-जैसे कार्यके लिए उन्मुख हुई। कथा-तत्त्वकी कमीके सन्दर्भमें यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि कथानक-तत्त्वका यह ह्रास आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंसे भिन्न प्रकृति और कोटिका है। यहाँ कथामें बाह्य वस्तुनिष्ठता बराबर रही है—कथाकी बुनावट अन्तःप्रयाणपर आधारित नहीं है। 'चारु चन्द्रलेख' में द्विवेदीजीकी कल्पना-शक्तिको खुलकर खेलनेका अवकाश मिला है। मुख्य-कथाकी क्षीणताको लेखककी उर्वर कल्पनाने अनेक ऐतिहासिक प्रसंगों, प्रसंगच्युत रोचक कथाओं, प्रकृति-सुषमा, उद्बोधनात्मक विचारों आदिसे पृथुलतामें परिवर्तित करने-की चेष्टा की है। अस्तु इस चेष्टामें कल्पना भागती गयी है—बग़ैर शिल्पपर विचार किये, ठोस परिस्थितियोंपर विचार किये, कथाकी सम्भावनाओं, प्रतीतियों एवं मूल्य-सत्तापर विचार किये। कल्पनाने पीछे मुड़कर नहीं देखा कि कितनी धरती वह रौंद आयी है—ठीक अपने नायक सातवाहनके समान, जो भटक जानेपर अलहनासे कहते हैं, "लौटना कठिन है। लौट नहीं सकते। लौटना क्रिया ही ग़लत है।

कोई नहीं लौटता। कभी नहीं लौटा जाता। लौटना निरर्थक पद है !····
तुम नहीं जानते अलहना, बिना सोचे-समझे बहुत दूर बढ़ गया हूँ।
पीछेका रास्ता मिटता जा रहा है, आगेका सूझ नहीं रहा···।" लगता
है कि उपन्यासमें भी इसी प्रकार 'मंगोलिया' या 'तिब्बत'-जैसी अनेक
यात्राएँ व्यर्थमें भटकाकर सम्पन्न करा दी जाती हैं। पीछेका तमाम
गड्ड-मड्ड होता जाता है, एक स्पष्ट, साफ़ और संगत तसवीर नहीं
उभरती। उपन्यासके अन्तमें आकर तमाम दर्शन, व्याख्याएँ, चेष्टाएँ
प्रणय-प्रसंग सब डूब जाते हैं—एक अन्धकारमें। वह अन्धकार है
इतिहासके इस प्रखर यथार्थका कि वह युग असफल है, वन्ध्य है। इस
बातके अतिरिक्त लेखक जो कुछ कहना चाहता है वह प्रसंगानुकूल नहीं
बन पाता या फिर 'जनवाद' आदिकी 'थीमें' अधकचरी, अर्धभुक्त तथा
वायवी बनी रह जाती हैं। अन्तिम अध्यायकी ट्रैजेडी अवश्य कुछ-न-कुछ
संकेतित कर जाती है, उस पूरे युगकी व्यर्थताको। वहाँ क्रिया-शक्ति
मैना मृतप्राय है, इच्छा-शक्ति रानी चलनेमें पंगु है तथा बोध-शक्ति
बोधा भयभीत और पलायनशील है। त्रिपुरकी इस ट्रैजेडीको लेखक एक
सीमा तक झेल सका—उसने 'कामायनी'-जैसा कोई काल्पनिक समाधान
देकर विश्रान्तिका अनुभव नहीं करना चाहा—लेखकको रोमैण्टिक
कल्पनाके लिए इतनी शक्ति और यह सफलता भी गणनीय मानी जानी
चाहिए। हमारे साहित्यकारकी यथार्थ दृष्टि गहरी हुई है—इससे इतना
संकेत तो मिलता ही है। पर जितने बड़े कैनवसमें जितनी बड़ी बात
व्यंजित करनेकी चेष्टा की गयी थी, वह सफल नहीं होती।

अस्तु, कथाके जिस कच्चे मालकी ओर हम ऊपर संकेत कर आये हैं
उसे सरसरी तौरपर भी देखकर इतना तो कहा ही जा सकता है कि
वह हीन नहीं है, शक्तिकी सम्पूर्ण सम्भावनाओंसे युक्त है और स्थूल
घटनापरकतासे लेकर उच्चतम बौद्धिक विचारणाओंके लिए सक्षम है।
इन तथ्योंके माध्यमसे जो थीम उभरेगी उसे सबल होना चाहिए। पर

एक दूसरी बात, जो यहाँ याद रखनी होगी, यह है कि ये तथ्य तो अरूप हैं, निष्क्रिय हैं; इनके लिए दृढ़ कथा-सूत्रमें विविध वस्तु-सम्बन्ध होने चाहिए। पर लगता है कि मूलतः लेखकसे चूक इसी बिन्दुपर प्रारम्भ होती है। कथाके अन्तर्गत संगत वस्तु-सम्बन्धों (ऑब्जेक्टिव-कोरिलेटिव्स) की खोज वस्तुतः शिल्पकी खोज है और द्विवेदीजीके मनमें शायद कहीं यह विद्यमान है कि कथ्य—यानी विचार या भाव—महान् होना चाहिए; शेष सब गौण है। इस दृष्टिकोणके कारण सम्पूर्ण कथा-सामग्रीसे अपनेको तटस्थ कर वे शिल्पके माध्यमसे उसका विश्लेषण और विकास नहीं कर सके; उसकी तमाम निहित सम्भावनाओंका अन्वेषण भी नहीं कर सके तथा जो सबसे अधिक आवश्यक कार्य था, उसका मूल्यांकन—वह भी नहीं हो सका। यह कार्य शिल्पके माध्यमसे ही सम्भव होता है और मेरा यह आरोप है कि लेखकको शिल्पके द्वारा अपनी सामग्री या विषय-वस्तुकी जो परिचर्या करनी थी, वह नहीं कर सका। इसे निष्ठाका अभाव भी कहा जा सकता है। परिणामस्वरूप प्रस्तुत उपन्यासमें कच्चे मालका जिस परिणत कथावस्तुमें रूपान्तरण होता है, वह सन्दिग्ध है। एक महत्त्वपूर्ण समीक्षक-द्वारा लिखे जानेवाले उपन्यासमें यह अनवधानता कुछ विचित्र-सी लगती है। इसीलिए यह सन्देह करना बहुत अनुचित न होगा कि लेखकने जो कुछ कहना चाहा है, उसका एक बहुत बडा अंश उसके अपने 'प्रामाणिक' अनुभवका अंग नहीं है—विचार और पाण्डित्यका भले ही हो। परिश्रमपूर्वक की गयी ऐतिहासिक खोजोंसे प्राप्त घटनाओं, दृश्यों, कथाओं आदिको उपन्यासकारने अत्यन्त वैयक्तिक व्याख्या देनेकी चेष्टा की है। इस प्रयत्नमें जो ढाँचा खड़ा हुआ है उसमें 'शोध' और 'व्याख्या'का विचित्र मिश्रण हो गया है। इस ढाँचेको देखकर किसी रिसर्च-प्रोजेक्टकी संवेदनशील रिपोर्ट याद आ जाये तो अस्वाभाविक न होगा। यह तथ्य भी इसी बातकी ओर संकेत करता है कि कथाके एक बड़े अंशकी अनुभवगत 'प्रामाणिकता' सन्दिग्ध है—अगर

असन्दिग्ध है तो पाण्डित्यका विलास। अस्तु, इस अन्तर्योजना (स्ट्रक्चर)की जो बुनावट है उसमें एक ओर तो इतिहासकी घटनाओं, शब्दों, पिछले विचारकोंके कार्यों, मन्दिरों, मठों, संस्कारों, कर्मकाण्ड-विधियों आदिकी अद्भुत आग्रही प्राचीनतावादी दृष्टि है और इन्हीं 'परिस्थितियों'के घात-प्रतिघातमें पात्रोंके स्वभावको ढलता दिखाया गया है; और दूसरी ओर इनके 'परिणाम' चित्रित करनेमें द्विवेदीजी एक आत्मनिष्ठ द्रष्टा बन गये हैं। इस प्रक्रियामें उन्होंने जिन चित्रोंको ऐतिहासिक यथार्थकी पूरी वास्तविकताके साथ स्थापित करना चाहा था, उन्हींपर एक नयी और नितान्त काल्पनिक डिज़ाइन थोप दी है। यह डिज़ाइन है आधुनिक विचारों एवं व्याख्याओंकी। इस प्रसंगमें अपने देशके उन पुनरुत्थानवादी प्रचारकोंकी याद आती है जो हर पुरानी रीतिकी कोई-न-कोई वैज्ञानिक व्याख्या ढूँढ़ निकालते थे—कानमें जनेऊ चढ़ानेसे लेकर पैरमें बिछिया पहनने तक। अस्तु, इस योजनाके परिणामस्वरूप कथाका स्वरूप-गुण अनाटकीय, स्थित्यात्मक एवं निष्कर्षवादी हो गया है।

इसे यों भी कहा जा सकता है कि इस उपन्यासकी कथा-पद्धति चित्र-समीक्षककी प्रणाली-जैसी है। पात्रोंको अतीतकी गैलरीमें निश्चित चित्रों-की भाँति उनके निश्चित स्थानोंमें टाँग दिया जाता है और परवर्ती इतिहासके आलोक-बिन्दुपर खड़े होकर उनकी समीक्षात्मक परीक्षा की जाती है और अन्तिम भागमें पुनः सबको उतारकर उनके वास्तविक स्थान—असफलताके अन्धकार—में भेज दिया जाता है। विद्याधर, धीर शर्मा, अक्षोभ्य भैरव, अमोघवज्र, बोधा, नाटी माता, रानी चन्द्रलेखा आदि ऐसे ही पात्र हैं जिन्हें राजा सातवाहन-रूपी कला-समीक्षक—जो कि कथाका नैरेटर भी है—परखता जाता है और अपनी टिप्पणियाँ देता जाता है। इन पात्रोंकी पारस्परिक तनाव-प्रतिक्रिया पूरे उपन्यासमें नगण्य है—मैना अवश्य इस दिशामें अपवाद है। इस पद्धतिका परिणाम यह हुआ है कि अभिप्रेतता (मोटिवेशन्स) और संवादोंका योग चरित्र-विकास-

में कम है ही—प्रमुख कथानकका भी इस कार्यके लिए उपयोग कम ही हुआ है। मोह-साधना, चन्द्रलेखाके जन्मका परिचय, जयित्रचन्द्र-चन्देल-कन्या-प्रणय-प्रसंग, चन्द्रलेखाके विक्षुब्ध चित्तसे उत्सारित सिद्ध-चमत्कार, अमोघवज्रका सातवाहनके सम्मुख वक्तव्य आदि जिन इतर कथाओं और वक्तव्योंका योग मुख्यत: वातावरणको सघन बनानेमें होता है, उन्हींका आरोपण या आवेश चरित्रोंपर भी हुआ है। इसी कारण पूरे उपन्यासमें यदि कोई दृष्टिबिन्दु है तो वह इस वातावरणमें ही देखा जा सकता है, चरित्रोंकी सत्तामें नहीं। वे या तो नितान्त भावुक प्रतिक्रियाएँ करते हैं, या फिर कुछ अरूपताओंके उदाहरण बन जाते हैं।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट है कि हजारीप्रसादजीकी कथा-कल्पनाकी सारी कठिनाई उस द्विधा-विभक्तिकी है जिनमें वे अतीतके प्रति प्रामाणिक बने रहते हुए भी पूरेके पूरे वर्तमान समाजका रूपान्तरण भी करना चाहते हैं। अपने सामयिक बोधके आधारपर अतीतको देखना एक बात है और अतीतकी ऐसी व्याख्याकी चेष्टा कि जिसमें पूराका पूरा वर्तमान वहीं प्रतिष्ठित हो जाये—गुणात्मक रूपसे भिन्न, दूसरी बात है। यह तो मैं नहीं कहूँगा कि यह कार्य असम्भव है—बड़ी प्रतिभा सदा असाध्य-साधन करती आयी है—पर यह अवश्य कहूँगा कि इस चेष्टामें कथाका सारा ढाँचा चरमरा उठा है। या प्रतिभा आदिकी चर्चा न करके यह कहूँ कि इतने बड़े लक्ष्य तथा फलकके लिए जिस प्रकारकी कला-दृष्टि और कथा-संगठनकी अपेक्षा थी, वह सम्भव नहीं हो सका। कथाका सारा ढाँचा चरमरा ही नहीं उठा है, वर्तमानके रूपान्तरणके नामपर एक प्रकारका अरूपीकरण (ऐब्स्ट्रैक्शन) प्रमुख हो गया है।

किसी भी ऐतिहासिक कथाकारके लिए यह याद रखनेकी बात होती है कि चाहे इतिहासकी घटनाएँ हों या धर्मों, राष्ट्रों अथवा व्यक्तियोंकी नियतियाँ हों, उनका एक स्वाभाविक, वस्तुनिष्ठ वज़न होता है और एक साथ ही एक प्रकृत और वस्तुनिष्ठ अनुपात भी। यदि लेखक ऐसी कथा

लिखनेमें सफल होता है,जो कि ठीकसे इन सम्बन्धों और अनुपातोंको उत्पन्न करती है तो ऐतिहासिक सत्यके परिपार्श्वमें मानवीय और कलात्मक सत्य अपने-आप उभर आयेगा। पर यदि उनके वज़न और अनुपातको विरूप किया गया तो कलात्मक चित्र भी उतना ही विरूप हो जायेगा। जनपद-पार्वती चन्द्रलेखाका सिद्धयोगिनी चन्द्रलेखामें जो संक्रमण है, वह ऐसे ही विरूपीकरणका उदाहरण है। मनुष्यके रोग-शोक, कष्ट-दुःख, युद्ध-हिंसा आदिके किसी वस्तुनिष्ठ वज़न और अनुपातकी कोटियोंकी रक्षा किये बिना यह जो धर्म-परिवर्तन है वह चोट पहुँचाता है—केवल पाठक-को ही नहीं, जातिकी उस सम्पूर्ण वेदनाको भी जिसे इस रूपान्तरणके लिए आधार बनाया गया है। कहना न होगा कि कला या शिल्पकी दृष्टिसे भी यह उपन्यासके सबसे कमज़ोर अंशोंमें-से है। वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टिकी कमज़ोरी पूरे कलानुभवकी कमज़ोरी है, और कलानुभवकी कम-ज़ोरी पूरे शिल्पकी कमज़ोरी है।

इस पहचानकी प्रशंसा की जानी चाहिए कि लेखकने अपनी कथाके लिए जिस दिक्कालको चुना, वह वर्तमानके प्रक्षेपणके लिए बहुत-कुछ उप-युक्त प्रतीत होता है। यह हमारे इतिहासका एक ऐसा अन्ध-युग है जिसमें नाना प्रकारकी अपरिभाषित परिस्थितियोंकी भरमार है। इन अपरिभाषित परिस्थितियोंमें एक बड़ी सीमा तक इतिहासके वातावरणकी प्रामाणिकता-को खण्डित न करते हुए भी काल्पनिक कथाकी तरलताको अधिक मनमाने ढंगसे ढालनेकी सम्भावनाएँ अधिक थीं। पर यह रूपान्तरण जीवन्त तभी हो सकता था जब कि कथाकी अन्तर्योजना और बुनावटके अन्तर्गत ठोस मानवीय स्थितियोंको सिरजा जाता और ये स्थितियाँ इतिहासकी कोटियों-के भीतर बनी भी रहतीं। मुझे लगता है कि प्रस्तुत उपन्यासमें इन मान-वीय परिस्थितियोंका जीवन्त रूपायन नहीं हो सका—वर्णन भले ही हो। अतीत और वर्तमानके मध्य लेखक जिस सम्बन्ध-सूत्रको जोड़ता है वह अत्यधिक प्रत्यक्ष है, अत्यधिक बौद्धिक है, तथा अत्यधिक सामान्यीकृत है।

देखिए, रानी चन्द्रलेखा यह भाषण दे रही है: "महाराज, सैनिकोंमें उत्साह है, यह शुभ लक्षण है, परन्तु मैं जानना चाहती हूँ कि साधारण प्रजा क्या सोच रही है! मैं ग्रामबालिका हूँ। जनपदके लोगोंको जानती हूँ। उन्हें इन युद्धोंसे भय होता है, वे इस राजा या उस राजाकी जीत भी चाहते हैं, परन्तु समूचे देशको अपना समझकर समयोचित उपचार वे नहीं जानते। उनमें प्रतिरोधकी भावना ही नहीं होती। वे समझते हैं, राज्य राजाका होता है। एक राजा जीतता है, दूसरा हारता है। जो जीत गया उसका राज्य होता है। केवल सैनिक बल ऊपर-ऊपरका बल है। कुछ ऐसा होना चाहिए कि इस जीत या हारको प्रजा अपनी जीत या हार समझे। युद्ध हो, दूसरा उपाय नहीं है, पर युद्धका उद्देश्य बड़ा होना चाहिए। आप लोग इसके लिए क्या कर रहे हैं?" क्या इस उद्धरणको पढ़नेके बाद भी यह बतानेकी आवश्यकता है कि यह सिद्धान्त-कथन है, सामान्यीकरण है; कि इस सिद्धान्तका रूपान्तरण ठोस मानवीय-सम्बन्धोंकी इकाइयोंमें नहीं हो सका है। रूपान्तरण यदि कोई होता है भी तो ठण्डे सिद्धान्त कथनका उष्ण वाक्स्फोतिमें। देखिए: "वीरो, पश्चिम द्वारके कपाट-रूप शाकम्बरी-नरेश पृथ्वीराज समाप्त हो गये, उत्तरापथके एकच्छत्र सम्राट् दलपंगुर महाराज जयित्रचन्द्र बालूको भीतकी तरह ढह गये और प्रबल पराक्रमी चन्देल नरेश परमर्दिदेव विदेशी आक्रमणकी आँधीमें कूलद्रुमकी भाँति भहरा गये।

"इतनी बड़ी पराजयके बाद किस बलपर अवन्तिकाके क्षीणबल राजा सातवाहन दुर्गतिग्रस्त प्रजाकी रक्षाका साहस कर सकते हैं? चारों ओर केवल अन्धकार ही अन्धकार दिखाई दे रहा है। महामन्त्री विद्याधर भट्ट अपनी अगाध विद्याका अभिमान खो चुके हैं। मृतकोंमें भी प्राण-संचार करनेवाले जगन्नायक भट्ट वीर छन्दोंमें लिखी ओजस्वी कविताका अभिमान छोड़ चुके हैं। समस्त शास्त्रोंको हस्तामलककी भाँति देखनेवाले धीर शर्मा अब सब ओरसे निराश होकर असुर-शिर:सरोवर-विहारिणी चण्डिकाके

चरण-कमलोंकी ओर उन्मुख हो गये हैं। सर्वत्र निराशा और हतदर्पिताका भाव छा गया है। ऐसे अवसरपर इस पवित्र भूमिकी रक्षाके लिए कौन-सा उपाय सोचा जाये? वीरो, राजाओंका युद्ध समाप्त हो गया। अब कहीं आशा है तो प्रजाकी संगठन-शक्तिमें है। मैं तुम्हें उसी शक्तिको उद्बुद्ध करनेके लिए आमन्त्रित करती हूँ। वीरो, रणक्षेत्रके लिए प्रस्थान करो, तुम्हारी संख्या बहुत कम है, तुम्हारे पास युद्ध करनेकी सामग्रीका अभाव है, किन्तु रानी चन्द्रलेखा तुम्हें आश्वासन देती है कि तुम्हें निराश नहीं होना पड़ेगा, मैं तुम्हारे पीछे प्रजा-वर्गको संगठित करने जा रही हूँ। वीरो, सच्चे धर्मके लिए लड़ो। हार और जीत इतिहास-विधाताके इंगितके अनुसार होती है।" यह छठे अध्यायका अन्तिम अंश है। और सातवें अध्यायका वाक्य प्रारम्भ होता है—"रानीकी योजना चरितार्थ हुई। समस्त मालव जनपदमें एक अद्भुत नवजीवन जाग उठा। शत्रुको लौट जाना पड़ा।" यह अंश पुनः एक अरूप कथन है, जीवन्त कोटियोंमें रूपायन नहीं।

वस्तुतः ऊँच-नीच, धर्म-सम्प्रदाय, कुल-मिथ्याभिमानको मिटाकर जिस जनतान्त्रिक मानवतावादको वह मुख्य कथ्यके रूपमें स्वीकार करता है, उसके प्रति एक ऊँचे 'ऐब्स्ट्रैक्शन'के स्तरपर लेखक अभिमुख होता है। परिणाम-स्वरूप कथाकी तमाम चारित्रिक इकाइयाँ और घटनाएँ अरूप हो जाती हैं। 'चारु चन्द्रलेख' के प्रारम्भको लें—उपन्यासका प्रारम्भ ही विदेशी आक्रमणकी एक कथित अरूप स्थितिसे होता है, जिसमें नायक एक अरूप व्यक्ति सीदी मौलाको ढूँढ़ने निकलता है। फिर रानीसे मिलन, विवाह आदि एक अठोस, अरूप वातावरणमें ही सम्पन्न होते हैं। यह अरूपता कहीं नागनाथकी तपस्याके वर्णनमें है, कहीं नारीके बत्तीस लक्षणोंकी व्याख्यामें झमाझम निकलनेवाले श्लोकोंके रूपमें और कहीं विद्याधरके ओजस्वी व्याख्यानके रूपमें। विदेशी आक्रमणके 'ऐब्स्ट्रैक्शन' की परिणति जनताको जगानेकी जिस योजनामें होती है, उसकी चर्चा भी हम ऊपर कर

आये हैं। इस अरूपता तक ही बात सीमित नहीं रहती—इसके आगे गधैयातालके प्रसंगमें जिस पाण्डित्यका प्रदर्शन है, वह इस अरूपताको और अधिक वायवी बना देता है। राजा और रानी ही नहीं, विद्याधर, बोधा, गोरख, अमोघवज्र, सोदी मौला, सभी इसी प्रकारके बौद्धिक रूपसे 'ऐब्स्ट्रैक्ट' और आदर्शीकृत पात्र हैं। ये पात्र जीवन कम जीते हैं, दर्शन या विचारको अधिक जी लेते हैं। कारण शायद यही है कि ये पात्र लेखकके अपने उन आधुनिक मानवतावादी विचारों तथा जनतान्त्रिक आदर्शोंके विग्रह हैं जिन्हें वह स्वयं स्वीकार करता है या जिनके लिए संघर्ष करना श्लाघ्य समझता है, परन्तु ये सभी स्वयं उसके लिए वर्तमान सन्दर्भमें 'ऐब्स्ट्रैक्ट' ही हैं। फलतः ऐतिहासिक अनुभवकी तात्कालिकता इन पात्रोंसे तिरोहित हो जाती है; क्योंकि जीवनमें ये समस्याएँ बिखरी और छिटपुट होती हैं तथा एकदम वैयक्तिक रूपोंमें प्रकट होती हैं, जिन्हें ये पात्र सामान्यीकृत करके एक ऊँचे बौद्धिक स्तरपर अभिव्यक्ति देते हैं। और इस प्रकार यह बौद्धिक सामान्यीकरण ऐतिहासिक चरित्रको कमज़ोर करता है।

तात्कालिक इतिहासानुभवकी बौद्धिक परिणतिका रास्ता इतना सँकरा, छोटा और अरूप है कि सम्पूर्ण प्रक्रिया राजा सातवाहन-जैसे एक व्यक्तिमें घटित होने लगती है। परिणामस्वरूप यह तात्कालिक अनुभव अपनी उसी विस्तृति और अनेकरूपतामें उन पात्रों-द्वारा नहीं भोगा जाता जिनके पास सामान्यीकरणका यह व्यापार नहीं है। विदेशी आक्रमण या धर्म-साधनाओंके प्रति इन पात्रोंकी प्रतिक्रियाको लेकर इस बातको देखा जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यासमें विदेशी आक्रमणके प्रति विभिन्न पात्रोंको प्रतिक्रियाओंमें न वह विविधता है और न बहुरूपता, जो प्रत्येक पात्रकी सीधी, निजी प्रतिक्रियासे उत्पन्न होती है। फलतः युद्ध-द्वारा उनकी ज़िन्दगियोंको जो परिणति होती है, वह उनकी भावनाओं और अनुभवोंमें व्यंजित नहीं होती। जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं उनमें कोई गुणात्मक परि-

वर्तन नहीं लगता। इसीके सन्दर्भमें तॉलस्तॉयके उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' के फ्रेंच आक्रमणको लिया जाये तो स्थिति इसके विपरीत दिखाई देती है।

यही नहीं, 'चारु चन्द्रलेख' में इस सँकरे रास्तेको और सँकरा कर दिया गया है, आत्म-कथात्मक पद्धतिके द्वारा। राजा यहाँ नायक भी है और 'नैरेटर' भी; अतः सारी प्रतिक्रियाओंका बोझ उसे ही सँभालना पड़ा है। हर स्थान और हर परिस्थितिमें उसे एक समुचित ऐतिहासिक प्रतिक्रिया देनी पड़ती है। प्रतिक्रियाओंका इतना बोझ सामान्यीकरणके लिए विवश करता है। इस प्रकार अनुभव और सामान्यीकरणके मध्यका संक्रमण-पथ और अधिक संकीर्ण हो जाता है; तथा जिन स्थानोंमें, यथा विष्णुप्रियाके आश्रममें मैना और बोधाकी बातचीतके समय, या विद्याधरसे अतीतकी घटनाओंको सुनते समय (जब वह प्रतिक्रिया नहीं करता, मात्र अनुभव करता है) उन स्थानोंमें उसका चरित्र अपने ही स्तरसे नीचे गिर जाता है। क्योंकि प्रारम्भसे ही उसने 'ऐब्स्ट्रैक्शन' के माध्यमसे ही अपनी हैसियतको बनाये रखा है। वस्तुतः यहाँ जो पदार्थ खोये हुए हैं वे हैं अस्तित्वके ठोस तथ्य—और केवल वे ही लेखकको बता सकते हैं कि किसी युगके किसी पात्रके विचार, अनुभव या संवेदनाएँ क्या हो सकती हैं। इसका परिणाम है कि इन पात्रोंके आन्तरिक मानसिक जीवनके उद्घाटनमें भी किसी प्रकारकी वस्तुनिष्ठता या तीखी चरित्रवत्ताकी स्थापना नहीं हो सकी। हम कह चुके हैं कि राजा सातवाहनको 'नैरेटर' का पद देकर उसे एक ऐसा ऐतिहासिक दायित्व सौंप दिया गया है कि वह अपनी प्रतिक्रियाओंके माध्यमसे उन चरित्रोंकी बात बता दे। वह एक ऐसा 'कार्डियोग्राम' है जो अन्य हृदयोंकी धड़कनोंके 'ग्राफ़' अंकित करता चलता है। इस प्रक्रियामें उसका अपना कोई क्रियाशील व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता। वह तो हर 'प्रभाव' के लिए खुला है; और जहाँ हर प्रभावके प्रति खुलापन होता है, लगता है कि वहाँ अन्ततः कोई प्रभाव ही नहीं रह

जाता। राजाका यह कथन स्वयं इस बातका प्रमाण है, "हम तीनों (राजा, रानी और विद्याधर) के तीन लक्ष्य थे जो थोड़ी दूर तक एक रास्तेसे चलनेपर मिल जाते थे। इसी बीच मिले बोधा, विद्याधर भट्टके अनुगत, मुझे सहायक समझनेवाले। मिली मैना, रानीकी प्रिय सहचरी, पर उनकी साधनासे एकदम असहमत। वह मुझे सहायकके रूपमें नहीं ग्रहण करती। उसने न जाने कैसे और क्यों अपनेको मेरा रक्षक मान लिया। बाधा मैंने किसीको नहीं दी।

"मुझे इन विभिन्न लक्ष्यके यात्रियोंको साथ लेकर चलना है। कभी-कभी मैं स्वयं अपना प्रतिवाद सिद्ध हुआ हूँ। रानी मुझसे भी अधिक सिद्ध हुई है। विद्याधर भक्त दृढ़ हैं। मैना भी सुना है, दृढ़ है। विचित्र योग है। राजा और रानी दोनों ही स्वतोविभक्त हैं, जो लोग अपनेको उनका अनुगत मानते हैं, वे दृढ़ हैं।" करे भी वह क्या! कर्तृत्व-शक्ति उसने मैनाको दे रखी है और इच्छा-शक्ति रानीको तथा बोध-शक्ति शायद बोधाको। वह तो माध्यम हो जाता है दूसरोंके विचारों तथा भावनाओं-का। रानीके मानसिक जगत्के उद्घाटनके लिए लेखकने मनोविज्ञानकी अपसारण-प्रक्रियाको अपनाकर जो लेख लिखवाया है उससे वस्तुतः रानीके चेतना-प्रवाहका पता कम लगता है, कथानकको फैलाने, साधनाओंका परिचय देने, सिद्धियोंका चमत्कार बताने, दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ देनेका कार्य अधिक लिया गया है। और इस प्रकार इस आलेखका उपयोग कथाके वातावरणको अधिक सघन और सान्द्र बनानेमें किया गया है। प्रसंगतः एक बात याद आती है कि द्विवेदीजीने कहीं लिखा था कि आधु-निक उपन्यासकार यथार्थवादसे भयभीत हैं। द्विवेदीजी स्वयं भयभीत होकर चन्द्रलेखाके इस लेखमें वर्णित चमत्कारोंको एक समसामयिक विश्व-सनीय आधार देनेके लिए अमोघवज्रसे कहलाते हैं कि यह सब "चन्द्रलेखा-के भयत्रस्त चित्तके विक्षोभसे निकली अद्भुत सिद्धि-कथाओंका श्रवण" है। पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ, इस वर्णनसे पात्रकी आन्तरिकताके

बजायं कथाके वातावरणका ही स्पष्टीकरण अधिक हुआ है। अरूप सिद्धान्त-कथन, 'एब्स्ट्रैक्ट' प्रतिक्रियाओंसे अलग जीवन्त मानसिकता जिस पात्रमें मिलती है, वह है क्रियाशक्तिकी प्रतीक मैना। क्या इससे यह न समझा जाये कि वस्तुनिष्ठ कर्मशीलता ही वास्तविक रूपसे मानसिक जीवन को समृद्ध करती है? मैनामें तीव्र संवेदना है, पर वह संवेदना प्रतिक्रिया-शील न होकर क्रियाशील होनेकी है—क्रियाशील जीवन्त मानवीय इकाईके रूपमें। सम्भवतः इसी कारण सारे अरूप सिद्धान्त-कथन करने-वाले पात्र उसके सम्मुख हतप्रभ हो उठते हैं। राजा, सीदी मौला, विद्याधर, यहाँतक कि बोधा भी उसके तर्ककी चोट सँभाल नहीं पाते। कारण यही है कि वह समस्याओंका अरूपीकरण नहीं करती, उन्हें सीधे मुँह पकड़ती है। वस्तुतः समस्त उपन्यासका सर्वाधिक जीवन्त और सम्भावना-समृद्ध पात्र यही है और जितने अंशोंमें वह कथामें रहती है उसे अनुभवकी 'प्रामाणिकता' भी दिये रहती हैं, साथ ही मानवीय-साक्षात्कारकी ऊष्मा भी। और यह आश्चर्यकी ही बात है कि बात-बात-पर उच्छ्वसित होकर वाक्स्फीतिके विलासमें निमग्न रहनेवाले द्विवेदीजी इस पात्रके मानसिक द्वन्द्वके चित्रणमें कहीं अधिक संयमशील दिखते हैं—लगता है कि पात्र अपने निर्मातासे बड़ा हो गया है। जहाँ बोधासे महाराज-सम्बन्धी अपने अनुराग और नैतिक द्वन्द्वकी चर्चा करती हुई वह बोधासे अनुरोध करती है कि वे नारी-विग्रह-रूपी फूलको आत्मदानके गंगाजलसे रोक लें, वही उपन्यासका सबसे अधिक अनुभूत्यात्मक अंश है। मुझे लगता है कि यह एक ऐसा पात्र था जिसके माध्यमसे लेखककी उद्दिष्ट 'थीम', राष्ट्रकी नियति, अधिक शक्तिके साथ उजागर की जा सकती थी। यद्यपि लेखक उसकी समस्त सम्भावनाओंको भास्वर नहीं कर सका और एक प्रकारके रोमैण्टिक शरच्चन्द्रीय प्रेममें उसकी परिणति हो जाती है; परन्तु इसके बावजूद उसमें जिन सम्भावनाओंका बीज प्रारम्भसे ही पड़ गया था वे मरते-मरते राष्ट्रकी नियतिसे भी अप्रत्यक्ष रूपसे जुड़ जाते हैं।

अन्ततः उस युगकी असफलताके चित्रमें उसके दोनों कार्य—शाहको मारना और स्वयं मरना—अन्तिम कारण बनते हैं पर जिस आत्मकथात्मक शिल्पको लेखकने अपनाया था उसमें इससे अधिककी सम्भावनाएँ कम दिखती हैं।

आत्मकथात्मक शिल्पकी सीमाओंकी ओर कुछ इंगित मैं पहले भी कर चुका हूँ। यहाँपर इस सन्दर्भमें 'बाणभट्टकी आत्मकथा'का स्मरण स्वाभाविक भी होगा और संगत भी। वह इसलिए कि इसके द्वारा प्रस्तुत उपन्यासकी असफलताको और अच्छी तरह समझा जा सकेगा। इसके अतिरिक्त जब मैं यह सवाल करता हूँ कि 'चारु चन्द्रलेख'-जैसे उपन्यासमें, जो कि एपिक-अभिप्रायोंको लेकर चला है, आत्मकथात्मक शिल्प क्यों अपनाया गया, तो तत्काल जो बात दिमाग़में आती है, वह यह कि एक बार 'बाणभट्टकी आत्मकथा'में उसने इस शिल्पको सिद्ध करनेमें अद्भुत सफलता प्राप्त की थी—अतः प्रस्तुत उपन्यासके लिखनेके समय भी अपने परिचित औज़ारका सहारा लेना स्वाभाविक हो जाता है। यह बात इस तथ्यसे भी समर्थित की जा सकती है कि 'चारु चन्द्रलेख'का प्रारम्भ 'बाणभट्टकी आत्मकथा'के तत्काल बाद, काफ़ी दिनों पहले, हो गया था। फिर शायद कथा अधूरी पड़ी रही और उसे पूरा १९६०-६१ में किया गया। उन दिनों इस शिल्पको अपनानेमें और अधिक आसानी हुई होगी। आत्मकथात्मक शैली रोमैण्टिक चेतनाके अधिक अनुकूल होती भी है—अपनी आत्मनिष्ठताके कारण। इस सम्बन्धमें दोनों कृतियोंकी कुछ तुलनाको उपादेय होना ही चाहिए।

दोनों उपन्यासोंकी भूमिकामें व्योमकेश शास्त्रीने यह विश्वास दिलाना चाहा है कि कथा नहीं लिखी जा रही है बल्कि कहींसे प्राप्त दस्तावेज़ोंको प्रस्तुत किया जा रहा है। परन्तु 'चारु चन्द्रलेख'में इस घोषित रूपकी रक्षा नहीं की जा सकी और उपसंहारमें समीक्षक-लेखक कथाकी 'प्रामाणिकता' के विषयमें उठी शंकाओंका किसी-न-किसी प्रकार समाधान प्रस्तुत करता

है—यह कहकर कि बहुत-सी बातें अघोरनाथ (जो आधुनिक विचारोंके, पुरानी परिपाटीमें शिक्षित, सिद्ध हैं) के समाधिस्थ चित्तमें प्रतिफलित हुई हैं। 'बाणभट्टकी आत्मकथा' के उपसंहारमें भी कुछ शंकाएँ उठायी गयी हैं: पर ध्यान देनेकी बात है कि वहाँ शिल्पपर शंका नहीं है—शंका है 'कादम्बरी' और 'आत्मकथा' के भावगत अन्तरको लेकर। 'बाणभट्टकी आत्मकथा' का शिल्प जो अधिक कसा हुआ लगता है वह इसलिए कि अपनी विषय-वस्तुके प्रति पूरी तरह उन्मुख और तत्पर है। यों वाक्स्फीति, प्रसंगान्तर पाण्डित्य-प्रदर्शन, दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं और वक्तव्योंके, 'ऐब्स्ट्रैक्शन', आदर्शीकृत पात्र-योजना, भावुकता आदि जितने भी दोष 'चारु चन्द्रलेख' में हैं वे सभी 'आत्मकथा' में भी विद्यमान हैं। पर इसके बावजूद 'आत्मकथा' महत्त्वपूर्ण और सफल कलाकृति है तथा 'चारु चन्द्रलेख' अपनी असफलतामें महत्त्वपूर्ण। मुझे लगता है कि 'आत्म-कथा' मुख्यार्थके जिस स्तरपर घटित होती है उसकी परिधि सीमित वैयक्तिक-पारिवारिक इकाईकी है। राजनीति इस पारिवारिक-वैयक्तिक अर्थको पुष्ट-मात्र करती है। राष्ट्रकी नियतिका प्रसंग वहाँ अमुख्यार्थ रहता है; जब कि 'चारु चन्द्रलेख' में राष्ट्र या जनकी नियति मुख्यार्थ है जिसे कि वैयक्तिक-सीमित दायरेको कथाके माध्यमसे व्यंजित करनेकी चेष्टा की गयी है। कथामें बलके इस बदलावके होते हुए भी लेखकने शिल्प वही रहने दिया है। यहाँतक कि तमाम कथानक-रूढ़ियों और घटनाओंके पैटर्न ज्योंके त्यों विद्यमान हैं। एक कविकी आत्मकथामें उन बहुत-सी बातोंका औचित्य सिद्ध हो जाता है जिन्हें कि 'चारु चन्द्रलेख'में औचित्य-हीन माना गया है। आत्मनिष्ठ द्रष्टाकी तमाम व्याख्याएँ, प्रकृति, मानव-शरीर, देवमूर्ति आदिकी स्फीत ऐन्द्रिक-चाक्षुष प्रतिक्रियाएँ आदि 'आत्म-कथा'में भी चित्रित हुई हैं जिनका कि औचित्य उस कवि-नायकके सन्दर्भमें है, जिसका राजनीतिके सक्रिय घटनाचक्रमें पड़ना एक आकस्मिक संयोग मात्र है। 'चारु चन्द्रलेख' के नायककी नियति दूसरी है—पर खेद

है कि उसकी प्रकृति दूसरी नहीं हो सकी है! 'आत्मकथात्मक' शिल्पमें लेखकका हाथ कितना ही क्यों न मँज चुका हो पर यह लेखककी या तो साहसहीनता है या कलादृष्टिकी कमज़ोरी (और इन दोनोंमें बहुत अन्तर भी नहीं है) कि वह अपनी विषय-वस्तुके अनुरूप शिल्पका प्रयोग नहीं कर सका। यह भी हो सकता है कि जितना उसका प्रामाणिक अनुभव है उतना व्यक्तिनिष्ठ, सीमित और प्रेम-सम्बन्धी है तथा राष्ट्रकी नियति, प्रजातन्त्र, मानवतावाद आदि ऊपरसे आरोपित है। पर इन दोनोंको सँभालनेकी चेष्टामें दोनों ही पदच्युत हो गये। बहरहाल, अनुभव-बोध और मूल शिल्प-बोधकी इस निर्बलताको उसने स्वप्नों, स्मृतियों, इतिहास-कथाओं, रोचक प्रसंगों और विवरणों-द्वारा भरनेकी चेष्टा की है। कथा-तत्त्वकी क्षीणताको वाक्स्फीतिके द्वारा छिपानेकी चेष्टा की गयी है। यह वाक्स्फीति प्रकृति या मनुष्यके शोभावर्णनमें प्रयुक्त हुई है तथा इसके माध्यमसे कथा तो नहीं पर कथाके अभिप्रेत सन्देशको मुखर रूपमें कहनेकी भी चेष्टा हुई है। और उपन्यासका जो कुछ अर्थ अन्तमें पाठक तक सम्प्रेषित होता है उसका बहुत-कुछ श्रेय इस तत्त्वको ही है। वस्तुतः इस उपन्यासके इस तत्त्वपर अलगसे विचार भी किया जा सकता है। इन्हीं कारणों-से ऊपरी तौरपर उपन्यास बड़े सचेष्ट शिल्पका आभास भी देता है—पर उसकी मूल शिल्प-योजनाकी असफलताके बारेमें ऊपर काफ़ी-कुछ कह चुका हूँ। यहाँपर इतना ही कि इस कथ्यके लिए यदि जीवनचरितात्मक पद्धति अपनायी गयी होती तो शायद कम समस्याएँ खड़ी होतीं।

वस्तुतः द्विवेदीजीके समस्त औपन्यासिक शिल्पका मूल स्वर वैयक्तिक निबन्धका है। वैसी ही उच्छल आवेगमयता, वैसी ही उड़ान, वस्तुओंके छिपे अर्थोंको ढूँढ़नेकी वैसी ही अभिभूत चेष्टा, प्रसंगच्युत टिप्पणियाँ तथा सूचनाएँ; पाण्डित्य का 'र्‌हेटरिक' संस्कारों आदिके प्रति अत्यधिक उन्मुखता, प्रामाणिकता प्रकट करनेवाली व्याख्याएँ, एक ऐसा मुखौटा जिसकी आड़से लेखक अपने संघर्ष और समस्याओंको व्यक्त कर सके,

आदि बातें उनके वैयक्तिक निबन्धोंमें भी हैं और इन उपन्यासोंमें भी वही अंश आये हैं। वस्तुत: यदि उनके ललित निबन्धों और उपन्यासोंके 'ग्राफ़' बनाये जा सकें तो 'कर्व' के बिन्दु आस-पास ही रहेंगे। उनके समस्त चरित्रोंका निर्माण भी निबन्ध-धर्मी ही है। 'चारु चन्द्रलेख' में जनताके साथ एकमेक होनेकी बात बराबर कही गयी है। लेकिन ये जनप्रिय गठ-बन्धन किस प्रकारके हैं? राजाके सम्बन्ध जनतासे किस प्रकारके दिखाई पड़ते हैं? जनताके बारेमें हम क्या देखते हैं? मात्र एकाध प्रेम-प्रसंग और मित्रताएँ-भर न! शेष सभी निबन्ध या दस्तावेज़के रूपमें संक्षिप्त करके उपस्थित किया जाता है। गोरखनाथ सिद्ध-साधनाओंकी व्यर्थतापर एक भाषण देते हैं, अक्षोभ्यभैरव भारतकी सामन्ती समाज-व्यवस्थाके खोखले-पनपर एक निबन्ध (जो समाजशास्त्रीय और विषयपरक है—अकादेमी शब्दावलीमें) बोल देते हैं और लेखकसे तादात्म्य रखनेवाले सीदी मौला सोनेकी समस्यासे लेकर चीनकी समस्या तक कुछ अपने मस्त-फक्कड़ाना वैयक्तिक निबन्धी ढंगसे ही कहते हैं। इस निबन्ध-छाप शिल्पने इसी कारण, लेखककी परिकल्पनाको क्षत किया है। और जो कुछ अन्तमें उभरता है वह है एक टूटा हुआ दर्पण, जिसपर पड़नेवाला प्रतिबिम्ब समग्र नहीं होता—आकृतियाँ भले ही हज़ार हो जायें।

● ●

अनुभवका अपनापन

●●

धर्मवीर भारती

रागात्मक यथार्थका उद्घाटन *

'पान-फूल' मार्कण्डेयकी बारह कहानियोंका प्रथम संग्रह है। अपना स्थान बनाते हुए नये लेखककी प्रथम कृतिमें उन कथाकारों, कृतियों और प्रवृत्तियोंका प्रभाव होना अनिवार्य है, जो मानसिक रूपसे लेखकके निकट रहे हैं। लेकिन उन प्रभावोंके अतिरिक्त वे स्थल और वे प्रवृत्तियाँ, जिनमें लेखकके अपने व्यक्तित्वका प्रथम आभास मिलने लगता है, विशिष्ट रूपसे उल्लेखनीय होते हैं; क्योंकि वे ही उसके भावी विकासकी सम्भावनाएँ सूचित करते हैं। इन बारह कहानियोंमें-से कई कहानियाँ—जैसे, 'बासवीकी माँ', 'संगीत, आँसू और इन्सान', 'रामलाल', 'रेखाएँ', 'कहानीके लिए नारीपात्र चाहिए' आदि—काफ़ी कमज़ोर हैं; इसलिए नहीं कि उनमें पच्चीकारीकी कमी है, बल्कि इसलिए कि उनका कथानक स्पष्ट रूपसे गढ़ा हुआ लगता है, उनके पात्रोंको लेखक ढकेलता हुआ आगे बढ़ता है और उनकी प्रयोगशीलता और उनकी 'उद्देश्य-परकता' (जिसकी ओर आवरणपृष्ठके परिचयमें विशेष संकेत है) ऊपरसे थोपी हुई-सी लगती है। लेकिन जिन कहानियोंमें लेखकने अपने परिचित ग्रामीण वातावरणका चित्रण किया है और प्रयोग अथवा उद्देश्य-परकताके प्रति विशेष सचेत न रहकर मनुष्य-जीवनके रागात्मक यथार्थको चित्रित करने-का प्रयत्न किया है, और मानवीय रागात्मक सम्बन्धोंके सूक्ष्मतम और कोमलतम तन्तुओंको पकड़ने और उनकी रसमयतामें डूबकर कथा कहनेकी

---

* पान-फूल : मार्कण्डेय

दिशा अपनायी है, वहाँ उसे मार्मिक सफलता मिली है। ऐसी कहानियोंमें 'गुलराके बाबा', 'सवरइया', 'पान-फूल' तथा 'सात बच्चोंकी माँ' विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन कहानियोंकी ताजगी, मार्मिकता और कलात्मकतामें विशेषतया दो तत्त्वोंका सहयोग है। एक तो यह कि इन कहानियोंमें शिल्पके सभी तत्त्व, स्थानीय रंगतसे लेकर बोली तक, लेखककी जानी-पहचानी हुई है और उसे बड़ी सफलतापूर्वक उसने शब्दोंमें उतारा है। "लहसुनवामें आनेवाले नये गोफे', 'चिबोला करती हुई हवा', 'उदास चुप खड़े हुए पेड़-पालव' के साथ-साथ गाँवकी कहावतें जिनके अनुसार "रातको आनेवाली साँय-साँयकी आवाज़में जुम्मन साईं अपनी दाढ़ी सुलझाते हैं और हाजोकी बीबी ककहा दोको बेचती है"। ये सब चित्रण इन कहानियोंके कथा-विकासकी बड़ी ही प्रभावोत्पादक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। बिलकुल अरूप, अनुमानात्मक, मनोविश्लेषणात्मक यथार्थको लेकर चलनेवाली नीरस और उबा देनेवाली कहानियोंके लम्बे दौरके बादमें जीते-जागते वातावरणवाली कहानियाँ हिन्दी पाठकको एक ताज़गी देती हैं और हिन्दी कहानियोंकी भाषामें तद्भवकी प्रकृतिको एक नया निखार भी देती हैं। 'नयी पौध', 'बयाका घोंसला और साँप' तथा 'पान-फूल' में तद्भव-गुम्फित भाषाका प्रयोग हिन्दीको एक नयी मार्मिक व्यंजना दे रहा है जो, मैं साहससे कहना चाहूँगा कि प्रेमचन्दकी तद्भव-बहुल भाषासे कहीं ज़्यादा सुघड़ और कलात्मक है।

दूसरा जो महत्त्वपूर्ण तत्त्व इन कहानियोंको सशक्त बनाता है, वह है मानव-जीवनके सहज रागात्मक यथार्थका उद्घाटन। केवल सामाजिक या मनोवैज्ञानिक यथार्थपर आधारित कथा-साहित्य पिछले पन्द्रह वर्षोंमें अपनी असफलता घोषित कर चुका है और स्वतः लेखकोंके जाने या अनजाने मानवीय यथार्थका एक नया धरातल उभर रहा है, जिसमें मानवीय सम्बन्ध केवल बर्बर पाशविक शक्तियों-द्वारा परिचालित नहीं

हैं और न केवल आर्थिक वर्ग-सम्बन्धोंके प्रतिपालन-मात्र हैं। मानवीय सम्बन्धोंका यह नया धरातल अपने आयामोंमें मूलात्मक है और प्रकृतिमें रागात्मक। उसमें सतही तौरपर नहीं, वरन् गहरे स्तरपर सामाजिकता और वैयक्तिकतामें कोई विषमता नहीं दीख पड़ती। बाबा और चैतूका सम्बन्ध, कुमार और पियरीका सम्बन्ध, महाराजिन और सवरइयाका सम्बन्ध चित्रित करते समय कहानी-लेखकने मानवीय यथार्थके लिए नये धरातलको उभारनेकी चेष्टा की है। वह धरातल वर्ग-सम्बन्धोंका धरातल नहीं है और न मनोविश्लेषणात्मक प्रयोगोंका। उसके महत्त्व और अर्थोंको वह जितनी दूर तक पहचान सकेगा, उतनी ही दूर तक उसके विकासकी सम्भावनाएँ स्पष्ट होती चलेंगी।

किसी भी एक कहानी-संग्रहकी आधी दर्जन कहानियोंके बलपर कोई भी बात दावेके साथ कह सकना सम्भव नहीं है, किन्तु जो भी नयी क़लम इतने कम समयमें इतनी भी सफल कहानियाँ प्रस्तुत कर सकती है, उसमें प्रतिभाका अंकुर है। आशा है, मार्कण्डेय अपनी कमज़ोर कहानियोंमें पाये जानेवाले प्रभावोंसे मुक्त हो, अपनी सफल कहानियोंके तत्त्वोंको पहचान कर उत्तरोत्तर विकास करेंगे और हिन्दी कहानियोंके इस नये उत्थानमें अपना सुनिश्चित स्थान बना देंगे।

• •

असाधारण मनोवैज्ञानिक सजगता *

'ब्रह्म और माया'की कहानियोंने मुझे कमल जोशीकी कहानियोंपर नये सिरेसे सोचनेके लिए मजबूर किया। 'पत्थरकी आँख' की चातुर्य-पूर्ण कहानियाँ पढ़कर ऐसा लगता था कि लेखक कहानीके शिल्प और बाह्य प्रभावोंके प्रति इतना लालायित हो उठा है कि उसने सामाजिक जीवनको व्यावहारिक और ठोस समस्याओंको देखनेका नज़रिया बदल लिया है, और एक हद तक उनकी ओरसे उदासीन भी हो गया है। व्यक्तिगत रूपसे मैं कहानियोंमें चातुर्य या 'ससपेन्स' को बहुत बड़ा दरजा नहीं देता—और 'पत्थरकी आँख' पढ़कर मुझे यही बात लगी थी। समस्याएँ तो 'पत्थरकी आँख' की कहानियोंमें भी हैं, और उन्हें सहानु-भूतिपूर्ण दृष्टिकोणसे भी देखा गया है किन्तु वह दृष्टिकोण चतुर कहानी-कारका है, साधारण आदमीका नहीं, इसलिए साधारण आदमी उन्हें पढ़कर मज़ा ले सकता है, और उन्हें किसी हद तक सत्य भी मान सकता है पर उनसे द्रवित नहीं हो सकता।

मुझे लगता है कि चातुर्य या ट्रिकका उपयोग लेखक वहीं करता है, जहाँ अपने वर्णित विषयमें उसकी आस्था नहीं होती, परन्तु 'ब्रह्म और माया' की कहानियोंमें मुझे न केवल यह आस्था ही सर्वत्र दिखी बल्कि यह भी लगा कि लेखकने इस बातको भी महत्त्व दिया है कि उसे क्या कहना है ? अस्तु····

---

* ब्रह्म और माया : कमल जोशी

'ब्रह्म और माया' की कहानियाँ आजके युगकी मानसिक स्थितिका वही धरातल छूती हैं, जो हमारी सामाजिक-संवेदनाओंका केन्द्र बना हुआ है। इसीलिए उनमें वही तड़प, वही व्यंग्य, वही हिक़ारत और वही दबा-घुटा आक्रोश है, जो ले-देकर आज हम सबकी पूँजी है। इन अर्थोंमें ये कहानियाँ यथार्थवादी हैं। पर इनकी यथार्थवादिता प्रेमचन्दकालीन लेखकोंकी उस यथार्थवादितासे सर्वथा भिन्न है, जिसने कहानीकी भाव-धाराको भावुकताका पुट देकर, आदर्शकी ओर मोड़ देना चाहा। उदाहरणके लिए 'ब्रह्म और माया' की पहली कहानी 'कस्तूरी मृग'की विधवा नायिका निर्मला, हिन्दी कहानियोंकी उन सैकड़ों विधवाओं-जैसी नहीं है जो या तो पतिकी पवित्र स्मृतिमें सारा जीवन बिता देती हैं अथवा किसी ऐरे-गैरेके साथ 'घरवालोंके मुँहपर कालिख पोतकर' भाग जाती हैं। निर्मलाके सामने, प्रकाशको प्यार करनेके बावजूद, समाजका एक ऐसा व्यावहारिक आदर्श भी है, जो उसे विवश होकर निभाना पड़ता है···इसलिए वह कोयलेके टुकड़ेसे फ़र्शपर लिखकर अपनी दमित वासनाओंको अभिव्यक्ति और तृप्ति देती है। निष्फल ही सही, किन्तु मूक निर्वाहकी यही स्थिति संवेदनाके एक नये धरातलकी ओर संकेत करती है, जो कि वस्तुत: लेखकके दृष्टिकोणका ही नयापन है।

जिन्हें 'नयी कहानी' शब्दसे चिढ़ है, उनके लिए ये कहानियाँ एक चैलेंज हैं। कमल जोशीकी और भी ऐसी ही कहानियाँ हैं, जिनकी पृष्ठभूमिमें नयी और पुरानी कहानीकी दिशा, धारा एवं नये और पुराने कहानीकारकी कला-सम्बन्धी आधारभूत मान्यताएँ परखी जा सकती हैं। पुराने कहानीकारके कटुसे कटु यथार्थमें भी कहीं-न-कहीं आदर्शका एक ऐसा पुट ज़रूर है जो उसे घुमा-फिराकर नयी लकीरें नहीं खींचने देता, परन्तु कमल जोशीमें और प्रकारान्तरसे नये कहानीकारोंमें सर्वत्र इन परम्पराओंको तोड़ने और नयी मर्यादाएँ क़ायम करनेकी प्यास है। इसलिए वह कठोरसे कठोर सत्योंको भी उसी अहसाससे चित्रित करता है,

जिससे उन्हें देखता है। कठोरको कोमल या कटुको मधुर करनेके लिए वह मनोविज्ञानको कथागत परिस्थितियों एवं संवेदनाओंके अनुरूप नहीं ढाल लेता, बल्कि मनोविज्ञानके वास्तविक परिपार्श्वमें ही वह उनका यथार्थवादी रूपोंमें चित्रण एवं आकलन करता है।

इस दृष्टिसे 'नर्स' शीर्षक कहानी कमल जोशीकी दूसरी बड़ी उपलब्धि है, जिसमें विमाता वीणाके माध्यमसे उन्होंने आजके सामाजिक परिवेशमें लिपटी उस परिवर्तित और प्रबुद्ध नारीको चित्रित किया है जो अपने विचारोंमें बहुत बदल चुकी, पर संस्कारोंमें अभी वही है, उन्हीं मानवीय दुर्बलताओंसे युक्त।

मैंने अभी नये कहानीकारकी नयी रूढ़ियोंके निर्माण करनेवाली बात कही थी कि वह इसके लिए कितना आतुर है। फलतः त्वरामें वह कहीं-कहीं संयम भी खो बैठता है। मगर कमल जोशीकी सधी हुई क़लमसे कहीं भी यह शिकायत नहीं की जा सकती। उनकी कहानियोंके पात्र इसके जीते-जागते प्रमाण हैं। वे हमारी-आपकी तरह मामूली लोग हैं, बेबसीमें जीते-घुटते और हँसते-रोते हैं। वे समाजसे विद्रोह कर हमें मुक्तिका मार्ग नहीं दिखलाते, बल्कि हमें हमारी विकृतियों और कमज़ोरियोंका अहसास करते हैं और इसके पीछे, यदि देखा जाये, तो एक बड़ी सांकेतिक और सच्ची प्रेरणा छिपी है।

इसी सम्बन्धमें एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि कमल जोशीने अर्थ-व्यवस्थाके आधारपर बनते-बिगड़ते या बदलते समाजको चित्रित नहीं किया, बल्कि उससे प्रभावित मानव-वृत्तियोंका चित्रण किया है। एक वाक्यमें 'ब्रह्म और माया'की कहानियाँ समाज-विश्लेषणसे अधिक व्यक्ति-मनोंका विश्लेषण करती हैं। ये व्यक्ति पूँजीपति भी हैं, भिखारी भी, क्लर्क भी हैं और बुद्धिजीवी वर्गके लोग भी।

सामान्य दृष्टिसे देखनेपर लगता है कि लेखक आजके युगकी अर्थ-

व्यवस्थाके घातक परिणामोंसे अप्रभावित है; पर वास्तवमें ऐसा है नहीं। यदि होता तो वह 'नायक-नायिका' शीर्षक कहानीमें निहित व्यंग्य इतनी समर्थतासे न कर पाता। यद्यपि प्रत्यक्षतः यह कहानी चड्डा-दम्पतिका मनोविश्लेषण है (और है), किन्तु उनकी वे मानसिक-ग्रन्थियाँ भी तो अन्ततोगत्वा अर्थ-सम्बन्धोंके आधारपर ही हैं। प्रस्तुत कहानीमें लेखक एक ओर जहाँ यह संकेत करता है कि आधुनिकताने हमारे सांस्कृतिक जीवनके सूत्रोंको विच्छिन्न कर दिया है, वहीं दूसरी ओर वह यह भी ध्वनित कराता है कि धनका नशा किस प्रकार हमारी वृत्तियोंको असामान्य एवं कठोर बना देता है।

व्यंग्यका यही उत्कर्ष 'वैनिटी' शीर्षक कहानीमें है। अपने प्रतिपाद्यको अधिक तीव्र और प्रेषणीय बनानेके लिए कमल जोशी व्यंग्यका प्रयोग करते हैं—सिर्फ़ कौतुक या चमत्कारके लिए नहीं। असंगति, चाहे वह पूँजीपति वर्गमें हो चाहे निम्न मध्यम वर्गमें, कमल जोशीके कलाकारको सह्य नहीं। 'वैनिटी' आर्थिक शिकंजोंमें कसे हुए निम्न मध्यवर्गीय परिवारके मिथ्या दम्भ और खोखली मनोवृत्तियोंकी कहानी है, जिसके पीछे लेखककी स्पष्ट सामाजिक चेतना मुखरित है। ये तथा कमल जोशीकी अन्य सभी कहानियाँ पढ़कर पहला प्रभाव (जिसे मैं काफ़ी बादमें बता रहा हूँ) यह पड़ता है कि उसका क्षेत्र वास्तवमें मनोविज्ञान है।

'चारके चार' के बाद 'ब्रह्म और माया'की कहानियोंने मेरे इस विश्वासको और दृढ़ किया कि कमल जोशीका मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रेमचन्दसे लेकर अब तकके कहानीकारोंमें विशिष्ट है। मानव-मनका जैसे राई-रत्ती ज्ञान उन्हें है। प्रस्तुत संग्रहकी 'शीराज़ी' कहानीको मैं उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत करता हूँ। इतनी उलझी हुई मानसिक स्थितिको इतनी सफ़ाईसे चित्रित कर पाना किसी साधारण कलाकारका काम नहीं हो सकता। शीराज़ी नहीं जानती कि जिस नाटककारकी कृतियोंसे वह चिढ़ती है, उसीसे किस क़दर आक्रान्त है।

इस असाधारण मनोवैज्ञानिक सजगताका ही परिणाम है कि जोशीके पात्र या कथानक कहीं भी बहके नहीं हैं। उन्होंने कहीं वास्तविकताका साथ नहीं छोड़ा है, वरना मनुष्यकी आधारभूत प्रवृत्तियोंको लेकर लिखी गयी कहानियोंमें भटकनेकी बहुत गुंजायश थी। 'बेटेका बाप', 'ममताका बन्धन', 'ब्रह्म और माया' तथा 'कल्याणी' शीर्षक कहानियोंको आप इसी सन्दर्भमें पढ़िए—कटु यथार्थोंके बीच भी इन सबमें लेखकोचित ईमानदारी झलकती दिखाई देगी।

'बेटेका बाप' में यदि नारीकी सेक्स और सुरक्षाकी भावना उसके मातृत्वसे भी बढ़ी-चढ़ी है, तो इसलिए नहीं कि लेखककी यही मान्यता है, बल्कि इसलिए कि वह नारीका एक 'टाइप' है। 'ममताका बन्धन'-में नारीका सेक्स पक्ष उसके मातृत्व-भावके सम्मुख गौण चित्रित किया गया है। राधाका नन्दूके प्रति आकर्षण दैहिक कारणोंसे नहीं, बल्कि इसलिए है कि वह कभी उसके बच्चेके सामने यह प्रकट नहीं होने देना चाहती कि वह उसकी वास्तविक माँ नहीं है।

'ब्रह्म और माया' में पुरुषके अत्याचारोंसे सन्त्रस्त मूक असहाय नारीका चित्र यदि हृदयको द्रवित कर करुणा जगाता है, तो 'कल्याणी' में घृणा पी-पीकर पागल हो जानेवाले आदमीके प्रसंगमें नारीकी चिरममत्वशील, समझौतावादी और सेवामयी प्रवृत्तियाँ हमारी श्रद्धाको झकझोरती हैं। कमल जोशीने नारीको अनेक रूपोंमें चित्रित किया है। वह पुरुषकी प्रेरणा भी है, बल भी, और शिकार भी।

'ब्रह्म और माया' में दस कहानियाँ हैं, जिनमें-से अन्तिम 'चुटकुला'-को छोड़कर शेष सभीमें एक-एक नारी पात्र प्रमुख रूपसे है। शरत्के नारी पात्रोंकी तरह कमल जोशीके नारी पात्रोंका भी उनकी कहानियोंमें विशिष्ट स्थान है। 'कस्तूरी मृग' की निर्मला, 'ममताका बन्धन' की राधा, 'नर्स' की वीणा और 'ब्रह्म और माया' की गोमतीका चरित्र अविस्मरणीय

ढंगसे चित्रित हुआ है।

मुझे तो लगता है *कि प्लाट या कथानकपर कमल जोशीकी दृष्टि रहती ही नहीं। वह तो उनके लिए अपने चरित्रोंको उभारने और उन्हें विभिन्न मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणोंसे देखनेका एक साधन-मात्र है। ऐसा लगता है कि उनके पात्र उनके कथानकको आकार देनेके लिए नहीं, बल्कि उनका कथानक ही उनके पात्रोंको अधिक मूर्त्त रूप देनेके लिए प्रयुक्त होता है। अपने पात्रोंको पहले दिमाग़में रखकर वे कथानककी सृष्टि करते हैं, फलतः उनकी कलात्मक सूझ-बूझ तथा शिल्पगत सावधानीके बावजूद उनके कथानक अपेक्षाकृत कमज़ोर हैं। इसीलिए उनकी कहानियोंके घटना-साम्यपर लोगोंने तरह-तरहके आक्षेप भी किये हैं। क्योंकि किसी पात्रको दिमाग़में रखकर कथानक खोजनेमें प्रायः किसी जानी-अनजानी अथवा पढ़ी हुई घटनाकी छाया पड़ जाया करती है।

भाषाके विषयमें केवल इतना कहना है कि कमल जोशीका नाम हिन्दीके चुनिन्दा कहानीकारोंमें आता है। फ़तवे देनेके लिए मैं यों भी बदनाम हूँ, पर यह सही है कि नये लेखकोंमें कमल जोशी-जैसी भाषा लिखनेवाले दो-एक ही हैं। छोटे-छोटे वाक्यों-द्वारा कठिनसे कठिन भावोंकी व्यंजना करानेमें कमल जोशी सिद्धहस्त हैं। 'वैनिटी' शीर्षक कहानीका एक अंश देखिए—नयी बहू घरमें आयी है : "गत उत्सवकी धूमधाम दो-तीन दिन और रही। फिर धीरे-धीरे मकान खाली होने लगा। ज्वार-का जल उतर जानेपर पुष्पाको यह देखनेका संयोग मिला कि नदीकी वास्तविक सीमा कितनी है।" इस वाक्यसे कमल जोशीने वह सब कह दिया जो कि उन्हें कहना था। और कुछ दिनों बाद जब पुष्पा उस घरकी स्थितिसे और भी परिचित हो जाती है, तो उसे व्यक्त करनेके लिए कमल जोशीने डेढ़ पंक्तियोंका एक पैराग्राफ़ और बनाया—"पुरानी दीवारकी सस्ती सेफ़ेदी फ़ीकी पड़ते ही यहाँ-वहाँ दरारें नज़र आने

लगीं।" इस एक वाक्य-द्वारा लेखक उस घरकी आर्थिक स्थितिका सारा ढाँचा जैसे खोलकर रख देता है।

मैं पूरे विश्वासके साथ कह सकता हूँ कि प्रस्तुत संग्रह कमल जोशीके समस्त कहानी-संग्रहों-में ही श्रेष्ठ नहीं है, बल्कि हिन्दीके कहानी-संग्रहोंमें भी विशिष्ट स्थान बना कर रहेगा।

● ●

मार्कण्डेय

सचेतन ज्ञान एवं विस्तृत अनुभव-प्राप्तिकी आकुलता*

संग्रहका नाम पढ़ते ही एक झटका लगता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि किसी धर्म-निरपेक्ष राज्यमें हिन्दुओंके देवता विष्णुकी पत्नीको क़ैद कर लिया गया! और लेखक इस झटकेसे अवगत है, इसलिए कहानी शुरू करते ही वह कहता है, 'ज़रा ठहरिए, यह कहानी विष्णुकी पत्नीके बारेमें नहीं' किसी ऐसी लड़कीके बारेमें है, जो अपनी क़ैदसे छूटना चाहती है और जिसे सिर्फ़ वही जानता है। इस तरह लेखक पाठकको एक रहस्यका नुस्ख़ा पकड़ाकर कहानी प्रारम्भ कर देता है। यही चमत्कार राजेन्द्र यादवकी कहानियोंकी विशेषता है। चाहे वह जिस रूपमें आये, चरित्रोंके निर्माणमें, घटनाओंकी बुनावटमें, कथानकके तोड़-मरोड़में अथवा शिल्पके चक्करमय घेरोंमें, वह आयेगा, और कहानीके स्वाभाविक, सरल भाव-बोधको किसी-न-किसी तरह विनष्ट कर देगा।

यह कहते हुए मेरे आगे कथा-आलोचककी सामाजिक उपयोगिता अथवा कथा-विवेचनकी घराऊ शब्दावली नहीं है, वरन् एक उस पाठकका दृष्टिकोण है, जिसकी रुचियाँ कला-विवेचना-द्वारा प्रदत्त आग्रहसे मुक्त हैं। किसी भी कहानीमें जो है, उसीके आधारपर उसका विश्लेषण एवं परीक्षण हो, न कि जो नहीं है, उसकी दुहाई दी जाये। इसलिए 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' की कहानियोंमें जो तत्त्व हमारी मानसिक संगतिमें अन्य लेखकोंकी कहानियोंसे अलग एवं नये प्रकारके बैठते हैं, उसीको हम

---

* जहाँ लक्ष्मी क़ैद है : राजेन्द्र यादव

इस संग्रहकी विशेषता मानेंगे। जैसे ऊपर कहा गया है, चमत्कार उन विशेषताओंमें प्रमुख है।

कई लोगोंका मत है कि कला एवं साहित्यमें चमत्कार एक बहुत ही घटिया वस्तु है। लेकिन अगर किसी बहके हुए मनको कोई अनोखा प्रसंग ही कहानीकी ओर खींच पाता है, तो उसके लिए चमत्कारका उपयोग हीन नहीं माना जाना चाहिए। रेलगाड़ियोंमें चलनेवाले एजेण्टों अथवा भिखमंगोंका गायन तथा वास्तविक व्यापार ठीक उसी प्रकारकी दो वस्तुएँ हैं, जैसे चमत्कार और कहानी, लेकिन कहानीका अभिप्राय उस चमत्कारसे सिद्ध होना चाहिए, जैसे गायनसे मुसाफ़िरोंका ध्यान गायककी ओर आकृष्ट हो जाता है। शान्त एवं सम्पन्न बैठे हुए आदमीसे कोई बात कहनेके पहले यदि आप गाना छेड़ दें, तो परिस्थितिके भयंकर हो उठनेका खतरा पैदा हो जायेगा। लेकिन ट्रेनमें गाना सुनते-सुनते एकाएक मंजन अथवा काजलका लम्बा-चौड़ा, उबाऊ विज्ञापन आप सहज ही निगल जाते हैं और उसमें कोई ऐसी अस्वाभाविकता आपको नज़र नहीं आती।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि राजेन्द्र यादव अपने पाठकोंको ही नहीं, वरन् उस वर्गको भी अच्छी तरह समझते हैं, जिसकी भाव-सम्पदासे उनकी कहानियोंके कथानक निर्मित होते हैं। निम्नमध्यवर्गका जीवन ट्रेनके मुसाफ़िरके जीवनके अतिरिक्त और है ही क्या! शोर-शराबेमें साइकिलपर लुढ़कता-पुढ़कता घरसे दफ़्तर और दफ़्तरसे घर। अशुचिताएँ, अमंगल, रोग, गन्दगी, सब-कुछ वैसा ही, जैसा एक तीसरे दरजेके डिब्बेमें आपने देखा होगा। ऐसे जीवनको क्षण-भरके लिए रोककर कथा-साहित्य-की बात कर लेना उतना आसान नहीं है। जीवनकी इस बहुविधि व्यस्ततासे भरी मानसिक बनावटका सचेतन ज्ञान एवं विस्तृत अनुभव हमारे आजके कथा-साहित्यमें विरल है। कतिपय आलोचक फ़तवेबाज़ियोंके रोगसे पीड़ित होनेके कारण 'यथार्थ', 'अनुभूति' से लेकर 'भींग जाने' और 'गीले होने' के स्वरमें अपना राग अलापते हैं, पर वास्तविकता यह

है कि हमारे जीवनकी विकसित मानसिक एवं भौतिक परिस्थितियोंको देख पानेकी लेश-मात्र क्षमता उनमें नहीं है।

ऊपर मैंने 'सचेतन ज्ञान एवं विस्तृत अनुभव' की बात कही है। राजेन्द्र यादवकी कहानियोंमें इसीकी प्राप्तिकी आकुलता है। चमत्कार-द्वारा कथामें उत्सुकता पैदा कर ट्रेनके गायककी तरह दवाकी शीशियाँ बेंच लेनेकी कलामें वे असफल हैं, क्योंकि गायककी चेतनामें गाने और शोशियाँ बेचनेका सचेतन ज्ञान है और राजेन्द्र यादवमें नहीं। वास्तविकता यह है कि राजेन्द्र यादवकी मानसिक रचना उस वर्गकी आत्मीयतामें इतनी जकड़ी हुई है कि वह उससे ऊपर उठकर सचेत द्रष्टाका गौरवपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर पाती।

'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' के पूरे प्रारम्भिक अंशके रचना-शिल्पमें इसी अचेतन ज्ञानके कारण उलझन और चक्करदार, असफल कथा-शिल्प दिखाई पड़ता है, जो पाठकको उबा देता है।

कथा-शिल्प एवं वस्तु-संयोजनकी यह ख़ामी राजेन्द्र यादवकी इस संग्रहकी सबसे अच्छी कहानी, 'एक कमज़ोर लड़कीकी कहानी' में भी पाठकको चिढ़ाती चलती है। एक अनूठे प्रयोगके चमत्कारके कारण उनका बीच-बीचमें टपक पड़ना और बेतुकी टिप्पणियाँ तथा शीर्षक लगाना कहानीके सौन्दर्य-बोधको क्षीण कर देता है। जहाँतक इस कहानीमें भाव-वस्तुके संयोजन, पूर्व चिन्तन तथा डीटेलकी बात है, राजेन्द्र यादवने अपने कथाकारकी क्षमताओंका अद्‌भुत परिचय दिया है। यद्यपि सविता राजेन्द्र यादवकी टिपिकल लड़की है, जिसकी प्रमोदके साथ प्रारम्भिक चुहलका चित्रण कुछ थोड़े-से स्वाभाविक प्रसंगोंके अतिरिक्त भोंडा और थका देने-वाला लगता है, पर विवाहित सविताकी जहर देनेके प्रस्तावके बादकी मानसिक स्थितिका वर्णन इतना सफल है और वास्तविक लगता है कि उसे आसानीसे भुलाया नहीं जा सकता।

इस कहानीमें राजेन्द्र यादवका अपना रंग खुलकर सामने आता है।

शुरूसे आखिर तक चमत्कार, शिल्पमें, वाक्य-रचनामें, घटनाओंके चयनमें, पात्रोंके चुनावमें, सर्वत्र एक कृत्रिम मनोवेगका ऐसा उत्साह है, जो पाठकको हर ओरसे आवेष्ठित कर लेता है। ज़हर देनेकी हास्यास्पद बात चलाकर ही लेखक सन्तुष्ट नहीं होता, वरन् उसकी परिणतिमें कथाका अन्त करके जिस नक़ली भावावेगकी सृष्टि पाठकके लिए कर देता है, वह असलीसे कहीं अधिक अर्थपूर्ण हो उठती है।

इस संग्रहकी तीसरी पठनीय कहानी 'लंच टाइम' है। लेकिन इसमें आग्रहपूर्ण वर्णन और डीटेलका चमत्कार इतना कड़ुआ है कि लेखककी जीवन-दृष्टिका आरोप स्पष्ट लक्षित होने लगता है, जो किसी भी कलाकृतिके लिए हानिकारक है। वैसे इसे विद्रूपकी एक सफल झाँकीके रूपमें देखकर चाहे लेखकके जीवन-दर्शनसम्बन्धी अहंको तुष्टि हो गयी हो, पर कलात्मक निर्माणकी दृष्टिसे यह रचना सामान्य स्तरका ही परिचय देती है।

द्रष्टाकी सहज आकुलता और जीवन-दर्शनकी प्रारम्भिक खोजके कारण राजेन्द्र यादवकी इन कहानियोंके समन्वित प्रभाव दिशाहीन हैं, लेकिन उनकी यह आकुलता ही अपनेमें कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

'कुत्तों', 'कुतियों' और 'पिल्लों' की प्रतीकात्मक अनुभूति लेखकमें तीव्र जान पड़ती है। इसमें 'पिल्ला' का व्यंग्य अनावश्यक, टेढ़ी-मेढ़ी, दूरगामी बातोंके बाद भी सधा हुआ लगता है, पर सारी कहानीको पढ़नेमें जो श्रम करना पड़ता है, उससे खासी झुँझलाहट होती है।

इसके अतिरिक्त अन्य कहानियाँ या तो पढ़ी नहीं जातीं या पढ़नेपर संग्रहके लिए भरतीकी सामग्री लगती हैं।

प्रस्तुत संग्रहकी भूमिका 'ओवरहियरिंग' लेखककी उक्त मानसिक रचनाका सही चित्र प्रस्तुत करती है। वैचारिक उपलब्धियोंके मार्गमें एक भटके हुए राहीका वास्तविक ज्ञान छोड़कर मंज़िलकी बात करनेवाला जैसे बहुत-सारी हास्यापद बातें करता है, कुछ वैसी ही है यह भूमिका,

अपने रूप-विधानमें भी और वस्तु-विचारमें भी। बहुत-सारी फ़िज़ूलकी बातोंमें न जाकर सिर्फ़ इतना ही कहना ठीक होगा कि लेखक जिस प्रत्यक्ष अनुभवके लिए लेखकोंको वर्ण्य-वस्तुके क्षेत्रमें देखना चाहता है, वही मात्र प्रत्यक्षदर्शीका अनुभव उसकी कहानियोंका सबसे बड़ा दोष है। लेखक मात्र देखकर नहीं लिखता। अनुभव-तन्त्रकी कई बातें पुरानी ही नहीं, कई स्तरोंपर कथनके रूपोंमें ग़लत धारणाओंके आग्रहको जन्म देने लगी हैं। जीवनके विस्तृत अनुभव कथाकारके लिए ज़रूरी हैं, पर यही विस्तृत अनुभव कथाकार नहीं बनाते। कथाकारके लिए व्यापक अनुभवका सचेतन परिज्ञान ज़रूरी है। लेकिन प्रसन्नताकी बात है कि 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' की कुछ-एक कहानियोंमें जागरूक अनुभवकी धुँधली दृष्टि परिलक्षित होने लगी है।

● ●

हृषीकेश

मध्यवर्गके पारखी

नये कहानीकारोंमें इन दिनों कई-कई जातियाँ और उनकी रस्में हैं। बचपनमें एक कहानी पढ़ी थी—शहर और गाँवकी बातचीत। आधार था कि दोनोंमें बड़ा कौन? दोनोंके तर्क अलग-अलग थे, बेजोड़। आजके कहानीकारोंमें बड़प्पनका कुछ वैसा ही बाँट-बखरा हो गया है, और अब-तो क़स्बा भी साझीदार है। इसके अलावा स्थानीय रंग और आंचलिकताका मुलम्मा भी चढ़ गया है, और प्रवृत्तियोंमें ख़ास हैं कुण्ठा पूजा, बौना-मानव-दर्शन, दर्द या पीड़ाका सत्य, शरच्चन्द्रियन गुनगुनी प्रणय-लीलाएँ। एकसे एक चालू पीर महन्त हैं; उनकी चौरी और मठ हैं। इनके बीच अमरकान्त नहीं मिलते। हमें तो यही मालूम है कि व्यंग्य स्वस्थ मनसे उपजता है। मॉबिडोको छुलने-छिजनेसे ही फ़ुरसत नहीं। स्वस्थ व्यंग्यकी पहचान है गहरी सामाजिक चेतना, कठोर आत्मबल, उत्कृष्ट रसिकताके साथ हास्य संस्कार। यह सामाजिक चेतना खीझ और बेचैनीसे आक्रान्त नहीं होती, आत्मबल निरा वैयक्तिक, आत्मपरक नहीं होता, रसिकता निर्लज्ज और हास्य हास्यास्पद नहीं होता। इसमें एक अजब प्रकारकी तेजस्विता, स्फूर्ति और चुस्ती होती है।

'ज़िन्दगी और जोंक' की कहानियाँ पढ़नेपर यह बात ग्रहण की जा सकती है कि अमरकान्त किसी भी बिन्दुपर हत-चेतनाके पूजक नहीं हैं। यद्यपि उनमें अभी नवोदित कलाकारकी सीमाएँ हैं, फिर भी वर्तमान

* ज़िन्दगी और जोंक : अमरकान्त

सामाजिक ढाँचेके गिरते-टूटते प्रकोष्ठोंको उन्होंने विध्वंस और नाशकी एकांगी चेतनासे खण्डहर नहीं बनाया है प्रत्युत उनमें भावीका वरदान देखा है। उपलब्धकी दृष्टि चाहे पैनी न बन पायी हो पर आशय संशयात्मक कदापि नहीं। दृष्टि, अगर आशय मालूम हो तो, निर्माण-प्रक्रिया-द्वारा परिपक्व होगी, और वह काफ़ी समय लेगी। मध्यवर्ग, जिसके अमरकान्त पारखी हैं, अपनी स्थितिमें आज न घरका न घाटका है। औक़ात औसत, हौसले असीम। असंगतियों और अन्तर्विरोधोंमें टूक-टूक होता हुआ ध्वस्त, जर्जर, जलमें खड़े विशाल पोतकी तरह जिसके पेंदेमें छेद होनेपर हम ऊपर वार्निश करना शुरू करते हैं, पोतको डूबनेसे बचानेके लिए पानी उलीचते हैं, वश चले तो छेद मूँदनेका भी प्रयास करते हैं। मगर पोतके डूबनेमें सन्देह नहीं रह जाता क्योंकि तबतक पेंदेमें और कई छेद निकल आते हैं। वह जलमग्न हो ही जाता है। अमरकान्तने हू-ब-हू यही बात अपनी कहानियोंमें कह नहीं दी है बल्कि उसके पहलुओंको चित्रित किया है जिसके आसार नज़र आ रहे हैं। सारी बात केवल नौ कहानियोंमें नहीं उतारी जा सकती। लिखना अभी उन्हें बहुत है।

संग्रहकी पहली कहानी 'डिप्टी-कलक्टरी' आजके मध्यमवर्गीय प्रत्येक व्यक्तिकी आकांक्षाकी सीमाएँ दिखाती है। स्थिति झूठी है, अनिश्चित है, अभावग्रस्त है, भविष्यका कोई तय नहीं और इन्हीं खुशियोंके सहारे बड़े-बड़े सपने देखनेके निरर्थक प्रयास हैं, ज़िन्दगी जुआ है। नारायण वह शक्ति है जिसका शिक्षित होना जरूरी समझा जाता है पर उसे पैर रखने और जमनेका ज़रिया नहीं। वह क्लर्क भी हो सकता है, बड़ा अफ़सर भी हो सकता है, बेकार भी रह सकता है, सब संयोगाधीन है। फलत: मुख़्तार साहब डिप्टीके पिता, उनकी स्त्री डिप्टीकी माँ, बहू डिप्टाइन बननेकी लम्बी साधमें, एक भयंकर मिथ्याके शिकार हैं। 'डिप्टी-कलक्टरी' में मध्यवर्गीय जीवनको एक व्यापक स्तरपर हौसलेका श्लाघनीय प्रयास अमरकान्तने किया है, इतनी विभिन्न स्थितियोंका ज़िक्र है कि

उसे फैलाकर ही देखा जा सकता है। जूझने, संघर्ष करनेके मर्मको बड़ी तन्मयतासे उतारा गया है और अमरकान्तकी इसी तन्मयताने, 'टू द लास्ट मोमेण्ट फ़ाइट' का सबसे ज्वलन्त चित्रण उनकी प्रख्यात रचना 'ज़िन्दगी और जोंक' में कराया है। याद नहीं, 'स्ट्रग्ल' या 'फ़ाइट' शब्दोंमें जो अर्थवत्ता है, अर्थात् जीनेकी जो उद्दाम कामना है, इस विषयको लेकर लिखी 'ज़िन्दगी और जोंक' से अच्छी कहानी मैंने पढ़ी या नहीं, किसी विदेशी साहित्यमें भी, यों रचनाएँ होंगी ही। क्षुद्रतम व्यक्ति भी दुर्दम-नीय परिस्थितियोंमें किस तरह जीवनको वरेण्य मानता है और अन्तिम दम तक जीनेका मोह, मोह नहीं अभिलाषा, त्याग नहीं पाता—इसे अमरकान्तने 'ज़िन्दगी और जोंक'-जैसी गौरवशाली रचनामें परिभाषित किया है। वह हिन्दी कहानियोंमें गोपाल या रजुआ या रजुआ साला या रजुआ भगत, निरपराध पिटता है। व्यक्तियोंके स्वार्थने उसका सामाजी-करण कर दिया है। वह सदा उत्फुल्ल मुद्रामें रहता है चाहे औरतोंसे दिल्लगी करते समय, पगलीके साहचर्यमें, भगताईमें, हैजेमें, खुजलीमें यानी अपने तनमें चिपकी प्रत्येक विभीषिकामें और जब वह मौतकी भीषण छायाके बीच घिरा है तब भी पत्र लिखाकर सिरपर कौएके बैठनेसे आने-वाली असुभन मौतको टोटका करके भगा देनेको तत्पर है। पता नहीं वह समाजका नागरिक है या नहीं पर जीवनकी उपयोगिता समझनेकी उसकी लालसा अद्‌भुत है।

नौ कहानियोंमें रोमान्सकी, वह भी कच्ची उम्रमें विवाहित दो अर्धसंस्कृत सुशिक्षितोंकी एक ही कहानी है चमत्कारसे परिपूर्ण 'सन्त तुलसीदास और सोलहवाँ साल'। कम उम्रमें विवाह हो जानेपर विद्यार्थी जीवनमें आनेवाले अवरोधकी एक बहुप्रचलित धारणापर चुटकी ली गयी है। यह कहानी, रूमानियतकी मीठी चुटकियोंके साथ हास्य-व्यंग्यकी एक सफल रचना बन पड़ी है। 'सवा रुपये' के बाबाका रेखाचित्र अपने-आपमें विशिष्ट है। सहसा प्रेमचन्दकी 'बूढ़ी काकी'

और 'बूँद और समुद्र'की ताई-जैसे पात्रोंकी याद ताज़ा हो जाती है। बाबाके चरित्रमें सार्वजनीनता है। 'नौकर' नामक कहानीका जन्तु उस रजुआकी तरह कुछ-कुछ है जिससे अपनी सुविधाके लिए मालिक काम लेनेमें आपत्ति नहीं मानता भले ही वह असमर्थ असहाय हो। जन्तू नौकरके नामपर जन्तु बन गया है। 'केले, पैसे और मूँगफली' में दैनन्दिन जीवनकी नियमितता, पारिवारिक जीवनकी छोटी-मोटी समस्याओंके नैरन्तर्यकी झाँकी है। इसे समस्यामूलक कहानीका स्वरूप माना जा सकता है क्योंकि इसमें मध्यमवर्गके जीवनके एक 'सिलसिलेपन' को काफ़ी बारीकीसे व्यक्त किया गया है जिसकी रफ़्तार हमेशा पुरानी रहती है। इसी क़िस्मकी दूसरी कहानी एक और है 'दोपहरका भोजन' जो ज़्यादा तीखी, स्पष्ट और प्रौढ़ है। अज्ञेयकी सफल रचना 'रोज़'-जैसी घुटन, निस्सारता और उदासीनता इस रचनामें अंकित हुई है। पूरी कहानीमें एक वातावरण बनता है जो अन्तके दो पैराग्राफ़में पूर्णतया घनीभूत हो उठा है। यह प्रस्तुत संग्रहकी अच्छी कहानियोंमें एक है। 'इण्टरव्यू' इसी शीर्षकसे लिखी जानेवाली बहुत सारी कहानियोंसे इस अर्थमें भिन्न है कि जहाँ अन्य कहानियोंमें किसी एक व्यक्तिके अनुभवको, वह भी उसकी असफलतामें दर्शाया जाता है, इस कहानीमें इण्टरव्यूमें शामिल होनेवालोंका सामूहिक अनुभव है जो इण्टरव्यूमें जाते तो हैं पर एक प्रतिशत भी सफलताकी उम्मीदसे नहीं। इस कहानीमें रोज़गारीके लिए झपटनेवाली भीड़ और इण्टरव्यूके अन्दर भ्रष्टाचार, अनिश्चितता, मनमानापन और तज्जनित अपमानकी स्थितिपर करारा व्यंग्य है। चुनाव योग्य व्यक्तिका नहीं, किसी औरका ही होता है और वह भी गुप्त रीतिसे। कहानीको अधिकसे अधिक मौलिक बनानेका प्रयत्न है फिर भी कुछ स्थलोंमें बड़ी ही आम बात कही गयी है जिसे शायद सभी जानते हैं—जैसे इण्टरव्यूसे आनेवालोंसे पूछना कि कौन-सा प्रश्न पूछा गया। कहानीके अन्तिम वाक्यकी तो कोई ज़रूरत ही नहीं, गम्भीरता

नष्ट हो जाती है। जब अत्याचार, जनताकी बौखलाहट और क्रान्तिकी बात स्वाभाविक ढंगसे कह दी गयी तब भीड़में किसीका इनक़लाब कर उठना (लेखकके ही शब्दोंमें, बल्कि शायद उसीकी) उत्तेजना ही हो सकती है। संग्रहमें चयनकी दृष्टिसे 'गलेकी जंज़ीर' ऐसी कहानी है जो खप नहीं पाती। सस्पेन्सकी कहानी तो है पर क़िस्सा बनकर रह गयी है। इसे लाइट स्टोरी कहना ही ठीक होगा। यह अवश्य है कि एक खास तरहकी मुसीबतमें पड़े व्यक्ति और उसके सम्पर्कमें आनेवालोंकी असन्तुलित निश्चय बुद्धिका पता चलता है।

● ●

नामवर सिंह

कालातीत कला-दृष्टि*

कहानी संग्रह 'परिन्दे' का प्रकाशन अब हुआ है, लेकिन निर्मल वर्मा-की कहानियोंकी चर्चा एक अरसेसे हो रही है। प्राय: सभी मानते हैं कि उनकी कहानियाँ गहरा प्रभाव डालती हैं। लेकिन ऐसा प्रभाव उत्पन्न करनेवाली कलाका विश्लेषण अभीतक नहीं हुआ है; भावुकता, निराशा, एकरसता वग़ैरहकी शिकायत अलबत्ता की गयी है। बेहतर है शुरूआत इस प्रभावके विश्लेषणसे ही हो।

यह सही है कि निर्मलकी कहानियाँ गहरा प्रभाव छोड़ जाती हैं—यहाँतक कि तमाम कहानियाँ लगभग एक-सा प्रभाव छोड़ती हैं और यह भी सही है कि इस प्रभावके आगे न चरित्र याद रहते हैं और न घटनाएँ। लेकिन सवाल यह है कि क्या इनका याद रहना ज़रूरी है। पाठकके लिए ज़रूरी क्या है : प्रभाव या चरित्र आदि? जिन कहानियोंके चरित्र आदि याद रह जाते हैं, क्या वे भी ऐसा प्रभाव डालती हैं? क्या यह सही नहीं है कि जिन कहानियोंमें विविधताके नामपर ढूँढ़-ढूँढ़के अजीबो-ग़रीब चरित्र लाये जा रहे हैं और अछूते जीवन-खण्ड पेश किये जा रहे हैं, वे प्रभावके नामपर या तो शून्य हैं या फिर केवल विस्मय जगाकर ही रह जाती हैं? ज़ाहिर है कि ये कहानीकार कहानीके प्रभावकी जगह सिर्फ़ अपना प्रभाव पैदा करना चाहते हैं।

चरित्र वहीं याद आते हैं, जहाँ भाव कमज़ोर होता है और शिल्प

* परिन्दे : निर्मल वर्मा

प्रबल; दूसरे शब्दोंमें, जहाँ कहानीके ढाँचेमें दरार रहती है। और साफ़ है कि ऐसी दरारोंवाली कहानी अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। अचम्भा तो इस बातका है कि जीवन-विविधताकी इस दौड़-धूपमें कहानी-कारोंके हाथसे यह परम्परागत बुनियादी सिद्धान्त भी छूटता जा रहा है कि कहानीका लक्ष्य 'प्रभावान्विति' है; चरित्र-कथानक आदि तो उसके साधन हैं।

निर्मलकी कहानियोंमें प्रभावकी गहराई इसीलिए है कि उसके यहाँ चरित्र, वातावरण, कथानक आदिका कलात्मक रचाव है: कलात्मक रचाव स्वयं रूपके विविध तत्त्वोंके अन्तर्गत, फिर वस्तु और रूपके बीच तथा स्वयं वस्तुके अन्तर्गत। पात्र अलग इसलिए याद नहीं आते कि परि-स्थितियोंके अंग हैं। निर्मलके मानव-चरित्र प्राकृतिक वातावरणमें किसी पौदे, फूल या बादलकी तरह अंकित होते हैं, गोया वे प्रकृतिके ही अंग हैं। 'परिन्दे' कहानीकी छोटी-छोटी स्कूली लड़कियों तथा मीडोज़, झरने, झाड़ियों, फूलों, चिड़ियोंमें कोई अन्तर नहीं है। नीचे वे शोर करती हुई खेल रही हैं और दूर लतिका तक जो प्रभाव पहुँचता है उसमें झरने, चिड़ियों और लड़कियोंके स्वर घुल-मिल गये हैं। निसर्ग एक है, जिसमें सारे भेद सहज ही मिट जाते हैं। एक हृदय है जो तमाम चीज़ोंको रागात्मक सम्बन्धमें जोड़ देता है। कलाकारका एक स्पर्श है, जो सारे अनमेल तत्त्वोंको एक 'रूप'में रच देता है।

इतने अधिक तत्त्वोंको लेकर एक प्रभावकी सृष्टि करना आसान नहीं है। हर तत्त्व आकर्षक है, हर आकर्षणमें भटकाव है और एक भी भटकाव प्रभावको क्षीण कर सकता है। शायद संगीत ही ऐसी कला है जो प्रभावान्वितिकी दृष्टिसे पराकाष्ठा है। और इसी-लिए हर कलाकारकी यह सबसे बड़ी आकांक्षा रही है कि उसकी कलाकृति संगीतकी हदको छू ले। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए चित्रकारोंने यदि चित्रकलाको अधिकसे अधिक ज्यामितिक रूपाकारोंमें बदलनेकी

कोशिश की, तो कलामें जैसे प्रतीकवादी कवियोंने भाषाकी सीमामें रहते हुए भी कविताको संगीत बनानेका प्रयत्न किया। बहुत सम्भव है कि कहानीमें 'प्रभावान्विति'को सबसे अधिक महत्त्व देनेवाले एडगर एलेन पोके ध्यानमें भी कहानीको प्रभावकी दृष्टिसे संगीतकी हद तक पहुँचा देनेकी ही आकांक्षा रही हो, क्योंकि उसका भी कलात्मक आदर्श संगीत ही था। बहरहाल—

कहानी, प्रभाव-सृष्टिकी दृष्टिसे, संगीतकी हद छू सकती है या नहीं मुझे नहीं मालूम; लेकिन इतना मालूम है कि निर्मलकी कहानियाँ संगीत का-सा प्रभाव उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं। आकस्मिक नहीं है कि उनकी अधिकांश कहानियोंमें संगीतका प्रकरण आता है। 'डायरीका खेल' कहानी-में "चैपलके बरामदेमें एक स्त्री खड़ी थी, संगमरमर-सी सफ़ेद, स्तब्ध, निश्चल····जिसपर फ़ीकी, पीली-सी चाँदनी गिर रही थी—पीछे बहुत धीमे सिसकता-सा प्यानोका संगीत-स्वर बहता-सा आ रहा था।" 'पिक्चर पोस्टकार्ड' कहानीमें परेश "धीरे-धीरे जूक-बॉक्सके पास आया और कुछ देर तक उसके सामने खड़ा रहा। फिर उसने चवन्नी डालकर धीरेसे बटन दबाया। रेकॉर्ड धीरे-धीरे ऊपर उठने लगा। जूक-बॉक्सके भीतर सितारे-सी लाल बत्ती जल उठी।" 'परिन्दे' कहानीमें तो स्वयं एक चरित्र ही प्यानो वादक है, मि० ह्यूबर्ट।

"उसी क्षण प्यानोपर शोपाँका नाक्टर्न ह्यूबर्टकी उँगलियोंसे फिसलता हुआ धीरे-धीरे छतके अँधेरेमें घुलने लगा—मानो जलपर कोमल स्वप्निल उर्मियाँ भँवरोंका झिलमिलाता-जाल बुनती हुई दूर-दूर किनारों तक फैलती जा रही हों। लतिकाको लगा कि जैसे कहीं बहुत दूर बर्फ़की चोटियोंसे परिन्दोंके झुण्ड नीचे अनजान देशोंकी ओर उड़े जा रहे हैं।"

निर्मलने संगीतका चित्रण केवल चित्रण—वातावरण-चित्रण—के लिए ही नहीं किया है, बल्कि संगीतके उस राग-धर्म (हार्मनी) को भी व्यक्त किया है जिसके द्वारा विविध वस्तुएँ पिघलकर अपनी पृथक् सत्ता खोती

हुई एक भाव-धारामें बदल जाती हैं। 'परिन्दे'की नायिका लतिकाको चैपलमें संगीत सुनकर "ऐसा लगा कि मोमबत्तियोंके धूमिल आलोकमें कुछ भी ठोस, वास्तविक न रहा हो—चैपलकी छत, दीवारें, डेस्कपर रखा हुआ डॉक्टरका सुघड़-सुडौल हाथ—और प्यानोके सुर अतीतकी धुन्धको भेदते हुए स्वयं उस धुन्धका भाग बनते जा रहे हों।"

राग-धर्मके अतिरिक्त निर्मलके यहाँ संगीत अनुभवोंको भी अर्थ प्रदान करता है। ह्यूबर्टको लगा, "प्यानोका हर नोट चिरन्तन खामोशीकी अँधेरी खोहसे निकलकर बाहर फैली नीली धुन्धको काटता, तराशता हुआ एक भूला-सा अर्थ खींच लाता है।"

ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत-वर्णन निर्मलके लिए कहानीमें केवल शोभा नहीं है बल्कि सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया ही संगीतधर्मी है। फ़रवरी-मार्च' ५९ की 'कृति'में 'सौन्दर्यकी छायाएँ' शीर्षक निबन्धमें "उनका मौन प्यानोके भीतरका मौन है। हर चरित्र एक छोटा-सा 'नोट' है, एक मौन-बिन्दुसे दूसरे मौन-बिन्दु तक उड़ता हुआ—प्रतीक्षारत। वे प्रतीक्षा करते हैं उँगलीके स्पर्शकी, हलकेसे दबावकी और इस दबावके अनेक स्तर हैं।"

'मौनकी चिरन्तन स्थिति'से 'अमूर्तलय' को बाहर निकालनेके लिए 'उँगलीका दबाव' निर्मलके अनुसार, कहानीकारकी रचना-प्रक्रियाका पहला कर्त्तव्य है। कहना न होगा कि इस दबावके द्वारा उन्होंने कहानीके रूपमें एक 'राग'की 'रचना'की है जिसमें कहानीके सभी तत्त्व एकरस होकर एक अन्वित प्रभावकी सृष्टि करते हैं।

अब सवाल यह है कि यह प्रभाव क्या है, कैसा है, इसका रूप क्या है, इससे क्या भाव उत्पन्न होता है?

जैसा कि कुछ लोगोंका कहना है, उनके मनमें भावुकता उत्पन्न होती है। भावुक व्यक्ति किसी भी प्रभावसे भावुक हो सकते हैं। लेकिन इसका

निर्णय कैसे हो कि भावुकता निर्मलकी कहानियोंमें है या इन पाठकोंमें ? प्रभाव चाहे जिसका हो लेकिन वह स्वयं कहानी नहीं हो सकता। यदि यह सच है तो यह भी उतना ही सच है कि अपने प्रभावके अलावा कहानीको ग्रहण करनेका दूसरा कोई साधन भी नहीं है। निर्णय स्वयं कहानीके हाथ है, क्योंकि वह केवल प्रभावित ही नहीं करती बल्कि विशेष रूपमें प्रभावित करना चाहती है, और उस विशेष संकेतको जो पाठक पकड़ लेता है वह कहानीकी आत्माके सबसे निकट होता है, बल्कि रूप-गत अन्तःसूत्रोंको आपसमें तुरत जोड़ भी लेता है और इस तरह उसके सामने कहानीके अधिकसे अधिक क़रीबकी प्रतिमा होती है।

निर्मलकी अधिकांश कहानियाँ अतीतकी स्मृति हैं, कहानी कहनेवाला बरसों बाद उन स्मृतियोंको दोहराता है। 'डायरीका खेल' कहानीके अन्तमें वाचक : नैरेटर कहता है : "आज उस बातको बीते अनेक साल गुज़र चुके हैं।" 'तीसरा गवाह' कहानीके वाचक मिस्टर रोहतगी भी बरसों बाद अपनी जवानीके दिनोंकी कहानी सुना रहे हैं। 'परिन्दे' की लतिकाकी दुःखान्त गाथा भी बरसों पुरानी है। स्मृतिमें भावुकता सम्भव है, किन्तु समयका अन्तराल तात्कालिकताके आवेगको काफ़ी कम कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तात्कालिक आवेगकी भावुकताको कम करनेके लिए ही, निर्मल समयका इतना अन्तराल दे देते हैं।

'डायरीका खेल' कहानीमें वाचक कहता है : "किन्तु बिट्टोकी स्मृति सेण्टिमेण्टल नहीं बनाती, वह अतीतका भाग नहीं है, जो कि याद करके भुलाया जा सके। हममें ऐसा कुछ होता है, जो न होकर भी संग-संग चलता है, जिसे याद नहीं किया जाता, क्योंकि उसे वह कभी नहीं भूलता।.........अतीत समयके संग जुड़ा है, इसलिए चेतना नहीं देता, केवल कुछ क्षणोंके लिए सेण्टिमेण्टल बनाता है। जो चेतना देता है, वह कालातीत है।"

इसके अतिरिक्त जो कहानियाँ अतीतकी स्मृति नहीं हैं, उनमें कथा

कहनेवाला पात्र सम्पूर्ण घटनासे बहुत-कुछ असम्पृक्त है, सबका साक्षी है। 'अँधेरेमें' कहानी कहनेवाला एक छोटा-सा बच्चा है, जो अपनी माँके प्रेमकी दुःखद कहानीका अबोध दर्शक है।

'मायाका मर्म' तथा 'सितम्बरकी एक शाम' कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें घटना एकदम तत्कालकी है और वाचक भी स्वयं भोक्ता है, किन्तु इन कहानियोंके नायक वर्तमानसे सहसा अपनेको मुक्त करके स्मृतिहीन व्यक्ति बन जाते हैं। 'मायाका मर्म'के नायकके शब्द हैं : "मैंने पहली बार बेरोज़गारीके इस लम्बे और उदास अरसे पर-से दरिद्रताकी राखको बिना दर्दके कुरेद दिया। जो अभावकी रिक्तता अबतक चुगती थी, वह अब भी है, किन्तु जैसे वह अपनी न रहकर परायी बन गयी है, जिसे मैं बाहरसे तटस्थ भावसे देख सकता हूँ। जिसने अब 'छुट्टी'का सहज भाव अपना लिया है।"

वह खुली हुई प्रकृतिके बीच आता है और फिर प्रकृति-प्रसन्न एक छोटी-सी बच्चीका साथ हो जाता है और नये वातावरणमें उसे महसूस होता है—"मेरी उम्र कहीं बहुत पीछे छूट गयी""जैसे उसका कभी मुझसे वास्ता न रहा हो।"

'सितम्बरकी एक शाम'का बेरोज़गार नायक भी घरसे बाहर निकलते ही महसूस करता है कि "उसके पाँव पीछे कोई निशान नहीं छोड़ गये हैं—जैसे वह अभी जन्मा है। उसकी ज़िन्दगीकी गाँठ अतीतके किसी प्रेतसे नहीं जुड़ी है, इसलिए वह मुक्त है और घासपर लेटा है।"

'परिन्दे'की नायिका लतिका बेशक भावुक मालूम होती है, लेकिन उसकी भावुकताको कम करनेके लिए साथ-साथ दूसरा पात्र डॉक्टर मुकर्जी आता है, जो कहानी समाप्त होते-होते सारी भावुकताको मिटाकर दूसरा ही प्रभाव उत्पन्न कर देता है। डॉक्टर स्वयं दुःखी है, किन्तु अपने दुःखके प्रति अनासक्त-सा है। ज़िन्दगीके तजुर्बेने उसे प्रौढ़मना बना दिया है। लतिकाके बचकानेपनको भी ठहाकेमें उड़ा देता है, तो कभी

ऐसे अनुभवपूर्ण वाक्यों-द्वारा, जो परोपदेशकी रुक्षता उत्पन्न करनेकी जगह स्वगत-संलापकी गम्भीरता पैदा करते हैं : "मरनेवालेके संग खुद थोड़े ही मरा जाता है" अथवा "किसी चीज़को न जानना यदि ग़लत है, तो जान-बूझकर न भूल पाना, हमेशा जोंककी तरह उससे लिपटे रहना—यह भी ग़लत है।" और इस बीच अपने-आप धीरे-धीरे स्वयं लतिकामें भी परिवर्तन होता है : "अब वैसा दर्द नहीं होता, सिर्फ़ उसको याद करती है, जो पहले कभी होता था।"

व्यथाकी गहनतामें निर्मलके पात्र प्रायः खामोश रहते हैं। उनकी खामोशी व्यक्तिका अभिन्न अंग है। उनका मौन प्यानोके अन्दरका मौन है जिसकी एक-आध 'की' पर कभी-कभी लेखककी उँगलीका हलका-सा दबाव पड़ता है। 'पिक्चर पोस्टकार्ड'का परेश ख़ामोश रहता है, 'तीसरा गवाह'के मिस्टर रोहतगी भी भीड़के बीच काफ़ी खामोश थे, यहाँतक कि 'अँधेरेमें'का छोटा-सा लड़का भी इस रोगसे ग्रस्त है, क्योंकि उसकी हमउम्र-सी एक बच्चीके अलावा, जो कभी-ही-कभी आती है, उससे कोई बात करनेवाला भी नहीं है।

इस अनासक्ति और ऐसी तटस्थताके साथ निर्मल जब किसी करुण प्रसंगका चित्रण करते हैं तो भावावेग-रहित। 'डायरीका खेल'की बिट्टो चुपचाप रो रही थी, किन्तु "उनका स्वर इतना सहज, इतना शान्त था कि कितनी ही देर तक मैं जान भी न सका कि बिट्टो रो रही है, अपने ही में धीमे-धीमे····आँसू जो बिलकुल ठण्डे, वंचनारहित होते हैं, जिनको बहानेसे रोना नहीं होता, दुःखसे छुटकारा नहीं मिलता, जो हृदयको एक मर्मान्तक, घनीभूत पीड़ामें निचोड़ते हुए चुपचाप बूँद-बूँद गिरते हैं······"

इस प्रकार निर्मलकी यह 'आत्मीयता' है "जो मानो हमें भिगोकर खुद सूखी रह जाती है।" उन्होंने जो बात बिट्टोके लिए कही है, वह उनके लिए भी लागू करते हुए कही जा सकती है : "आइनेकी तरह उनके चेहरेपर वह सब कोई देख लेते, जो देखना चाहते, किन्तु उन्हें

कोई नहीं देख पाता।"

इस सन्दर्भमें १९१६ ई० में प्रमथ चौधरीको शरतचन्द्र-द्वारा लिखे गये एक पत्रका यह अंश उद्धृत करने योग्य है—

"कोई-कोई अत्यन्त गम्भीर स्वभावके लोग जैसे अपने दुःखको भी कहनेके समय एक ऐसे ताच्छील्यका पुट दे देते हैं कि अचानक लगता है कि वह किसी औरके दुःखकी कहानी कह रहे हैं। मानो, इससे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। आप भी ठीक उसी तरह कहते हैं। घुमा-फिराकर कातरोक्ति कहीं भी नहीं है....पर जीवनकी न जाने कितनी बड़ी ट्रैजेडी पाठकोंके दिलपर चोट करती है। आपकी रचनाकी यह सहज शान्त मँजी हुई खिलनेकी भंगिमा ही मुझे सबसे अधिक मुग्ध करती है।"

भावुकताका निर्णय पाठकोंके अपने-अपने मानसिक प्रभावोंसे नहीं होता। विचारणीय यह है कि स्वयं कृतिमें भावुकता है या नहीं, लेखकमें कलागत संयम कितना है? भावात्मक संयम और कलात्मक संगति दोनों पर्याय हैं और जहाँ प्रभावकी गहराई है, वहाँ इनका होना निश्चित है।

यही कला-संयम है जिसके द्वारा जीवनकी दुःखान्त स्थितिको भी निर्मल जिजीविषा और आशासे अनुप्राणित कर देते हैं। बिट्टो तपेदिककी मरीज़ है, उसे मृत्युका भय बराबर बना है। उसका मृत्यु-भय इस हद तक पहुँच गया है कि, भयसे अधिक जिजीविषा प्रकट होती है। ट्रेनमें उसे नींद नहीं आती, क्योंकि डर है कि सोतेमें कहीं ट्रेन उलट न जाये और "मरनेसे पहले सोते रहना कैसा अजीब है?" गोया मृत्युको आना ही है तो आँख खोलकर उसका सामना किया जाये। उसकी साध दुल्हन बननेकी है लेकिन वह जानती है कि इस बीमारीके रहते वह कभी पूरी न होगी। एक दिन वह आह्लादके-से स्वरमें बब्बूसे कहती है: "मरनेसे पहले बहुत जी भरकर जीना चाहिए, बब्बू।" "जैसे हम पहली

बार जी रहे थे, जैसे हमसे पहले कोई न जिया हो"

जीवनकी यह लालसा एक ओर मृत्युकी भयंकरताको उग्र करती है तो दूसरी ओर अजेय जीवन-शक्तिका भी आभास दिलाती है। इसी प्रकार घोरसे घोर निराशाकी स्थितिमें भी निर्मल स्थितिका अतिक्रमण करनेका प्रयत्न करते हैं। 'मायाका मर्म' का नायक बेरोज़गार है, बेकारीने उसके अस्तित्वको इतनी गहराई तक प्रभावित किया है कि उसके लिए "मेरा सोचना मेरे ही-जैसा बेकार है," उसी नवयुवककी जीवन-दृष्टिको एक छोटी-सी घटना बदल देती है। वर्षाकी शाम। कागज़की नाव लिये एक छोटी-सी बच्ची मिलती है। साथ हो जाता है। बातें चल निकलती हैं। गँदले पानीका नाला है। बच्ची उसीमें अपनी नाव डाल देती है और इस आशासे देखती है कि जैसे यह उसी लोकको जा रही है जिसका वर्णन उसने जीजीसे कहानीमें सुना था। घटना बीत गयी। बेकार वह इसके बाद भी रहा। लेकिन 'एम्पलॉयमेण्ट दफ़्तर' जानेकी आदत छूट गयी। उस ज़िन्दगीमें उसे बच्चीका सपना एक अर्थ देता रहा।

'पिक्चर पोस्टकार्ड' के परेश, निकी, सीडी तीन नवयुवक विश्व-विद्यालयकी शिक्षा समाप्त करके शहर दिल्लीमें वक़्त गुज़ार रहे हैं। काम है : अखबारनवीसी, आई० ए० एस्० की तैयारी वग़ैरह। विद्यार्थी-जीवनकी आदतके अनुसार विश्वविद्यालयका चक्कर भी लगा आते हैं और खाली ज़िन्दगीकी साथ-पढ़ी छात्राओंकी बातचीतसे मरनेकी कोशिश करते हैं। निरुद्देश्यता अपने असली रूपमें मौजूद है। थककर रेस्तराँमें बैठे हैं। बातचीत अचानक यह मोड़ लेती है—

"क्या तुम कभी कॅम्युनिस्ट रहे थे ?"

"तुमसे किसने कहा ?"

"सीडीने कहा था। लेकिन मैंने विश्वास नहीं किया। क्या यह सच है ?"

"सीडीने कहा था ?"

"कुछ नहीं, मुझे सिर्फ़ उत्सुकता हुई थी। जानते हो, मेरा अभीतक किसी कॅम्युनिस्टसे वास्ता नहीं पड़ा। दूरसे देखा है, लेकिन इतने पाससे कभी नहीं, जितने तुम हो। परेश, क्या तुम सचमुच कॅम्युनिस्ट रह चुके हो ?"

"निक्की, अगर तुम्हारी बीती हुई उम्रके पिछले पाँच साल तुम्हें कोई लौटा दे, तो तुम क्या करोगे ?"

"मैं आर्मीमें चला जाता।—परेश, मुझे एक बात का हमेशा दुख रहेगा, पिछली लड़ाईमें मैं बहुत छोटा था, वरना मैं ज़रूर जाता।"

बातचीतके इस आकस्मिक टुकड़ेपर कहानीमें कोई टिप्पणी नहीं है। बात बोलेगी हम नहीं।

निर्मलके चरित्र कहीं-कहीं जीवनकी व्यर्थतामें भी अर्थ खोजनेकी कोशिश करते दिखाई पड़ते हैं और निरुद्देश्यतामें भी एक उद्देश्य, एक आस्थाकी तलाश है। और इन तमाम अन्तर्विरोधोंको अपने अन्दर लिये हुए एक भविष्यकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, क्योंकि भविष्य उनकी प्रतीक्षा कर रहा है—

"सितम्बरकी एक शाम" :

"सारी दुनिया उसकी प्रतीक्षा कर रही है कि वह उसे अर्थ दे, उसकी बाट जोह रही है—साँस रोके !"—

"उसने आँखें उठायीं—सारी दुनिया सामने पड़ी थी, और उसकी उम्र सत्ताईस वर्षकी थी।"

निर्मलकी यह 'प्रतीक्षा' इतनी विशद है कि प्रेमकी कहानीमें भी प्रेम-भावनाका अतिक्रमण कर जाती है और अपने विस्तारमें सम्पूर्ण मानव-नियतिका प्रश्न बन जाती है। निर्मलकी पैनी दृष्टि भलीभाँति देखती है कि एक ही प्रश्न है जिसका सामना आजका युवक भी कर रहा है और युवती भी। इसकी काली छाया एक ओर बेरोज़गारीकी शक्लमें दिखाई

पड़ती है, तो दूसरी ओर प्रेमके निजी क्षेत्रको भी ग्रस रही है। जीवनका यही व्यापक परिवेश-बोध है जिसके कारण निर्मलकी प्रेम-कहानियाँ भी नितान्त प्रेम-कहानी न होकर जीवनकी अन्य समस्याओंसे जुड़ जाती हैं। "एक पहेली-सी रहस्यमयता है जो क्षणिक होते हुए भी एक असीमता घेरे है।"

'परिन्दे' की नायिका लतिका राह चलते-चलते अचानक सिरके ऊपर पक्षियोंका बेड़ा उड़ते देखती है और अपने-आप सोचने लगती है :

"हर साल सर्दीकी छुट्टियोंसे पहले ये परिन्दे मैदानोंकी ओर उड़ते हैं, कुछ दिनोंके लिए बीचके इस पहाड़ी स्टेशनपर बसेरा करते हैं, प्रतीक्षा करते हैं बर्फ़के दिनोंकी, जब वे नीचे अजनबी, अनजान देशोंमें उड़ जायेंगे—

क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं? वह, डॉक्टर मुकर्जी, मि० ह्यूबर्ट—लेकिन कहाँके लिए? हम कहाँ जायेंगे?"

"हम कहाँ जायेंगे? यह सिर्फ़ एक व्यक्तिका प्रश्न नहीं है, इनका, उनका, सबका प्रश्न है और मानव-नियतिका यह विराट् प्रश्न सारी कहानीपर छा जाता है।

प्रश्नकी यह गूँज कुछ-कुछ वैसी ही है, जैसी चेखॅवकी प्रायः तमाम कहानियोंमें कहीं-न-कहीं गूँजती रहती है..."हम क्या करें?" गोया सारा जमाना एक साथ पूछ रहा है—क्या करें? कहाँ जायें?

निर्मल इस प्रश्नके ठीक बाद धीमे स्वरमें केवल इतना कहते हैं : "किन्तु उसका कोई उत्तर नहीं मिला।"

निर्मलकी यह खामोशी खास अपनी है। ज़िन्दगी अकसर सामने ऐसे सवाल रखती है कि समझदार कुछ देरके लिए खामोश हो जाते हैं, जब कि ज़्यादातर लोग ऐसे भी होते हैं जो खामोश नहीं रह सकते, उन्हें जवाबकी जल्दी रहती है, सवाल चाहे जो हो।

कहानी इसके बाद भी चलती है। ज़िन्दगी इसके बाद भी है। एक

जवाब मिल जाता है और नया सवाल खड़ा हो जाता है, प्रतीक्षा फिर भी है लेकिन नये उत्तरकी ।

इस विश्लेषणसे स्पष्ट हो सकता है कि निर्मलकी कहानियोंके प्रभावके पीछे जीवनकी गहरी समझ और कलाका कठोर अनुशासन है । बारीकियाँ दिखाई नहीं पड़ती हैं, तो प्रभावकी तीव्रताके कारण अथवा कलाके सघन रचावके कारण । एक बार दिशा-संकेत मिल जानेपर निरर्थक प्रतीत होनेवाली छोटी-छोटी बातें भी सार्थक हो उठती हैं, चाहे कहानी हो, चाहे जीवन । कठिनाई यह है कि दिशा-संकेत निर्मलकी कहानीमें बड़ी सहजतासे आता है और प्रायः ऐसी अप्रत्याशित जगह जहाँ देखनेके हम अभ्यस्त नहीं हैं । क्या जीवनमें भी सत्य इसी प्रकार अप्रत्याशित रूपसे यहीं कहीं साधारण-से स्थलमें निहित नहीं होता । कहा तो है निर्मलने बिट्टोके लिए, लेकिन क्या यह कथन उनकी कहानीके लिए भी सच नहीं है ?—

"आज सोचता हूँ, जानेसे पहले बिट्टो कुछ ऐसा कहतीं, जिससे कोई विचित्र चमत्कार उद्घाटित हो पाता···लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ । वह जिस तरह अचानक कमरेमें घुस आयी थीं, वैसे ही सहज भावसे चली गयीं । उस समय मुझे ऐसा आभास हुआ था कि वह जाते-जाते दरवाज़े-पर क्षण-भर ठिठकी थीं, मानो कोई बात कहने जा रही हों, जैसे कुछ शेष रह गया है····लेकिन शायद यह मेरा भ्रम था ।"

ज़रूर भ्रम हो सकता है, यदि कहानीके अन्तिम कथनके लिए ही कान लगे रहें । जिस तरह बिट्टो अपनी बात साहचर्यके ही क्षणोंमें अनायास कह चुकी थीं, निर्मलकी कहानी भी अभिप्रेतको अन्तसे पहले ही कहीं कह जाती है । जीवनका सत्य यदि मृत्युके समय ही मिलता हो तो ऐसे सत्यान्वेषियोंको आँख मूँदकर केवल मृत्युकी प्रतीक्षा करनी चाहिए या जल्दी हो तो एक छलाँगमें आ चुकी सारी दूरी पार कर

मृत्युके तुरन्त समीप पहुँच जाना चाहिए।

ऐसे सत्यान्वेषणका एक दूसरा पहलू है—सतहके चाकचिक्यको ही इदमित्थं मान लेना। ऐसे भी पाठक हैं जिन्हें निर्मलकी कहानियोंके दृश्य-चित्र अच्छे लगते हैं, सूक्ष्म इन्द्रिय-बोध जगानेवाली छवियाँ पसन्द हैं, तथा अनुभूतिपूर्ण क्षणोंका आलेख सुहाता है। शायद ऐसे ही लोगोंके लिए 'डायरीका खेल' में निर्मल कहते हैं: "किन्तु बिट्टोका सत्य क्या इन बातों, घटनाओं, स्मृतियोंका जोड़ मात्र है······क्या उससे परे कुछ नहीं······कुछ भी नहीं?

कहानीका अभिप्रेत इन चित्रोंको प्रस्तुत करते हुए भी उनका अतिक्रमण करता है। क्या पाठकसे भी ऐसे अतिक्रमणकी माँग नहीं की जा सकती?

निर्मलने अपनी रचनाके द्वारा प्रमाणित कर दिया है कि, जो सबका अतिक्रमण करनेकी क्षमता रखता है, वही सबको सजीव चित्रोंमें उरेहनेकी सिद्धि भी प्राप्त करता है। निर्मलने स्थूल यथार्थकी सीमा पार करनेकी कोशिश की है, उन्होंने तात्कालिक वर्तमानका अतिक्रमण करना चाहा है, उन्होंने प्रचलित कहानी-कलाके दायरेसे भी बाहर निकलनेकी कोशिश की है, यहाँतक कि शब्दकी अभेद्य दीवारको लाँघकर शब्दके पहलेके 'मौन जगत्' में प्रवेश करनेका भी प्रयत्न किया है और वहाँ जाकर प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोधके द्वारा वस्तुओंके मूल रूपको पकड़नेका साहस दिखलाया है। इसीलिए उनकी कहानी-कलामें नवीनता है, भाषामें नवजातककी-सी सहजता और ताज़गी है, वस्तुओंके चित्रोंमें पहले-पहल देखे जानेका अपरिचित टटकापन है। उनका गद्य 'शुद्ध गद्य' है······ठेठ वाचक शब्द, विशेषणहीन संज्ञाएँ, उपमारहित पद तथा स्वतन्त्र वाक्य। अलग-अलग करके देखनेपर हर शब्द मामूली है, हर वाक्य साधारण है, लेकिन पूरा प्रभाव ज़बरदस्त है। गद्यकी रुखाईसे भी वे स्थितियोंके अनुरोधसे कवित्व-पूर्ण प्रभाव उत्पन्न कर ले जाते हैं। कवित्व लानेके लिए उन्हें दूसरे कथा-

कारोंकी तरह अलगसे किसी देशी या विदेशी भाषाकी कविता उद्धृत करनेकी ज़रूरत महसूस नहीं होती। छोटेसे छोटे ब्यौरेपर भी उनकी पकड़ है और बड़ा-बड़ा सवाल भी पकड़की सीमाके अन्दर है।

कहानियाँ फ़क़त सात हैं, संग्रह अभी पहला है, लेकिन जिसे हम 'नयी कहानी' कहना चाहते हैं, सम्भवतः उसका भी पहला संग्रह यही है।

फिर भी अन्तमें एक बात कहनेके लिए रह जाती है और बेहतर है कि उसे निर्मलके ही शब्दोंमें कहा जाये। आत्मस्वीकृति 'तीसरा गवाह' मि० रोहतगीकी है···

"जब कभी सोचता हूँ, हर बार कोई नया नुक़्ता उभर आता है, जिसकी तरफ़ पहले ध्यान नहीं गया था, या किसी बातका नया पहलू नज़र लगता है जिसे पहले न देख सका था।"

● ●

मार्कण्डेय

अश्कके नाम एक औरतका ख़त*

प्रिय अश्कजी,

मेरा पत्र पाकर आपको हलकी-सी झुँझलाहट और हैरानी होगी, शायद आपको यह भी लगे कि मैं 'शक्को' ('ठहराव' की नायिका) के पत्रका उत्तर आपको क्यों दे रही हूँ ? बात कुछ अजीब-सी है भी—पत्र किसीका और उत्तर किसीको ! साधारणत: यह होता ही नहीं। जीवन अपने सहज रूपमें किसी पूर्व-नियोजित मोरचेपर मात्र लेखककी कुण्ठाकी पूर्तिके लिए आयोजित नहीं हो सकता। हार-जीतके समन्वित योगके भीतरसे ही प्रयत्नोंकी छान-बीन हो सकती है—और होती है। पर आपके लिए यह सब मनुष्यकी कमज़ोरियोंमें शामिल है और हर स्थितिमें सफलताकी खोजको ही आप कलामें भी परम लक्ष्य बना लेते हैं, इसलिए प्रेमका कोई व्यवस्थित प्रसंग मिलते ही आप झट उसमें बिचवई करनेके लिए पक्षधर बनकर पत्र लिख देनेकी सीमा तक पहुँच जाते हैं। शायद 'शक्को' को न लिखकर आपको सीधे पत्र लिखनेकी मेरी बातका इससे अधिक स्पष्टीकरण ज़रूरी न हो। नाममें क्या रखा है, अश्कजी, बात आपकी है, इसलिए यह उत्तर भी सीधे आपको लिख रही हूँ।

ठीक भी है, शक्को आपकी रचना है इसलिए अगर उसके मुँहमें अपनी ज़बान और सीनेमें अपना दिल रख दिया है तो इसे बुरा नहीं माना जाना चाहिए। सभी ऐसा करते हैं, लेकिन सच्चाईके नज़दीक वही पहुँचते

---

* पलंग : उपेन्द्रनाथ अश्क

हैं जिनके पास चरित्र और उसके पूरे परिवेशकी समझ और उसकी रचना-के लिए शिल्पगत कुशलता होती है। आपके पास नहीं है, यह कह गुजरनेकी धृष्टता तो मैं नहीं करूँगी, लेकिन इतना जरूर कहना चाहूँगी कि 'ठहराव'-में आवेग और ममताकी जो कसौटियाँ आपने निर्मित की हैं, वे शब्दार्थमें तो परम भ्रामक हैं ही, कहानीके घटना-चक्र और रचना-प्रक्रियाकी कम-ज़ोरियोंके कारण और भी अर्थहीन हो उठी हैं। 'हैमी' और 'नागपाल' दोनोंके लिए कथामें जो प्रसंग आपने जुटाये हैं, उनमें न तो आवेग है, न ममता है।

बेचारा 'हैमी'!···रातको सोतेमें चौंककर पूछता है, "कौन"? और आपकी 'शक्को' रानी उत्तर देती हैं, "मैं शक्को! मेरे होठोंसे बमुश्किल आवाज़ निकली····और दूसरे ही क्षण मैं उसके सीनेसे चिपट गयी।" आवेग होता तो शक्कोजी बच्चे-जैसी हो जातीं और बुरा न मानें अगर मैं कहूँ कि शक्कोकी जगह मैं होती तो हैमीको इस ठण्डेपनका पूरा मज़ा चखाती और उसे तीसरे सेक्सका मान बैठती। और अगर इसे मात्र 'शक्को' का आवेग मानें तो 'नागपाल' के सम्पर्कमें कौन-सी ममता मिली 'शक्को'को? वही न, कि सुहागरातको निहायत उबाऊ ढंगसे वह मृत माँकी कथा लेकर बैठ गया और उन बातोंकी चर्चा करने लगा जो मात्र माँ शब्दकी ध्वनिमें सन्निहित हैं। इतना ही नहीं, निहायत सिनेमाई ढंगसे दोनों बैठकमें कैसे माँकी तसवीरके आगे भी पहुँच गये—ग़नीमत समझिए कि 'शक्को' ने इस समय कोई गाना शुरू नहीं किया, वरना फ़िल्मी शिल्पके इस प्रसंग-दृश्यको पूर्णता मिल जाती। मैं तो यहाँतक कहती हूँ कि 'शक्को' या किसी युवतीकी बात छोड़ दीजिए, ज़रा अपने पाठकोंसे पूछिए कि कहानी-के इस भागको पढ़ते हुए उसके दिलपर क्या गुज़री? नौकरके साथ 'नागपाल'की माँकी कृपावाली बात भी इतनी स्टेल और सतही है कि बेचारी माँके ऊपर किसीका ध्यान पल-भरको भी नहीं टिकता। लेकिन हद तो पहले ही हो गयी, जब नागपाल सुहागरातके कमरेमें दाखिल होते ही

अपनी बंहूसे पूछता है कि तुम्हें कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई और बेचारी चाचीको, जो शादीके इन्तज़ाममें लगी हुई थी; शिकायत करने लगता है। अगर 'शक्को'में ममता उमड़ आनेके यही कारण थे तो इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि मात्र लेखकने इस ममता-भरे स्नेहकी अनुभूति की होगी— सामान्य पाठक तो इस प्रसंगपर परदा डालनेके लिए कहानीका अगला पृष्ठ देखनेकी ओर बढ़ जाता है।

अगर खींच-तान कर भी इन्हें विश्वसनीय मानव-चरित्रोंकी संज्ञा दी जाये तो भी कहानीकी शिल्पगत गठनकी कमज़ोरियोंके कारण वे ग्राह्य नहीं होते। लेकिन ध्यान देनेकी बात है कि इन्हीं दोनों चरित्रोंको आपकी सहानुभूति प्राप्त है, क्योंकि ममताकी नींवपर प्रेमकी इमारत खड़ी करने-का भार इन्हींके दुर्बल कन्धोंपर आ पड़ा है। आखिर क्या बात है, अश्कजी, कि जो पात्र आपकी मान्यताओंका बोझ ढोनेका काम करते हैं, वे ही नक़ली हो उठते हैं? 'हैमी' ज़रूर जीवित है, क्योंकि, वह 'शक्को' के आवेगकी धारपर अपनी सम्पूर्ण सहजताके कारण बलिदान हो चुका है। यही हालत 'झाग और मुस्कान'के हरियाकी है, जो अपनी समस्त असंगतियोंके साथ ही उभरा है और एक समर्थ और श्रेष्ठ चरित्रके रूपमें उस कहानीकी रीढ़ बन गया है।

मुझे बार-बार लगता है, जैसे अपने वैयक्तिक अनुभवोंके लिए ही आपका रचनाकार पूर्णतः समर्पित है और अपनेपर इस क़दर लुभाये रहने-के कारण आपकी 'सहानुभूति'के चरित्र मशीनी हो उठते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि आपके जीवनानुभव ही असामान्य हैं?

'पलंग'के 'केशी'की अतीव स्नायविक नाटकीयताके लिए फिर आपने सुहाग-कक्ष ही चुना और फिर बेचारी माँको प्रेतकी तरह पृष्ठ-भूमिमें ला खड़ा किया। क्या आपको ऐसा नहीं लगा कि अवान्तर प्रसंगोंके बावजूद 'नागपाल' और 'केशी'में कोई विशेष अन्तर नहीं है?

इन दोनों चरित्रोंके पीछे कलागत अन्त:संघर्षकी कोई पीठिका नहीं उभ-रती। इतना ज़रूर लगता है कि आपके मनमें इन चरित्रोंके लिए कोई उद्वेग ज़रूर है, पर उसे कलात्मक सौष्ठव देनेमें आप किन्हीं कारणोंसे सफल नहीं हो पाये हैं। इतना ही नहीं, मुझे तो लगता है कि 'झाग और मुस्कान' के 'मलहोत्रा' और 'बेबसी' के 'लाल' को भी आपने उसी मिट्टीसे गढ़ा है। उम्र इन दोनोंकी ज़्यादा है, इसलिए 'हिसाब-किताब' में ये और भी प्रवीण और अधिक ठण्डे हैं, लेकिन अगर इनकी सुहाग-रातकी हालत आप जान सकें तो मुझे पूरा यक़ीन है कि इन दोनोंने भी 'नागपाल' और 'केशी' से कम ड्रामा उस रात नहीं किया होगा। आवेग (जिसे मैं शक्ति मानती हूँ) की कमीको पूरा करनेके लिए किसी भी अन्य मानवीय प्रकृतिको प्रेमके आधारके रूपमें मानना स्वयं अपनेमें एक बड़ा असन्तुलन है। बहरहाल, मेरी राय तो यह है कि इन चरित्रोंको आप कुछ दिन असली शिलाजीतके सेवनकी सलाह दें।

अश्कजी, विश्वास करें, यह लिखते हुए मैं 'शक्को' का मज़ाक़ नहीं उड़ा रही हूँ, मुझे उसकी मानसिक पीड़ाका पूरा एहसास है। सेक्स और ऐकान्तिक जीवनमें समझौता करके जीनेवाली स्त्री संसारकी सबसे दयनीय प्राणी होती है और उस हालतमें तो और भी, जब वह एक सन्तुलित और सहज व्यक्तिकी चहेती रह चुकी हो। औरत कोई अलग चीज़ नहीं है वैसे ही, जैसे प्रेम कोई चीज़ नहीं जिसमें आवेग हो ही न। औरतको पहेली मानकर ममता, आवेग आदिके द्वारा घपलेको जीवित रखने और रेशे उधेड़ते जानेमें मैं कोई बुराई नहीं देखती, पर इतना ज़रूर कहना चाहती हूँ कि प्रेमकी प्रतिक्रिया स्त्री-पुरुष दोनोंमें ही होती है, भिन्न स्तर हो सकते हैं पर वह एक और ही नहीं होती। बहुत-से पुरुष स्त्रीके समान और स्त्रियाँ पुरुषकी तरह प्यारको ग्रहण करती हैं और मैंने जो कुछ भी जाना-समझा है उससे यही नतीजे निकले हैं कि सेक्सके साथ आवेग एक आवश्यक तत्त्व है और बिना सेक्सके प्रेमकी बात करना तो

मानवीय रागके प्रवेश-द्वारकी अनभिज्ञता ही प्रकट करेगा—ममताका द्वार तो इसके बाद पड़ता है। लेकिन लगता है आप घरमें पहलेसे ही घुसे बैठे हैं और अबतक यह भूल चुके हैं कि वहाँतक पहुँचनेके मार्गमें पहला दरवाज़ा कौन-सा था। अन्दर अनेक द्वार हैं। अश्कजी, असलमें भूल-भुलैयाकी क़रामात ही ऐसी है। प्रवेश-द्वारका ठीक ज्ञान रखनेवाले विरले ही होते हैं। उन्हें जैसे अपना घर, तैसी भूलभुलैया—हर तरफ़से, हर जगहसे जब जैसे भी चाहें देख लीजिए—प्रवेशमें कोई ग़लती नहीं होगी, इसलिए ऐसे लोगोंको द्रष्टा कहा जाता है।

पत्र खासा लम्बा होता जा रहा है और मैं उन्हीं कहानियोंकी चर्चा-में उलझी रह गयी जो इस संग्रहके मुख्य स्वरके रूपमें विज्ञप्त हैं, लेकिन आपके कलाकारकी मुख्य उपलब्धियाँ ये नहीं हैं। विरुद्ध भावप्रकृतिकी रचनामें ही आपको सफलता मिलती है—जहाँ आप आलोचक होते हैं और असम्पृक्त होकर व्यंग्य अथवा विरोध करते हैं। 'ख़ाली डिब्बा'में इसी कारण चरित्रके कोण साफ़ उभरे हैं और बात बन गयी है। सहज रचना होनेके साथ ही कथानककी कृत्रिमता अथवा शिल्पका मशीनीकरण ऐसी कहानियोंमें नहीं आ पाता।

'झाग और मुस्कान' के 'हरिया' के लिए मैं बधाई भेजती हूँ। काश, प्रोफ़ेसर मलहोत्राके बेमानी अनुभव-तन्त्र इस कहानीमें कम होते।

'हैमी' अच्छा है, अश्कजी, मैंने उसे सम्पूर्ण विरोधाभासों और अन्तः-संघर्षोंमें पाया है, इसलिए 'शक्को' की भाँति मेरे आगे हार-जीतकी कोई बाज़ी नहीं है—प्रेमके किसी आगामी अनुभवसे इस सम्बन्धकी 'भर्त्सना' करनेका भी मेरा इरादा नहीं है। वरना इस विस्तृत संसारमें प्रेमका अनुभव ही जोड़ती रह जाऊँगी और हर अगला व्यक्ति एक नयी अनुभूति-के साथ प्यार करता रहेगा। मानव-सभ्यताने प्रयोगके लिए इस क्षेत्रमें

कोई गुंजायश नहीं छोड़ी है, इसलिए मैं 'हैमी' से पढ़ती हूँ—भावनाओं-के चक्करमें भी पड़ गयी हूँ, अच्छे नम्बरोंसे पास होकर 'हैमी'से विवाह भी करना चाहती हूँ। आशा है आशीर्वचन ज़रूर भेजेंगे।

स्नेहाधीन, आपकी
('ठहराव'की) 'मन्नो'

● ●

दूधनाथ सिंह

अनुभवका अपनापन*

हिन्दीके नये कहानीकारोंमें मोहन राकेश शायद सबसे अधिक लोकप्रिय कहानीकार हैं। यह बात मैं आलोचकों और पाठकों, दोनोंको ध्यानमें रखकर कह रहा हूँ। प्रमुख कारण इसका यह है कि कहानीका सशक्त व्यक्तित्व आलोचकको भी अन्ततः एक साधारण पाठककी तरह अपनेमें इतना घुला लेता है कि उसकी सारी प्रतिक्रियाएँ कहानीकारके आग्रह और संकेतोंके अनुसार ही प्रतिफलित होती हैं। राकेशकी लोकप्रियताकी यह वजह उनके एक सक्षम और सफल कहानीकार होनेका प्रमाण है।

आलोचकोंने 'नयी', 'आधुनिक' और 'अच्छी' कहानियोंके जितने भी गुण बताये हैं, वे सभी राकेशकी कहानियोंमें मिल जायेंगे। नवीनताके ऊपर स्वयं राकेशके भी अपने विचार हैं जो बड़े ही सीधे-सादे ढंगसे प्रस्तुत पुस्तककी भूमिकाके रूपमें संकलित हैं। राकेशके किसी भी पाठकके लिए यह भूमिका एक निष्पक्ष 'गाइड' का काम कर सकती है।

लेकिन ऐसा क्या है जो राकेशको हिन्दी कहानीकी परम्परामें इतना लोकप्रिय साबित करता है। मैं कहूँगा 'अनुभवका अपनापन'। यही वह विशिष्ट कोण है, जो राकेशकी कहानियोंसे उभरता है। कहानीकी सारी बुनावटमें इतनी निकटता, इतने तादात्म्यकी अनुभूति पाठकको होती है कि वह तटस्थ रहकर किसी पात्र-विशेषकी विशेषताओंको लक्ष्य नहीं करता है। वह यह नहीं सोचता कि जिस पात्रकी कहानी वह पढ़ रहा है, वह

---

* एक और ज़िन्दगी : मोहन राकेश

उसमें किसी अंशभूत रूपमें निहित नहीं है—वह उपहास, या दम्भ, या ग़लत निर्णय, या भटकाव, या ललक जो उनकी कहानियोंमें व्यक्त है—उसका साक्षी प्रत्येक पाठक है। सैद्धान्तिक आग्रहसे परे अनुभवकी यह सचाई (निजी अनुभव नहीं) ही राकेशको एक श्रेष्ठ कलाकारके रूपमें सामने ला खड़ा करती है। उदाहरणके लिए इस संग्रहकी अन्तिम कहानीको लिया जा सकता है। जिस अन्तहीन यातनाका साक्षी 'प्रकाश' है, जिस अस्त-व्यस्तताका किंकर्तव्यविमूढ़ता और नियतिबद्धताका, उसी 'सच' का प्रतिपादन 'मिस पाल' भी एक दूसरे माध्यमसे करती है।

आधुनिक भारतीय जीवनके सारे संघर्षोंका सटीक और सच्चा और सहानुभूतिपूर्ण वर्णन राकेशकी इन कहानियोंमें व्यक्त है। लेकिन जहाँपर यथार्थकी बात उठायी जाती है, वहाँपर राकेश झँझोड़ देनेवाले, तिलमिला देनेवाले व्यंग्यसे काम लेते हैं। व्यक्तिकी सारी कुण्ठाओं, ग़लत निर्णयों या उसकी सहज स्वाभाविक आन्तरिक ललक (मिस पाल, प्रकाश, मनोरमा) के प्रति वे भावुक बनकर कोई सहानुभूति प्रदर्शित न करके सक्षम भाषाके माध्यमसे अत्यन्त कठोर व्यंग्य करके स्थितिका संकेत और भी गहरा कर देते हैं। कहा जाये तो कह सकते हैं कि राकेशकी चरम सफलता, पात्रों, स्थितियों और समस्याओंके प्रति उनकी तीव्र अनुवीक्षण-शक्ति और सच्ची सहानुभूति इसी स्तरपर जाकर सफल रूपमें संकेतित होती है। 'मिस पाल' बच्चोंको देखकर कहती है "कितने ख़ूबसूरत हैं! हैं न?" बच्चे उसपर हँस रहे हैं, चिढ़ा रहे हैं—"यह औरत नहीं, मर्द है"। मिस पालको इस बातसे तनिक भी दुःख नहीं होता। वह ऑफ़िस छोड़कर चली जाती है क्योंकि लोग सभ्य नहीं हैं। वह चित्रकारी करती है। तीन दिनोंकी बासी सब्ज़ी और रोटियाँ खाती है। फिर भी वह समझती है कि वह कुछ है—जब कि वह एक नियतिकी विडम्बना-भर है। एक ओर 'प्रकाश' है—ग़लत निर्णयका फल भोगता, अन्तहीन, समाधानहीन जीवन ढोता—एक क्षणके सुखमें आहत और बेहोश। एक ओर 'मनोरमा' है। इस तरहकी

अन्तहीन यातनाके नियतिबद्ध संकेत राकेशकी अन्य कहानियोंमें (आर्द्रा, जानवर और जानवर, अपरिचित) भी मिलते हैं। कभी-कभी लगता है कि कहीं लेखक इस अनुभवसे ग्रस्त तो नहीं है। क्योंकि उसके चरित्रोंमें एक आन्तरिक व्यक्तित्व-साम्य भी खोजनेपर मिल जाता है—जीनेका, भोगनेका, और सहनेका एक-सा ढंग, एक-सी मान्यता। इसके अतिरिक्त भी राकेशकी कहानियोंके स्तर हैं—जैसे 'गुनाहे बेलज़्ज़त' का, 'जीनियस' का या 'वारिस' का, जिनमें मात्र चरित्रांकनकी ख़ूबियोंको उभारनेके लिए कहानी कही जाती है। एक दूसरा स्तर भी है जिसे राकेश कभी-कभी छू जाते हैं—हास्यका। जिसका हलका-सा पुट 'बस स्टैण्डकी एक रात' में मिल जाता है। लेकिन पूरी कहानीका संकेत उनकी किसी भी कहानीमें हलके-फुलके स्तरपर ख़त्म नहीं होता।

शिल्प और भाषा, और वातावरण-सृष्टि—अर्थात् कहानीकी सारी बुनावटमें राकेश सिद्धहस्त हैं। इस दृष्टिसे उनकी हर कहानी अपने-आपमें सम्पूर्णतः तराशी हुई लगती है जैसे तेज़ चाक़ूसे लक्स साबुनको बीचसे आप काट दें। शिल्पकी अनेक ख़ूबियाँ, भाषाके अनेक सहज और विषयानुकूल रूप उनकी कहानियोंमें ढूँढ़े जा सकते हैं। चूँकि इस तरहकी ख़ूबियोंका दिग्दर्शन अनेक बार हो चुका है इसलिए उनकी आवृत्ति कोई महत्त्व नहीं रखती। बस।

● ●

कुँवर नारायण

आधुनिकताकी तरफ़दार*

नयी कहानीका नयापन भी बहुत-कुछ उन्हीं संवेदनाओंका विश्लेषण होगा जिन्हें हम आजके साहित्यका विशिष्ट बोध मानते हैं। मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद दोनों ही ने आजके मनुष्यको अपनी स्थिति अधिक तार्किक ढंगसे समझनेको ओर प्रोत्साहित किया है। समझने और समझानेका साधन, यानी भाषा, आज उसके लिए एक साहित्यिक महत्त्व ही नहीं वैज्ञानिक वास्तविकता भी रखती है। हर क्षेत्रमें मनुष्य अपने-आपको अपनी परिस्थितियोंके लिए कुछ इस तरह जिम्मेदार पाता है कि नये मानव-मूल्योंकी खोज और उनका विश्लेषण उसके लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है। इन सबका क्रान्तिकारी प्रभाव उसकी चिन्तन-विधि और साहित्यपर पड़ा है। प्रस्तुत दोनों संग्रहोंको लेकर कुछ ऐसे तथ्य सामने आते हैं जो कहानी ही नहीं साहित्यकी अन्य विधाओंके सन्दर्भमें भी विचारणीय हैं।

उषा प्रियंवदाकी एक कहानीको लेकर जो लम्बी चर्चा 'नयी कहानियाँ' में आरम्भ हुई थी उसने कुछ उत्सुकता अवश्य जगायी थी, लेकिन बहुत आश्वस्त नहीं किया। वह चर्चा कहानीपर न केन्द्रित रहकर कहानीकारोंपर अधिक मुखर रही : नये और पुरानेको लेकर—'नयी कविता' के वज़नपर—एक ऐसे वादविवादमें फँसी कि उससे नयी या पुरानी कहानीके बारेमें कोई निष्कर्ष निकालना कठिन हो गया। यह

* ज़िन्दगी और गुलाबके फूल : उषा प्रियंवदा

शायद लेखिकाके हितमें ही रहा कि उससे शुरू हुई चर्चा शीघ्र ही उसे छोड़कर दूसरोंपर समाप्त हुई—या दूसरे उससे समाप्त हुए ! उस लम्बी कहा-सुनीकी सबसे बड़ी निष्फलता मुझे यही लगती है कि किसीने उस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकी छानबीन करना आवश्यक नहीं समझा जो आजकी कहानीकी कथा-वस्तुमें उतना नहीं परिलक्षित होता जितना कहानीकारकी विज्ञान-युगीन संवेदनाओंमें ।

शुद्ध कथानकको लें तो 'ज़िन्दगी और गुलाबके फूल' की कोई भी कहानी प्रेमचन्द-कालीन हो सकती थी, लेकिन उन कहानियोंके माध्यमसे लेखिका जिस प्रकार जीवनको सोचती है वह मूलत: उस युगसे भिन्न है—समकालीन है । उदाहरणके लिए इस संग्रहकी एक कहानीका सारा वातावरण और चरित्र पूर्व-परिचित लगते हैं, और पाठक जब कि उससे कोई नयी बात पानेकी आशा लगभग छोड़ चुका होता है, कहानीका अन्तिम वाक्य इस तरह सामने आता है कि सारी कहानी एक सर्वथा नया अभिप्राय, एक नितान्त मौलिक दृष्टिकोणका बल, पा जाती है ।

इस संवेदनाका नयी कहानीके सन्दर्भमें विशेष महत्त्व है जो कहानीके क्षेत्रमें धीरे-धीरे विकसित हुई है, जब कि कविताके क्षेत्रमें इसके परिवर्तनका ढंग अधिक व्यक्ति-केन्द्रित—इसलिए अधिक क्रान्तिकारी रहा । नयी कविताकी तरह जनरुचिकी अवहेलना करके भी परिवर्तित होना नयी कहानीके लिए सम्भव भी न था । 'ज़िन्दगी और गुलाबके फूल' की कहानियाँ कहीं भी एक नये तरहके पाठककी माँग नहीं करतीं । सामान्य अनुभवोंको इस तरह नया सन्दर्भ देती हैं कि पाठकको कहीं भी संस्कारगत धक्का नहीं लगता ।

रूप (फ़ॉर्म) की दृष्टिसे, जैसा कि मैंने अभी कहा, उषा प्रियंवदाकी कहानियाँ पुरानेके अधिक निकट हैं : दूसरे शब्दोंमें, वे साहित्यके अन्य 'प्रकारों' से कम प्रभावित हैं । नयी कहानीके कई ऐसे तत्त्व हैं जिनका सीधा सम्बन्ध उन प्रश्नोंसे है जो साहित्यके अन्य क्षेत्रोंमें उठे या

उठाये गये। (निर्मल वर्माने अपनी कहानियोंमें कई जगह भाषा और शब्दोंकी ओर संकेत किया है।) इसीलिए शायद आज कहानीको लेकर तकनीककी बात उठाना इतना अनावश्यक नहीं लगता जितना शायद कुछ दशकों पहले लगता। कुछ अन्य कारणोंसे उषा प्रियंवदाकी कहानियोंको लेकर भी तकनीककी बात उठाना बहुत ज़रूरी नहीं लगता : आधुनिक विचारों और रहन-सहनका जो नया संस्कार लेखिकाके मूलतः भारतीय दृष्टिकोणपर पड़ा है वह अधिक आकर्षित करता है। कहानियोंमें तमाम रूढ़ि-परिस्थितियों और घटनाओंसे गुज़रते हुए भी वे अपनेको रूढ़ि-निष्कर्षोंसे बचाती हैं : मानो जीना ही नहीं, समझदारीसे जीना ज्यादा ज़रूरी है। किसी भी स्तरपर जीते हुए वे विवेककी तरफ़दार हैं, मानो लेखिका इस तथ्यके प्रति बराबर सचेत है कि विकासशील जीवनमूल्य मनुष्यकी इच्छा-क्षमतासे अधिक उसकी चिन्तन-क्षमतापर निर्भर करते हैं। इस आग्रहके बावजूद कहानियाँ एक सहज प्रभाव मनपर डालती हैं— कि कहानी मुख्यतः जीवन-वस्तु है। बातको सँभालकर कहना, जीवनमें पूरी तरह रमकर कहना—रूपको अपने-आपपर छोड़ देना। तकनीक गौण है लेकिन अनुभूत इतना खरा और पैना उतरता है कि तकनीककी बात उठाना ज़रूरी नहीं लगता—बल्कि यह आशंका होती है कि लेखिकासे इससे भिन्न कोई आशा करना शायद उसकी संवेदनाओंकी ताजगी और सचाईको धुँधला कर दे। हर कहानी एक सार्थक प्रभाव मनपर डालती है, जिसके पीछे जीवनसे घनिष्ठ सम्पर्क और सूक्ष्म निरीक्षण झलकता है। भावनाओंमें भी कातरता या दुर्बलता नहीं, विचारोंकी-सी गरिमा, संयम और गहराई है। ऐसा लगता है कि लेखिकाकी सफलता कहानी-कलामें कोई बहुत मौलिक प्रयोगके कारण उतनी नहीं जितनी कुछ परिचित कमज़ोरियोंसे अपनेको बचा जानेके कारण है। हिन्दीके लिए शायद यह सिद्ध कर सकना भी काफ़ी नयी चीज़ है कि भावनाओंको बिना कुण्ठित किये भी नियन्त्रित रखा जा सकता है।

उषा प्रियंवदाके चरित्र स्वाभाविक आकांक्षाओं और आवश्यकताओं-वाले लोग हैं, रोज़के आर्थिक और आपसी सम्बन्धोंके बीच। वे जीवनको लेकर कोई बुनियादी सवाल नहीं उठाते। वे ज़्यादातर 'टाइप'-चरित्रों और परिस्थितियोंके द्वारा एक विशेष संवेदनाको प्रसार-सा देती लगती हैं, जब कि निर्मल वर्मा वैसे चरित्रों और परिस्थितियोंकी अपेक्षा प्रतिकृत होते हैं।

जीवनानुभवने कितनी व्यापक कोटिका आत्म-मन्थन एक रचनाकारमें जगाया है, इसका घनिष्ठ सम्बन्ध उसकी रचना-प्रक्रियासे होता है। इसी-लिए एक अप्रौढ़ कृतिको उच्चकोटिकी रचनासे अलग करनेवाले तत्त्व अनुभवोंपर इतना निर्भर नहीं करते जितना अनुभव करनेवालेपर। उषा प्रियंवदा आसानीसे सुधारवादी क़िस्मकी सतही सामाजिक कहानियाँ लिख ले जा सकती थीं—जो प्राय: वस्तुपरक कलाकी कमज़ोरी होती है। लेकिन वे अपनेको इन खतरोंसे बचा ले जाती हैं; क्योंकि अपनी स्वाभा-विक प्रवृत्तियोंकी अपेक्षा वे उस शिक्षित जिज्ञासाको प्राथमिकता देती हैं जिसके बिना यथार्थकी सही पकड़ असम्भव है। और यह, मेरे विचारसे, आधुनिक या नयी कही जानेवाली संवेदनाका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू है।

उषा प्रियंवदा यद्यपि सहसा अधिक विविधता और मार्मिकताका आभास कराती हैं लेकिन वे किसी ऐसे विचारकोणसे जीवनको नहीं देखतीं कि व्यक्ति अपनी परिस्थितियोंसे बड़ा लगे—कामूके 'सिसीफस' की तरह। निराशापूर्ण स्थितियोंमें भी आजका मनुष्य अपनेको साहसी और अपराजित देखना चाहता है—हताश और दीन नहीं। इस प्रकार अपनेको देखना मनुष्यके लिए कोई नयी बात नहीं, लेकिन इसे एक ईमानदार रचनात्मक तर्क दे सकना अवश्य कलाको एक नया आयाम दे सकता है।

उषा प्रियंवदाकी भाषा अधिक वस्तु-सम्बन्धी ही रहती है, और इसीलिए शायद उपर्युक्त अर्थमें कुछ सीमित भी। जीवनमें आस्था व्यक्त

करते हुए भी उनके चरित्र अपनी परिस्थितियोंके अन्तर्गत रहते हैं, वे कठिनतासे कहीं विद्रोही या साहसिक नज़र आते हैं। यदि उनके सन् १९६१ में प्रकाशित उपन्यास 'पचपन खम्भे लाल दीवारें'[1] की चर्चा यहाँ बहुत अप्रासंगिक न हो तो मेरी बात और स्पष्ट हो सकती है। सुषमा और नीलका प्रेम जिन कारणोंसे असफल रह जाता है उनके पीछे कहीं मनुष्यकी संकल्प-शक्ति और बुद्धिमत्ताकी पराजय झलकती है। उस प्रेमकी एक सपाट सफलता यह होती कि दोनोंका विवाह हो जाता : उतनी ही सपाट असफलता यह रही कि दोनों अलग हो गये बिना किसी ऐसे कारणके जिसकी अनिवार्यता अधिक तर्कसंगत होती। उस प्रेमका ऐसे कारणोंको लेकर समाप्त होना, जिनकी जड़ें मनुष्यके अज्ञान और अन्धविश्वासमें हों, ऐसे मूल्योंमें हमारे विश्वासको आघात पहुँचाता है जो विवेक-जनित हैं। प्रश्न यह नहीं कि 'क्या ऐसा सम्भव नहीं ?' प्रश्न है, ऐसी सम्भावनाओंका एक कृतिमें स्थान क्या रखा गया है ? राम और रावणके संघर्षमें—शुद्ध यथार्थकी दृष्टिसे—यह भी जायज़ होता कि रावण जीतता; लेकिन रामका पक्ष कविके लिए वस्तुतः सही जीवन-मूल्योंका भी पक्ष है, और इसलिए वह एक बृहत्तर यथार्थ है।

दुःखान्त नाटकोंपर, अरस्तूके विचारोंके आधारपर, 'दुःखान्त' और 'दयनीय' के बीच शायद एक खास तरहका भेद करना उपयोगी हो सकता है। 'दुःखान्त' शास्त्रीय अर्थमें—शायद मनुष्यकी संकल्प-शक्तिके अपव्ययकी अनुभूति है, जब कि उस संकल्प-शक्तिके ह्रासकी अनुभूति 'दयनीय' है। ग्रीक दुःखान्त नाटकों या शेक्सपियरके दुःखान्त नाटकोंको सोचनेपर यह बात स्पष्ट हो जायेगी। संस्कृत नाटककारोंने इसी संकल्प-शक्तिको सुखान्त नाटकों-द्वारा देवत्व-पद तकका बड़प्पन दिया। आजके मनुष्यका इतिहास-बोध भी—यद्यपि बिलकुल दूसरी तरह—अपनेको एक

१. संग्रहकी 'पूर्ति' कहानीसे यह उपन्यास तुलनीय है।

स्वतन्त्र, क्रियाशील चेतनाके रूपमें पहचानना चाहता है। उसकी दिलचस्पी अब अपने सामाजिक-आर्थिक विवशताओंके चित्रणमें उतनी नहीं जितनी उन बौद्धिक और वैज्ञानिक सम्भावनाओंमें है जो उसे उन विवशताओंसे उबार सकें। भाग्यवादी ढंगकी मान्यताओंमें उसकी आस्था शिथिल हो चली है।

'जिन्दगी और गुलाबके फूल' की कई कहानियाँ, संकेत किया जा चुका है, इस दृष्टिसे आधुनिकताकी तरफ़दार हैं अवश्य, लेकिन अकसर वे 'दयनीय' की ही अनुभूति कराके रह जाती हैं, 'दुःखान्त' का महत् पक्ष पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं हो पाता।

● ●

ओमप्रकाश 'दीपक'

सार्थक सवालोंकी तलाश *

कमलेश्वरकी इन कहानियोंको पिछले दिनों लिखी गयी अन्य कहानियोंके सन्दर्भमें देखना दिलचस्प और उपयोगी होगा। लेकिन उससे ज़्यादा उपयुक्त होगा इन्हें कमलेश्वरकी ही पुरानी कहानियोंके सन्दर्भमें देखना, शायद ज़्यादा दिलचस्प भी। कमलेश्वरका यह तीसरा कहानी-संग्रह है (पुस्तकमें प्रकाशित सूचनाके अनुसार चौथा, लेकिन 'नीली झील' मेरी नज़रमें नहीं आया, शायद छप गया हो।) और उनके बादके दोनों संग्रह कहानी-लेखकके रूपमें उनके व्यक्तित्वको एक नये ही रूपमें प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं। जिसे 'नयी कहानी' कहा जाता है, उसका रूप स्वयं किस तेज़ीसे बदला है, इसका संकेत भी कमलेश्वरके तीनों संग्रहोंको एक साथ देखनेसे मिल जाता है। 'राजा निरबंसिया' के लेखककी रायमें "केवल सोद्देश्यताकी पृष्ठभूमिमें ही आजके लेखककी कहानियोंका अध्ययन किया जा सकता है। और इस संग्रहकी हर कहानी सवाल नहीं पूछती, जवाब देती है।" 'क़स्बेका आदमी' की प्रकाशन तिथि केवल आठ महीने बादकी है, किन्तु इतनेमें ही कहानियोंका स्वर बदल गया है। अब लेखकके पास बने-बनाये जवाब नहीं हैं, केवल संकेत हैं।

'खोयी हुइ दिशाएँ' में अन्तर्निहित संकेत भी नहीं है, आकुलता है, पीड़ा है, जो कभी सीधे व्यक्त होती है, कभी तीखे या करुण व्यंग्यके माध्यमसे और सार्थक संकेतोंकी तलाश है। एक मूल अस्वीकृति है,

* खोयी हुई दिशाएँ : कमलेश्वर

बेगानापन है। यह कुण्ठा नहीं है, कुण्ठाका विरोध है; अनास्था नहीं है, आस्थाका आग्रह है लेकिन ऐसी आस्था जो संवेद्य तो है, पर उसका कोई मूर्त्त सामाजिक रूप नहीं है, क्योंकि वह परिवेशमें नहीं है।

संग्रहकी पहली कहानी ('एक अश्लील कहानी') पढ़कर मैं बहुत-कुछ चकित रह गया था। बहुत दिनोंसे इतनी सशक्त और साहसपूर्ण कहानी मैंने नहीं पढ़ी थी—जो मध्यमवर्गीय हिन्दुस्तानी पुरुषकी ओर उँगली उठाकर, बल्कि उसकी छातीपर मुक्का मारकर कहती है: तुम पुरुष नहीं हो, केवल कार्टून हो, एक व्यंग्यपूर्ण आभास-मात्र, जो बिना अँधेरेके आवरणके नारीको नारी रूपमें ग्रहण नहीं कर सकता। नारी, जो केवल शरीर नहीं है, लेकिन सशरीर है।

बादकी कहानियाँ मैंने एक सप्ताह बाद पढ़ीं, इसलिए कि पहली कहानीके प्रभावसे कुछ मुक्त होकर पढ़ सकूँ। जैसा कमलेश्वरने भूमिकामें स्वीकार किया है, आज कहानीकारके सामने रास्ते बहुत ज्यादा खुले हुए नहीं हैं। अकसर तो व्यंग्यके सिवाय उसके पास अपनी बात कहनेका कोई ढंग नहीं रहता। या फिर बहुत गहरी करुणा। या फिर ज़िन्दगीके थम जानेकी, संवेदनाके अभावकी संवेदना। लेकिन कमलेश्वरको यह आख़िरी तरीक़ा पसन्द नहीं है, क्योंकि इसमें मजबूरीकी ही नहीं, पराजय-की भी स्वीकृति निहित है, ऐसा उनका विचार प्रतीत होता है—जो मेरा खयाल है ग़लत है, लेकिन यह अलग बात है। फलस्वरूप उनकी कहा-नियोंमें या तो व्यंग्य है ('प्रेमिका', 'जार्ज पंचमकी नाक', 'दिल्लीमें एक मौत', 'साँप') या करुणा ('पीला गुलाब', 'दुःख-भरी दुनिया', मुख्य स्वर 'एक रुकी हुई ज़िन्दगी' का भी करुणाका ही है, गो उसमें व्यंग्य भी है जो दरअसल करुणाको और गहरा करता है।) लेकिन कमलेश्वरकी अपनी विशिष्ट कहानियाँ हैं, 'खोयी हुई दिशाएँ', 'एक थी विमला' और 'पराया शहर'! ये कहानियाँ उस दबावसे, उन सीमाओंसे निकलनेका प्रयास हैं, जो लेखकको मजबूर करती हैं कि उसकी अभिव्यक्तियाँ या तो

व्यंग्यात्मक हों या करुण। ये कहानियाँ सार्थक सवालोंकी तलाश हैं, ऐसे सवाल जो आज जिन्दगीके झूठे पड़ जानेके सन्दर्भमें, संवेदनशील व्यक्तिके अपने परिवेशसे और कुछ हद तक स्वयं अपने-आपसे ही कट जानेके सन्दर्भमें कुछ सार्थक संकेत दे सकें। निस्सन्देह 'एक अश्लील कहानी' भी इसी कोटिमें आती है। लेकिन वह केवल परिवेश या व्यक्तित्वके अंश ही नहीं, मध्यमवर्गीय पुरुषके जैसे सम्पूर्ण व्यक्तित्वपर भी प्रश्न-चिह्न लगा देती है।

● ●

रंग और व्यक्ति

लक्ष्मीनारायण लाल

सरल और प्रौढ़ शिल्प*

'अंजो दीदी' हिन्दीके समर्थ नाटककार श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का सम्पूर्ण नाटक है : दो अंकोंमें सम्पूर्ण, तथा अपनी परिधिमें एक यथार्थ सामाजिक चेतनाका सत्य लिये। नाटक आधारित है अंजो दीदीके चरित्र-पर, जिसका चरित्र एक ओर गहन तथा संश्लिष्ट है, तो दूसरी ओर वह एक विशेष मनोग्रन्थिका शिकार है, जिसके तलमें एक असाधारण आभि-जात्य संस्कार तथा उससे भी आगे उसके नानाके विचारगत चरित्रका इतना गहन प्रक्षेपण उसके ऊपर है कि 'अंजो दीदी' अंजो दीदी कम है, अपने स्वर्गवासी नानाकी सजीव प्रतिनिधि ज़्यादा। और पूरी अंजो दीदी, जिसके जीवन-दर्शन और सजीव कथापर इस नाटककी रचना हुई है, एक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक सत्य तथा मानसिक प्रक्रिया है।

अतएव 'अंजो दीदी' की रचनामें इस बातका बहुत बड़ा खतरा था कि यह कृति कहीं नाटक न होकर, साइकोलॉजीके अन्तर्गत 'न्यूरासिस' या 'मॉर्बिडिटी' का अध्याय हो जाये। नाटककारने 'अंजो दीदी' को इस खतरनाक परिणतिसे बचाकर इसे एक सफल नाटक बनाया है। इसे मैं 'अश्क' की बहुत बड़ी सफलता मानता हूँ। दोनों अंकोंके बीचमें बीस वर्षोंके अन्तरालकी योजना वस्तुतः इस अचूक सफलताकी कुंजी है।

तो, अंजो दीदी मनोविज्ञानका एक सफल प्रतीक है, जिसके तलमें एक विशेष सामाजिक चेतना और संस्कारका प्रतिफलन है। अंजो

---

* अंजो दीदी : उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

दीदी—नाटककी अंजलि—जिसके पति हैं वकील साहब, श्री इन्द्रनारायण, जिनका एकलौता बेटा है नीरज। और उस घरमें हैं दो नौकर—मुन्नी और राधू—जो अंजलि-जैसी सख्त तथा सैद्धान्तिक गृहस्वामिनीके अनुशासनके पीछे दिन-रात दौड़ते नजर आते हैं; अर्थात् 'अंजो दीदी' का घर जिस सामाजिक धरातलपर है, उसे हम आसानीसे उच्च मध्यवर्ग (आभिजात्य) की संज्ञा दे सकते हैं, और यहाँ अंजो दीदीका प्रतीक है वह घड़ी, जो बड़ी खूबीसे पूरे नाटकमें सँजोयी हुई है, दृश्यगत है। इसे देखकर अंजो दीदी जैसे सदा कहती रहती है: "मेरे घरमें ब्रेकका क्या काम! मेरा घर इसी घड़ीकी तरह चलेगा—लगातार, साँझ-सवेरे, टिक-टिक....टिक-टिक। और कोई चीज़ इस नियमको तोड़ न सकेगी!" लेकिन, दुर्भाग्यवश उस नियमनिष्ठ तथा सैद्धान्तिक घड़ीमें ही एक ऐसा सत्य छिपा बैठा है, जो घड़ीको पूरी निर्ममतासे एकाएक तोड़ देता है, अर्थात् घड़ीमें ज़रूरतसे ज़्यादा चाभी दे देना। अंजो दीदी अपने मनोविज्ञानसे प्राप्त कठोर सैद्धान्तिक नियमोंमें अपनेको और पूरे घरको इतना कस देती है, इतना कि वह स्वयं तो घड़ीकी तरह टूटती ही है, भयानक ढंगसे टूटती है—पर अपने संग उन सबको भी मरोड़ देती है, जो उसके स्नेहांचलमें बंधे थे—पति वकील साहब, पुत्र नीरज तथा पुत्रवधू ओमी। सच, बहुत सुन्दर और मानवीय कहानी बन पड़ी है इस नाटककी: अंजो दीदीका, उस घरका करुण नाटक!

पर इस नाटककी 'ट्रैजेडी' यह है कि अंजो दीदीका चरित्र मनोवैज्ञानिक कथाका उदाहरण-मात्र है, कथाका दर्शन उसमें नहीं है; वह नाटकका 'ब्रेक' है, शायद इसीलिए बहुत अंशोंमें इस नाटकका दर्शन अंजो दीदीके भाई श्रीपतकी मुट्ठीमें है। तभी 'अंजो दीदी' का चरित्र हमें 'ब्रेक' देता है, अर्थात् कुछ नहीं देता—शून्य और शून्य, बराबर शून्य। श्रीपत इस नाटकका सबसे अधिक शक्तिशाली चरित्र बन पड़ा है, जैसे इस नाटकके समूचे सत्यका एकमात्र वही द्रष्टा है, और शेष सबकी आँख

ख़राब है। वस्तुतः यही पूरी 'ट्रैजेडी' है इस नाटककी, इस प्रसंगमें बेचारी 'अनिमा' के चरित्रको जैसे नाटककारने जान-बूझकर उभरने नहीं दिया है। सदा कोनेमें दुबकाकर, चुपचाप कुरसीपर बैठाकर, कार्यतत्त्वसे सदा दूर रखकर उसे व्यक्तित्व-प्राप्तिसे वंचित कर रखा है; पर इसका सदुपयोग नाटककारने किया है : अनिमाको अंजलिके चरित्रके विपर्ययमें रखकर, अंजलिके व्यक्तित्वको उभारनेमें; और अनिमाकी पात्रता 'नैरेटर' अर्थात् वाचक अथवा सूत्रधारके रूपमें।

'अंजो दीदी' में विशुद्ध नाटक क्या है? नाटकके अन्तमें श्रीपतके भरतवाक्य-जैसे वचनोंमें उसकी अन्तिम गूँज है।—अंजो सख्त मार्बिड और ज़ालिम थी, क्योंकि उसके नाना मार्बिड और ज़ालिम थे। वह अपने घरको घड़ीकी तरह चलाना चाहती थी, पर वह यह न जानती थी कि घड़ी मशीन है, और इनसान इनसान। अंजो यदि इसे समझती, तो उसके पतिको चोरीसे शराब पीने और अंजोको मरने (आत्महत्या) की ज़रूरत न पड़ती। लेकिन अंजोने जब देखा कि वह ज़िन्दगीमें अपनी सनक पूरी नहीं कर सकती, तो उसने ज़हर खा लिया और जिस काममें वह ज़िन्दगीमें सफल नहीं हुई, मरकर हो गयी। क्योंकि नानाकी पीढ़ी, अंजोकी पीढ़ी, और उसके पुत्रवधूकी पीढ़ी—ये तीनों पीढ़ियाँ एक ही स्वरके, एक ही मनोविकारके जैसे विलम्बित लय हैं। तीसरी पीढ़ीका प्रतिनिधि, अंजोका पुत्र, कहता है, "मम्मी स्वयं ब्रेक थीं। जबतक वे ज़िन्दा रहीं, उन्होंने इस घरकी ज़िन्दगीपर ब्रेक लगा रखी—उसे स्वतन्त्रतासे बढ़ने, फलने-फूलने नहीं दिया—और जब मर गयीं, तो ब्रेक लगाती गयीं।" (ओमीकी शक्तिमें तथा उस घरमें अदृश्य भूत-जैसी बनकर, जो सबकी चेतनामें व्याप्त है।)

'अंजो दीदी' की कुछ विशेषताएँ मूल्यवान् हैं। इसकी परम मनोरम और साफ़-सुथरी कथा, और दो अंकोंमें तीन पीढ़ीके जीवनकी अभिव्यंजनासे इसका सामाजिक स्वर व्यापक हो गया है। शिल्प अत्यन्त सरल

है, पर प्रौढ़ताका परिचायक।

इस प्रसंगमें मैं कुछ मूलभूत सत्योंकी ओर नाटककारका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। पहला सत्य है, नाटककी अक्षम्य असंगतियोंका। नाटकका पहला अंक सन् १९३३ ई० के देशकाल-परिस्थितिका है, और दूसरा अंक १९५३ ई० का। पर दोनों अंकोंका जीवन और उनकी संस्कृति समान है। कहींसे भी, किसी भी तरह कोई यह नहीं जान सकता कि प्रथम अंक १९३३ ई० का है; सारे जीवनका खाका १९५३ ई० का है। 'अंजो दीदी' नाटक है, उपन्यास या कहानी नहीं। भूमिका या वस्तु-निर्देशमें यह कह देनेसे ("१९३३ की गरमियाँ, परदा श्री इन्द्रनारायण वकीलकी शानदार कोठीके मिले-जुले डाइनिंग-ड्राइंग हॉलमें खुलता है।") काम नहीं चलता। हमें उस जीवनके परिवेशमें 'अंजो दीदी' की सामाजिकता चाहिए, जो निश्चित रूपसे १९३३ ई० का समाज हो—वह भारतीय समाज, जो सोलहो आने (खान-पान, रहन-सहन, विचार, भाव-अर्थ, राजनीति आदिमें) १९५३ ई० के भारतीय समाजसे भिन्न था। 'अंजो दीदी' की यह असामाजिकता इतनी भयानक है इस सत्यपर यह समूचा नाटक अपने अर्जित यथार्थको एकदम खो बैठता है। 'अश्क' जैसे जागरूक और परिश्रमी कृतिकारसे यह चूक कैसे हो गयी ?

दूसरे अंकमें आये हुए प्रायः सभी पात्रोंके मुखसे नाटककार किसी-न-किसी रूपमें यह कहलवाता है कि—तबसे आज बीस वर्ष बीत गये, हाँ जी, बीत गये—तब जाकर कहीं दूसरे अंकमें महज़ इतना स्थापित हो पाता है कि—हाँ जी, ज़रूर बीस साल गुज़र गये। क्योंकि सब कह रहे हैं, चलो मान लेता हूँ। वस्तुतः इस कठिनाईके पीछे वही सामाजिक असंगति है, और कुछ नहीं; वरना नाटकके पात्र अपना नाटक करते कि सबको यह बताते फिरते, बीस साल बीत गये, बीस साल बीत गये।

दूसरी बात यह है कि दृश्य-विधानमें भी प्रथम अंक और द्वितीय अंक बिलकुल समान हैं। इसमें कोई एतराज़ नहीं, बल्कि इससे कलाके

औचित्यमें बल आया है। पर दोनों अंकोंमें, जो दूसरा दृश्य स्थापित हुआ है, केवल समयका अन्तर दिखानेके लिए। उन दोनों दृश्योंमें महज़ एक ही घटनाका आधार बार-बार लिया गया है: डाइनिंग टेबलपर समान स्थितिमें श्रीपतके सो जानेका। इस तत्त्वमें क्या 'मोनोटनी' नहीं है? अथवा नाटकके कार्यतत्त्वमें अनावश्यक ग़ुलामी या ग़रीबी नहीं? अस्वाभाविकता नहीं?

श्रीपत जब कभी (दोनों अंकोंमें) दूर देशसे अंजोके घर आया है, तब उसके प्रवेशके समय आवश्यक रूपसे दृश्यके पात्र उसीके बारेमें चर्चा करने लग जाते हैं।

'अंजो दीदी' में श्रीपत कई जगह गुनगुना उठता है। मुझे बेहद अच्छी लगीं वे लाइनें:

यह दस्तूरे ज़बाँ बन्दी है कैसा तेरी महफ़ल में
यहाँ तो बात करनेको तरसती है ज़बाँ मेरी।

● ●

सुरेश अवस्थी

वस्तु-योजना और रंग-विधानकी पारस्परिक विसंगति *

'अन्धायुग' प्रकाशित और प्रसारित होकर ख्याति पा चुका है। उसके सम्बन्धमें जो समीक्षाएँ छपी हैं और जो चर्चाएँ हुई हैं उन सबसे साहित्यिक जनमत बहुत-कुछ निश्चित और स्थिर हो चुका है। इस समीक्षा-द्वारा मैं इस स्थिर अभिमतका पुनरीक्षण नहीं करना चाहता। मैं तो दूसरे ही पक्ष—'अन्धायुग' की वस्तु-योजना और रंग-विधानका संक्षिप्त विवेचन करना चाहता हूँ क्योंकि अबतककी समीक्षाओं और चर्चाओंमें 'अन्धायुग'के इस पक्षपर अपेक्षया कम ध्यान दिया गया है। मैंने गोष्ठियों और साहित्यिक चर्चाओंमें बहुधा यही धारणा पायी कि 'अन्धायुग' एक 'काव्य-पुस्तक' है और नयी कविताका समर्थ, प्रांजल रूप प्रस्तुत करती है। मैं समझता हूँ कि ऐसी मान्यता न तो कृतिके प्रति न्याय है और न नाटय-रचयिता कविके प्रति। हिन्दी नाट्यालोचनाको अब इस असमंजससे उबरना ही होगा और नाट्य-कृतियोंका मूल्यांकन दूसरी ही दृष्टियों और कला-मानोंसे करना होगा। यदि वह वस्तु-संघटना और चरित्र-चित्रणके ही विश्लेषणमें उलझती रही तो हमारा नाटक कभी भी रंगमंचकी अनेक कलाओंसे विभूषित और प्राणवन्त न हो सकेगा।

अध्ययनका यह पक्ष मुझे अधिक रोचक और आवश्यक लगा क्योंकि

* अन्धायुग : धर्मवीर भारती

'अन्धायुग' पद्य-नाट्य एक नया प्रयोग है और नाट्य-रचनाकी प्रचलित विधियों और शैलियोंको छोड़कर एक नये रूपकी सृष्टि करता है। नाटकमें 'स्थापना', 'समापन' और 'अन्तराल' रखे गये हैं; अंकोंको प्रतीकात्मक शीर्षक दिये गये हैं; कला-स्थितियों और नाटकीय पात्रोंपर व्याख्याएँ-टीकाएँ करनेके लिए प्रहरी और कथा-गायकका विधान किया गया है। यह सब कथावस्तुकी संघटनाका परम्परागत स्वरूप ही बदल देता है। रूप और शिल्पमें ऐसा प्रयोग और परम्परा-विच्छेद साहित्यके सभी अन्य रूपोंकी अपेक्षा नाटकमें एक अधिक गम्भीर, विचारणीय बात है क्योंकि साहित्यका यह रूप—नाटक—सभी अन्य रूपोंसे अधिक लोकानुगामी और परम्परापरक होता है और इसकी कला-रूढ़ियाँ जितनी गहरी, प्राचीनतापरक और नियामक होती हैं उतनी साहित्यके किसी दूसरे रूपकी नहीं होतीं। यहाँ इस सन्दर्भमें हिन्दीके उन काव्य-रूपकों और पद्य-नाटकोंको बिलकुल नहीं लिया जा रहा जो रेडियोपर प्रसारित होनेके ही लिए लिखे गये हैं या जिनकी परिकल्पना शुद्ध काव्य-रूपमें की गयी है और जिनकी सार्थकता प्रसारित हो जाने या पाठ्य-पुस्तक बन जानेमें है, रंगमंचीय प्रदर्शनमें नहीं। वैसे रेडियो-पद्यनाटककी अपनी समस्याएँ हो सकती हैं, पर उनसे भी यहाँ हमें प्रयोजन नहीं। 'अन्धायुग' तो रंगमंचके लिए ही लिखा गया है; वही इसकी रूप-अवधारणाका प्रेरक और नियामक है। इसीलिए, उसके रंग-विधानका परीक्षण आवश्यक ही नहीं उपयोगी भी हो जाता है।

निस्सन्देह 'अन्धायुग' के अध्ययनका दूसरा पक्ष कथावस्तुका निरूपण भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि नाटककारने इस आख्यानको नयी सैद्धान्तिक और नैतिक भंगिमाओंके साथ प्रस्तुत किया है और पात्रोंकी नितान्त मौलिक संकल्पनाएँ की हैं, किन्तु प्रस्तुत समीक्षामें यह पक्ष अछूता छोड़ दिया गया है। केवल कथावस्तुकी व्यंजनाओं और पात्र-संकल्पनाओंका नाटककी रचना-शैलीके साथ जो सम्बन्ध है और उसे निर्धारित करनेमें उनका जो

भारी प्रभाव पड़ा है, वह बराबर प्रस्तुत विवेचनकी पृष्ठभूमिमें रहा है। वास्तवमें 'अन्धायुग' का रूप-विधान कथावस्तुके नये विश्लेषण और नयी, मौलिक, सैद्धान्तिक स्थापनाओंके मोहसे इतना आक्रान्त है कि उसकी बहुत-सी रूपगत कमज़ोरियोंका कारण वस्तुके नाट्य-निरूपणमें ही मिल जाता है।

कथा-शैली : 'अन्धायुग' का वस्तु-संघटन और उसके रंग-विधान-की सारी प्रणाली कथा-शैलीसे अभिभूत है। नाटकीय कथानकका सारा ताना-बाना प्राचीन कथा-पद्धतिके अनुरूप वक्ता-श्रोता शैलीमें बुना गया है। प्रायः सभी अंकों और अंक-खण्डोंमें एक-न-एक पात्र वक्ताका कार्य करने लगता है और दूसरे पात्र श्रोता बनकर अपने प्रश्नों, जिज्ञासाओं और टीकाओंसे नाटकको आगे बढ़ाते हैं। इस वस्तु-योजनामें, नाटककार कभी तो पात्रोंको केवल घटनाओंकी सूचनाकी प्रतीक्षामें छोड़ देता है, कभी यह सूचनाएँ सीधे-सीधे आख्यान रूपमें दी जाती हैं; कभी वक्ताकी सूचनाओंके साथ-साथ घटनाओंकी चित्रावली प्रस्तुत की जाती है : लेकिन इस तरह कथानक नाटकोचित रीतिसे स्वीकृत और संगठित नहीं हो पाता। उसमें जितना संगठन है वह केवल प्रबन्ध-काव्यकी ही आवश्य-कताओंकी पूर्ति करता है। सच तो यह है कि नाटककार बार-बार प्रबन्धकाव्यकी कथन-शैली और कलात्मक संगठनके नियमोंको अपनाने लगता है। उसकी रचनाके नाटकीय अंकोंमें कथाका फैलाव है, घटना-स्थलोंमें बिलगाव है, कई धरातलोंकी विचारधाराका ऊहापोह है। इसी सबके बीच पात्र स्वगत और अर्द्ध-स्वगत कथनोंमें युद्धके धर्म-अधर्म पक्षोंपर व्याख्याएँ करते हुए आते-जाते हैं। इस सबको समेकित करनेका एकमात्र साधन कथा-गायन रखा गया है। वही अंकोंकी कथाको समेटता है, वही घटनास्थलोंको अन्विति देता है : किन्तु नाटककी धर्मिताओंको वह शक्ति नहीं देता, शायद उनको दुर्बल ही करता है।

नाटकीय कथाके उद्घाटन और संगठनकी इस रीतिका सहज परिणाम

यह हुआ है कि नाटकके पात्र वस्तु-व्यापारके जीवन्त कर्ता-भोक्ता नहीं लगते। ये सबके सब जैसे अपनी उक्तियों, संस्मरणों, टीकाओं, नैतिक स्थापनाओं और प्रतिशोध-पश्चात्तापके भाव-प्रदर्शनों-द्वारा कथावस्तु कहते दोहराते फिरते हैं। इस आयोजनामें एक तो भावों और कथनोंकी पुनरावृत्तियाँ होती हैं और ऐसा बोध होता है कि पात्र नाटकीय क्रिया-व्यापारसे अलग खड़े हैं, न उसमें नियोजित हैं और न उससे निर्मित हैं। समूचा नाटक ऐसे छोटे-छोटे संवाद-खण्डों-सा लगने लगता है जो कथाचातुर्यसे जोड़ तो दिये गये हैं पर जिनमें नाटकीय शक्ति नहीं आ पायी है।

इस युक्तिकी कलात्मक सार्थकता भारतीने स्वयं पुस्तकके 'निर्देश' में बतायी है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रयोजनके लिए इस लोक-नाट्य-पद्धतिका अनुसरण किया गया है उसमें भारतीको बड़ी सफलता मिली है। "वातावरणकी मार्मिकता गहन होती है; प्रतीकोंके अर्थ खुलते हैं," कथा-खण्डोंपर सैद्धान्तिक विश्लेषण और स्थापनाएँ होती हैं और काव्य-रस भी शायद नाटकीय संवादोंसे अधिक कथा-गायनोंमें ही मिलता है। किन्तु नाटकीय पात्रों और स्थितियोंसे स्वभावतः उद्भूत होनेवाली जो अधिक मौलिक नाट्य-शक्ति होती है, वह इस पद्धतिसे क्षीण और खण्डित हो जाती है और नाटकीय प्रभाव और अन्वितिमें भारी व्यवधान पड़ता है।

दोनों प्रहरी : वस्तु-संघटनाके लिए कथा-गायनके अतिरिक्त दो प्रहरियोंकी कल्पना की गयी है जो घटनास्थलका परिचय देते हैं, कथा-स्थितियों और पात्रोंपर टीका-व्याख्या करते हैं और कभी-कभी नाटकके पात्रोंके प्रश्नोंका उत्तर देकर मुख्य नाटक-व्यवहारमें सम्मिलित हो जाते हैं। नाट्य-रचना-शिल्पकी दृष्टिसे इस पद्धतिमें बड़ी सम्भावनाएँ हो सकती हैं और पिछले कुछ वर्षोंमें नृत्य-नाटकोंमें काफ़ी कलात्मक उपादेयताके साथ उनका अन्वेषण भी किया गया है, किन्तु 'अन्धायुग'में, जो नृत्य-नाटक नहीं है, यह पद्धति दो कारणोंसे दुर्बल हो गयी है। एक तो प्रहरियोंको

वही काम सौंपा गया है जो कथा-गायक करता है, और नाटकके कई पात्र भी करते हैं। दूसरे इन दोनों प्रहरियोंकी स्थिति तटस्थ दृश्यानुवाचकोंकी ही रह जाती है, वे नाटकीय पात्र नहीं बन पाते। इसीलिए जैसे कथा-गायन नाटकमें सुन्दर काव्य-खण्डोंके रूपमें अलगसे पड़े रहते हैं वैसे ही प्रहरियोंका वार्तालाप पात्रोंके प्रवेश और प्रस्थानको सुगम बनाने और कथाके वेगको कुछ विश्राम देनेकी एक चातुरीसे अधिक और कोई नाट्य-प्रयोजन नहीं पूरा करता।

रंग-विधानमें तत्त्वगत विरोधाभास : 'अन्धायुग' पद्य-नाट्य रंगमंचको दृष्टिमें रखकर लिखा गया है, यह कथन लेखकने स्वयं पुस्तकके 'निर्देश' में किया है। इसी विचारसे ऐसे रंग-निर्देश दिये गये हैं जो पात्रों-के प्रवेश और प्रस्थान, और मंचपर उनकी स्थितियों, गतियों और व्यवहारोंका विवरण देते हैं और परदोंके उठने-गिरने, नेपथ्यके नाटकीय प्रयोग और दृश्य सज्जा सम्बन्धी आदेश करते हैं। ऐसी स्थितिमें यह जाँचना उचित ही होगा कि अंकोंमें विभाजित नाटकीय व्यापारके विभिन्न अंशोंको ऐसे रंगमंचपर कहाँतक सफलताके साथ उतारा जा सकता है, जिसका मानचित्र लेखकने स्वयं निर्धारित कर दिया है।

इस सम्बन्धमें मेरी धारणा यह है कि नाटककारने वस्तु-संघटनाका जो रूप अपनाया है, वह परदों, रंग-पार्श्वों (विंगों) और दृश्य-बन्धों (सेटों) वाले रंगमंचपर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। दोनोंमें मूलतः स्वभाव-भेद है। इस स्वभाव-भेदका तात्त्विक आधार यह है कि इस तरह-का रंगमंच अपनी सहज भौतिक अवस्थाओंके कारण वस्तु-संग्रही होता है; वह नाटकीय व्यापारकी सभी घटनाओं और पात्रोंको एक परिधिमें बाँधता है और एक साथ कई क्रिया-व्यापारों या एक दृश्यके कई खण्डोंको प्रस्तुत करनेकी सुविधा नहीं देता। ऐसा करनेसे एक तो नाटकीय अन्वितिके सूत्र टूटते हैं और दूसरे रंगमंचपर प्रस्तुत किया जानेवाला व्यापार दर्शकके दृष्टि-वृत्तमें नहीं आ पाता और अनुभावनमें बाधा पड़ती है। 'अन्धायुग'के

कई अंकोंमें—विशेषकर चौथे अंकमें कथानकके कई खण्ड एकके बाद एक खुलते जाते हैं और नाटककार नाट्य-व्यापारके कई स्थलोंकी सृष्टि करता है। गान्धारी और संजय खड़े हैं; संजय युद्ध-सूचनाएँ देते हैं; बार-बार पीछेका परदा उठता है, गिरता है—युद्धके दृश्य आते हैं; फिर संजय-गान्धारी वार्तालाप चलता है, फिर कथा-गायन होता है; कौरव-जन युद्धभूमिके लिए प्रस्थान करते हैं; यात्रा करते-करते संवाद चलता रहता है; आकाशवाणी होती है; अप्रत्याशित रूपसे पात्र प्रकट होते हैं; और इन सारी युक्तियोंके बाद भी कथा-सूत्र टूटने लगता है या नाटककी अन्विति दृश्यको आगे बढ़नेसे रोकने लगती है और कथा-गायक आ जाता है और नाटककारको प्रश्रय मिल जाता है। कथावस्तुके विभाजन और दृश्य-अनुक्रमोंको इस सारी योजनाको रंगमंचपर नाटककार जिन निर्देशोंके साथ प्रस्तुत करना चाहता है, उनमें एक बीचके परदेके उठने-गिरनेकी युक्तिसे बराबर काम लिया गया है। इससे नाटककार अपनी कथावस्तुका नाटकीय निर्वाह तो कर लेता है, परन्तु प्रदर्शनकी दृष्टिसे इससे एक ऐसे चमत्कारी भावको प्रश्रय मिलता है जो रसानुभूतिकी सहज, स्वाभाविक प्रक्रियाओंको विघटित कर देता है।

'अन्धायुग' की वस्तु-योजना और उसके रंग-विधानकी पारस्परिक विसंगतिका कारण यह है कि भारतीने लोक-नाटककी एकाध रूढ़ियोंको जिस प्रकार साहित्यिक नाटकमें नियोजित कर दिया है उसमें तत्त्वगत विरोध है। नाट्य-रूढ़ियाँ इस तरह एक नाट्य-रूपसे लेकर दूसरेमें नहीं जोड़ी जा सकतीं। प्रत्येक रूढ़िका सम्बन्ध नाट्य-शैली और रूपके समूचे संविधान, और उसके सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेशसे होता है, और ये रूढ़ियाँ सदा ही रंगमंच और उसकी आनुषंगिक कलाओंकी अनुगामिनी होती हैं। 'अन्धायुग' की कला-रूढ़ियाँ अपने सहधर्मी रंगमंचकी सृष्टि न करके विपरीत रूप-स्वभाववाले रंगमंचमें आरोपित की गयी हैं। यही अन्तर्विरोध बराबर नाटकके रसास्वादन और वस्तु-ग्रहणमें बाधा डालता है।

'अन्धायुग'का स्वाभाविक रंगमंच : वास्तव में 'अन्धायुग'को खुले रंगमंचकी ही किसी लोक-शैलीमें प्रस्तुत किया जा सकता है। इस नाटकके व्यापार-खण्डोंकी बहुरूपता, उनकी निरन्तरता और क्रमिकताको लोक-रंगमंचकी ही नाट्य-धर्मिताएँ ग्रहण कर सकती हैं : अतः नाटककारके रंग-निर्देशोंकी, निर्देशकके लिए, कोई सार्थकता नहीं रह जाती। प्रतिभावान् निर्देशक रंगमंच और समूची प्रदर्शन-व्यवस्थाकी मौलिक परिकल्पना करेगा—और शायद, नाटकका भी आंशिक 'सम्पादन' अनिवार्य हो जायेगा। अच्छा होता कि नाट्यकारने ऐसे विस्तृत रंग-निर्देश देकर निर्देशकके कार्यको कठिन न बनाया होता। सच तो यह है कि पाठकको भी इनसे कोई सुविधा नहीं होती। बीचका परदा उठते ही रंगमंचपर (जिसका भौगोलिक रूप और क्षेत्र दर्शक जानता है) दूर-दूरके वनपथ और युद्धस्थलोंके दृश्य आ जाते हैं—यह प्रतीति दर्शकके लिए कठिन ही नहीं, उसकी कला-सुरुचिको आघात पहुँचानेवाली है। यह युक्ति प्रदर्शनकी उस सस्ती, चमत्कारी कलाको जन्म देती है, जिसे नवोत्थान कालका रंगमंच कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता।

एक मौलिक प्रश्न : प्रस्तुत समीक्षामें पद्यनाट्यके सम्बन्धमें एक और मूल प्रश्न उठाना चाहता हूँ जिसपर विचार करना समीचीन होगा। यह प्रश्न पद्यनाट्यकी सार्थकता और उसके भविष्यका है। क्या हमको वास्तवमें पद्यनाट्योंकी आवश्यकता है? क्या वह वर्तमाम सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं और प्रश्नोंको नाटकीय भंगिमाओं और शक्तियोंके साथ अभिव्यक्त कर सकेगा? क्या वह हिन्दीके रंगमंचकी प्रकृति और उसके ऐतिहासिक विकासकी सहज परिणति है? और क्या हिन्दीका मुक्त-छन्द इतना समर्थ और बहुभाव-भंगिमा-व्यंजक हो गया है कि वह विविध नाट्य-स्थितियों और पात्रोंको अगणित भाव-मुद्राओं और अभिप्रायोंको व्यक्त कर सके और साथ ही उसकी लय, मुहावरे और काव्य-चेष्टाओंमें नाटकोचित संवादकी क्षमता और मोहिनी भी हो। ये तमाम प्रश्न पद्य-

नाट्योंकी, विशेषकर मुक्त-वृत्तमें लिखे गये नाटकोंकी अनुकूलता और उपादेयताका आकलन करनेके उद्देश्यसे ही उठाये गये हैं। यहाँपर यह बात पहले हो स्पष्ट कर देना उचित होगा कि पद्यनाट्यका ऐसा परीक्षण रंगमंचके व्यवहारों और आवश्यकताओंको ही ध्यानमें रखकर किया जा रहा है। इन प्रश्नोंका सम्बन्ध उन पद्यनाट्योंसे नहीं है, जो केवल पाठ्य माने जाते हैं और जिनके सम्बन्धमें अब भी साहित्य-समीक्षकोंमें यह विवाद समाप्त नहीं हुआ कि वे नाटकोंकी कोटिमें रखे जायें या उनको नाटच-कविता या पद्यबद्ध कथाएँ कहना अधिक उचित होगा।

सबसे पहले मुक्त छन्दकी नाटकीय सम्भावनाओं और उपलब्धियोंपर विचार करना उचित होगा। इसमें सन्देह नहीं कि पद्यनाट्यके संवादोंको अतुकान्त मात्रिक छन्दोंसे मुक्त कर देनेसे उनकी नाटकीय शक्तिकी बड़ी सम्भावनाएँ खुल गयी हैं—यद्यपि अतुकान्त छन्दमें बाँधे गये संवादोंको भी बहुत-कुछ सहज वार्तालापकी वाक्य-रचनाओंमें विभाजित किया जाता था और उनकी छन्द और लयकी सारी व्यवस्था इसी एक उद्देश्यसे की जाती थी। पद्यनाट्य-लेखकोंको इस प्रयत्नमें कभी-कभी सफलता मिली, किन्तु सब मिलाकर देखा जाये तो इससे पद्यनाटकोंके संवादोंका कोई ऐसा रूप नहीं निखर सका जो स्थायी हो सकता और जिसका नाट्य-भाव इतना समर्थ होता कि सफल नाट्य-कृतियोंको जन्म दे सकता। मुक्त-छन्द अधिक स्वाभाविक, भावानुकूल और आलापोचित संवादोंका आश्वासन देता है, किन्तु हिन्दी-काव्यमें इसकी प्रकृतिकी परम्परा देखी जाये तो ज्ञात होगा कि इसका स्वर और लय ओजस्वी, उदात्त और आरोही रहा है: शायद अपनी प्रकृतिके कारण इस छन्द-योजनाने कवियों-को नाट्य-गर्भित उपाख्यानों और दूसरे भावाविष्ट विषयोंमें ही इसका प्रयोग करनेके लिए बाध्य किया। धीरे-धीरे नये काव्य-लेखनमें मुक्त-छन्द हमारे दैनन्दिन जीवनके भावधरातलोंमें उतर रहा है और उसमें सहज व्यंजनाओंका रचाव पैदा हो रहा है; किन्तु अब भी उनमें

हमारे साधारण सम्भाषणके स्वर नहीं फूटे और वह गति-वैचित्र्य नहीं आया जो उसके काव्य-तत्त्वको खण्डित और नष्ट किये बिना, पूरे प्रभावके साथ बातचीतकी शैलीमें हमारे मनोभावोंको व्यक्त कर दे।

'अन्धायुग' का मुक्त-छन्द ध्वनियोंकी छटाओं और अर्थ-व्यंजनाओंसे बहुत समृद्ध होकर भी इतनी व्यापकता ग्रहण नहीं कर सका है कि वह नाटकके इतने पात्रों और उनके विविध भाव-संघर्षोंका पूरी तरह प्रतिनिधान कर सके। बहुत बार तो छन्द-विधानमें ऐसी एकरसता आ जाती है कि उनमें पात्रगत विशिष्टता ही नहीं रह जाती—यदि आप एक पात्रके संवाद दूसरेको दे दें तो नाटकीय योजनामें कोई बड़ा व्यवधान न होगा। नाटकमें प्रयोग किये जानेवाले मुक्त-छन्दसे सबसे बड़ी माँग यही होती है कि वह नाटकीय वस्तु-व्यापारमें पूरी तरह स्वीकृत और भावनिष्ठ रहे और उसीको शक्ति प्रदान करे। 'अन्धायुग' की बहुत-सी उपमाएँ और चित्रयोजनाएँ काव्यके गुण तो बढ़ाती हैं, परन्तु वे नाटकीय संवादोंकी लय और शक्तिका पोषण नहीं करतीं। कहीं-कहीं गहन नाट्य-परिस्थितियोंका चित्रण करनेमें भी मुक्त-छन्द समर्थ नहीं हो पाता। ऐसी स्थितियोंमें लगने लगता है कि जैसे पात्र अपनी बात पूरी तरह नहीं कह पा रहे—वे अपने कथनसे स्वयं सन्तुष्ट और तृप्त नहीं हैं। वास्तवमें हिन्दीका मुक्त-छन्द इतना विकसित नहीं हुआ है कि वह नाटकके अनेक स्वभाववाले पात्रोंका चित्रण कर सके और संवादों-द्वारा उनकी पात्रता विशिष्ट रूपसे स्थापित कर सके। नाटकीय दृष्टिसे उसके प्रभावशाली होनेके साथ ही उसके मुहावरे और शब्द-चयनकी व्यापकता और रंग-वैचित्र्यका भी प्रश्न है। इनके अभावमें ऐसा लगता है कि जैसे नाटकके सभी पात्र अपनी विशिष्टताओंमें चित्रित न होकर केवल नाटककारके प्रवक्ताके रूपमें ही बोलते रहते हैं, और वे कभी तो नाटकीय कथा कहते हैं और कभी अनेक तरहके भावों और विचारोंकी प्रतिक्रियाओंका

विश्लेषण और उद्घाटन करते हैं—सब करते हैं, केवल सहज स्थिति-जन्य संवाद नहीं बोलते।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि हमको पद्यनाट्यकी आवश्यकता है ही, तो उसका सृजन कविके ही हाथों होगा; और सम्भवतः वह मुक्त-छन्दमें ही रचा जायेगा। किन्तु नाटक एक ऐसा साहित्य-रूप है जिसे उसका भावक-वर्ग सार्वजनिक रूपसे ग्रहण करता है और उसमें रस लेता है। यह तथ्य सभी युगोंके नाट्य-लेखनका रूप, शैली और उसकी प्रवृत्तियाँ निर्धारित करनेमें महत्त्वपूर्ण रहता है। अतः यह प्रश्न नितान्त कलात्मक दृष्टिसे अनिवार्य हो जाता है कि क्या हमारे आधुनिक रंगमंचका दर्शक-समाज पद्यनाट्यको ग्रहण करने और उसमें रस लेनेको तैयार है? और क्या हमारे अभिनेता छन्दात्मक लय और अर्थ, दोनोंकी रक्षा करते हुए संवादोंको नाटकीयताके साथ प्रस्तुत कर सकते हैं? किसी भी नाट्य रूपके प्रचलन, सफलता और शक्तिके लिए रंग-कलाओंकी विविध सामग्री-की सम्पदा बड़ी मूल्यवान् होती है और आजके जागरूक कलाकारको उसका पूरा उपयोग करना होगा। उस सबके बिना नाटक शुद्ध साहित्य-रूप बनकर रह जायेगा—और आज इसी अभिशापसे मुक्ति पानेके लिए वह संघर्ष कर रहा है।

● ●

सुरेश अवस्थी

हिन्दी नाटककी एक नयी उपलब्धि *

मोहन राकेशने अपने पहले नाटक 'आषाढ़का एक दिन' में दो दशकोंके बाद नाटकमें फिरसे उस काव्य-तत्त्व और उन साहित्यिक गुणोंको प्रतिष्ठित किया था जिनको यथार्थवादी नाट्य-लेखनने हिन्दी नाटक साहित्यसे प्रसादके नाटकरचना-कालकी समाप्तिके बाद सन् १९३४ के आस-पास निर्वासित कर दिया था। इन्हीं तत्त्वोंके कारण हिन्दीके नाट्य-समीक्षकने प्रसादके नाटकोंको अनभिनेय घोषित कर दिया है। 'आषाढ़का एक दिन' रंगमंचपर सफलताके साथ खेला गया है: कलकत्तेकी 'अनामिका' संस्थाने श्यामानन्दन जालानके निर्देशनमें बन्द रंगशालामें और नेशनल स्कूल ऑव ड्रामाके विद्यार्थियोंने अलकाज़ीके निर्देशनमें खुले रंगमंचपर दो विभिन्न शैलियोंमें सशक्त प्रदर्शन किये। और 'स्कन्दगुप्त', 'कोणार्क' तथा 'अन्धायुग' की परम्परामें वह एक श्रेष्ठ नाट्य-कृति है।

'लहरोंके राजहंस' के कथानकका आधार कवि अश्वघोषका प्रसिद्ध काव्य 'सौन्दरनन्द' है। कथानक ऐतिहासिक होते हुए भी, जैसा कि नाटककारने स्वयं भूमिकामें कहा है, "समयके विस्तारमें स्थितियोंका परिक्षेपण करनेके कारण वह काल्पनिक भी है।" नाटककारने मूल कथासे स्वतन्त्रता ली है और उसका कुशल और सशक्त नाटकीय उपयोग किया है। नाटकीय अन्तर्द्वन्द्वको आधुनिक भंगिमा दी गयी है और पात्रोंका गहरा चरित्रांकन हुआ है।

---

* लहरोंके राजहंस : मोहन राकेश

हिन्दीमें ऐतिहासिक नाटकोंमें कथानककी ऐतिहासिकता और प्रामाणिकताका कुछ ऐसा आग्रह रहता है कि हम प्राय: उनके नाटकीय और साहित्यिक गुणोंकी ओरसे उदासीन रहते हैं। नाटकमें ऐतिहासिक कथानककी प्रामाणिकताका न तो कोई अर्थ है, और न उसे ढूँढ़नेका प्रयत्न ही किसी भी प्रकारसे उपयोगी और वांछित है। वास्तवमें ऐतिहासिक कथानकोंके आधारपर श्रेष्ठ और सशक्त नाटकोंकी रचना तभी हो सकती है जब नाटककार ऐतिहासिक पात्रों और कथा-अभिप्रायोंको 'अनैतिहासिक' और 'युगीन' बना देता है, तथा ऐतिहासिक कथाके अन्तर्द्वन्द्वको आधुनिक अर्थ-व्यंजना प्रदान कर देता है।

हिन्दीके अधिकांश नाटककारोंने अपने ऐतिहासिक नाटकोंमें कथाकी प्रामाणिकताका ही आग्रह किया और पात्रोंकी नयी सर्जनाएँ और उनका तीव्र चरित्रांकन करनेमें वे असफल रहे। यही कारण है कि हिन्दीका ऐतिहासिक नाटक-साहित्य, जो परिमाणमें शायद सामाजिक नाटक-साहित्यसे भी बड़ा है, नाटकीय गुणोंमें हीन कोटिका है, और वह भले ही पाठ्य-पुस्तकोंकी माँग पूरी करता रहे, रंगशालाओंमें कभी भी दर्शकोंको नहीं प्रभावित कर सकता। इसके साथ ही हिन्दीके आधुनिक नाटक-साहित्यकी जो दो-चार श्रेष्ठ नाट्य-कृतियाँ हैं—'स्कन्दगुप्त', 'कोणार्क' 'अन्धायुग', 'आषाढ़का एक दिन' और अब 'लहरोंके राजहंस'—वे सभी ऐतिहासिक हैं।

इनकी श्रेष्ठताका एकमात्र कारण यह है कि इनके द्वारा नाटककारोंने ऐतिहासिक कथानक नहीं दोहराये बल्कि ऐतिहासिक पात्रोंको नये जीवन-सन्दर्भों और नये सम्बन्धोंमें प्रस्तुत किया जिनमें वर्तमान युगके जीवन-आदर्शों और मूल्योंकी प्रतिध्वनियाँ सुनी जा सकती हैं। सभी देशोंके नाटक-साहित्यके इतिहासमें विभिन्न युगोंमें जब भी श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकोंका निर्माण हुआ है तब नाटककारोंने प्राचीन कथानकोंको नयी दृष्टिसे देखा है और उनको नयी अर्थ-व्यंजनाएँ दी हैं—चाहे ढाई हज़ार

वर्ष पूर्व लिखी गयी महान् यूनानी त्रासदियाँ हों, चाहे एलिज़ाबेथ कालीन कामदियाँ, और चाहे फ़ान्स, जर्मनी, इंग्लैण्ड और अमेरिकामें पिछले दस-पन्द्रह वर्षोंमें लिखे गये नयी शैलीके ऐतिहासिक नाटक हों।

'लहरोंके राजहंस' में कपिलवस्तुके राजकुमार नन्दके बौद्ध-भिक्षु बनने और उसकी पत्नी सुन्दरीके रूप-गर्वकी कथा है। नाटकका कथानक द्वन्द्वके दो स्तरोंपर संचरण करता है: एक स्तरपर तो सुन्दरीका द्वन्द्व है, जो अत्यन्त रूपगर्विता है और इस सहज विश्वासमें सन्तुष्ट है कि उसका पति नन्द कभी भी उसके रूपपाशसे मुक्त होकर बौद्ध भिक्षु नहीं बन सकता। वह कहती है: "देवी यशोधराका आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थको बाँधकर अपने पास रख सकता तो क्या वे राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते?" और नाटकके अन्तमें जब प्रसाधनमें सो जानेके बाद उसकी आँख खुलती है, तो वह एक बार तो अपने अधूरे शृंगारको देखती है और फिर उसकी दृष्टि नन्दके केश कटे हुए भिक्षु वेषी मुखपर पड़ती है। और इस गहरे द्वन्द्वपूर्ण क्षणमें सुन्दरी टूटने-बिखरने लगती है। दूसरे स्तरपर सुन्दरीके रूपपाशमें बँधे हुए और जीवनकी छोटी तुष्टि लिये हुए नन्दका द्वन्द्व है जिसे अनायास और अनिच्छासे ही भिक्षु बना दिया जाता है। वह भिक्षु बनकर जब घर लौटता है और सुन्दरीको देखता है, तो कहता है—"जिस सामर्थ्य और विश्वासके बलपर जी रहा था, उसीके सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।" इस प्रकार सुन्दरी और नन्द दोनों ही अपनी-अपनी रीतिसे नाटकीय कथाके द्वन्द्वको झेलते हैं, और उनका यह द्वन्द्व ही नाटकको अपरिमित शक्ति प्रदान करता है।

नाटकका पहला अंक सुन्दरीके कक्षमें आरम्भ होता है। रात उतरने-का समय है। कर्मचारी साज-सज्जामें लगे हुए हैं। सुन्दरीके आग्रहपर कामोत्सव मनाया जानेवाला है। अतिथियोंकी प्रतीक्षा हो रही है। पहले अतिथि मैत्रैय पधारते हैं। और जब कामोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिए

मैत्रेयके अतिरिक्त और कोई अतिथि नहीं आता तो सुन्दरी आहत सर्पिणी-सी विक्षुब्ध हो उठती है। यहींपर नाटकका पहला अंक समाप्त हो जाता है। नाटकीय कथाके संचरणकी दृष्टिसे भी यह अंक पहला चरण है। इसमें व्यापार और भावकी अन्वितिका पूरा निर्वाह हुआ है। सुन्दरीकी चारित्रिक विशेषताएँ और नाटकीय कथाके द्वन्द्वका पूर्वाभास हो जाता है। कामोत्सवका आयोजन इस सन्दर्भमें विशेष नाटकीय अर्थ और तीव्रता ग्रहण कर लेता है कि दूसरे ही दिन रानी यशोधरा भिक्षुणी बनने जा रही हैं। उद्यानमें कलरव करते हुए राजहंसोंके नाटकीय व्यापारको उपयुक्त परिवेश देनेके लिए बड़ा ही कुशल काव्योचित प्रयोग किया गया है।

दूसरा अंक भी सुन्दरीके ही कक्षमें घटित होता है। नन्द सुन्दरीका शृंगार कर रहा है। बीच-बीचमें नेपथ्यसे ज्वर-ग्रस्त कर्मचारी श्यामांगका स्वर सुनाई पड़ता है। जिस समय नन्द सुन्दरीके शृंगारमें व्यस्त है, अलका यह सन्देश लाती है कि भगवान् गौतम बुद्ध भिक्षाके लिए द्वारपर आये थे और दो बार भिक्षाकी याचना करनेके बाद वे लौट गये हैं। नन्द सुन्दरीसे कहता है कि मुझे जाकर इसके लिए गौतम बुद्धसे क्षमा-याचना करनी चाहिए। सुन्दरी यह कहकर अनुमति देती है कि जाइए, लौटकर आप ही इस विशेषकको पूरा करेंगे और तभी मैं शेष प्रसाधन करूँगी। नन्द चला जाता है और यह अंक नेपथ्यसे श्यामांगके इस संवादके साथ समाप्त होता है : "यह छाया मेरे ऊपरसे हटा दो।—एक किरण··· कोई एक किरण····"।

इस अंकमें सुन्दरीकी चरित्र-रेखाएँ और स्पष्ट होती हैं, और नन्दके मनकी दुविधा धीरे-धीरे प्रकट होने लगती है। नन्द हाथमें दर्पण लिये सुन्दरीके शृंगारमें योग दे रहा है। इतनेमें नेपथ्यसे 'धम्मं शरणं गच्छामि' का स्वर सुनाई देता है। सुन्दरी कहती है, "देखिए दर्पण हिल गया", और इतनेसे ही नन्दके दुर्बल मनका भारी द्वन्द्व स्पष्ट हो जाता है। इस

अंकमें सुन्दरीका सारा शृंगार-प्रसंग बड़ा ही कोमल और सरस है—हिन्दी नाटक साहित्यमें नितान्त नया।

तीसरे अंकका आरम्भ नन्दके लिए सुन्दरीकी आकुल प्रतीक्षाके साथ होता है, और लम्बी प्रतीक्षाके बाद जब नन्द सिर मुड़ाये हुए भिक्षु वेषमें आता है तो सुन्दरी थककर सो चुकी है। नन्द कहता है—"मैंने कहा था तुम्हारा विशेषक सूखनेसे पहले ही मैं लौट आऊँगा, परन्तु नहीं आ सका। तुम पूछती तो मैं क्या उत्तर देता।" और कुछ देर बाद वहीं पड़े हुए टूटे दर्पणके सामने रुककर अपना प्रतिबिम्ब उसमें देखता है, और कहता है: "मेरे केश क्यों कटवा दिये? और कटवा ही दिये तो उससे क्या अन्तर पड़ता है? अन्तर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखें बदल जातीं, मेरे हृदयमें तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है, आँखोंमें तुम्हारे रूपकी अब भी वही छाया है। तुम्हारा विशेषक जो सूख गया है, उसका मुझे खेद है। उसे मैं अभी गीला कर देता हूँ।" और जैसे ही नन्द उँगलीपर लेप लेकर सुन्दरीके माथेपर बिन्दु बनाने लगता है, वह हड़बड़ाकर जाग जाती है। उसके मुखसे एक चीख निकल पड़ती है और वह आँखोंपर हाथ रख लेती है।

नन्द इस स्थितिमें अपनेको नितान्त असहाय और अकेला पाता है। वह कहता है: "मैं चौराहेपर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ, जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं और अपनेको ढँकनेके लिए उसके पास कोई आवरण नहीं है।" और वह इसी मानसिक अन्तर्द्वन्द्वमें सुन्दरीको छोड़कर उससे बिना मिले ही चला जाता है। राज-कर्मचारी श्वेतांग सुन्दरीके पूछनेपर उसे बताता है कि कुमार यह कहते हुए चले गये कि "वे अपने केशोंकी खोजमें जा रहे हैं। वे तथागतसे पूछना चाहते हैं कि उन्होंने उनके केशोंका क्या किया?....उनकी पत्नीको उन केशोंकी आवश्यकता है"। इसपर वह कहती है: "इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग। बस इतना ही तो इनकी समझमें आता है।" और नाटकका अन्त श्यामांग-

के इस संवादसे होता है—"बस एक किरण, केवल एक किरण।"

यह अंक नाटकीय कथाके द्वन्द्वको तेज़ीके साथ गहन कर देता है। ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं जो नाटकको चरमोत्कर्षपर पहुँचा देती हैं, और कथाके चरम बिन्दुपर ही नाटक समाप्त हो जाता है। अपने सम्बन्धों और परिस्थितियोंसे लड़ते हुए टूटे, खण्डित पात्रोंकी विषम स्मृतियाँ मनपर छा जाती हैं, और छायी रहती हैं।

वस्तु-विधानकी दृष्टिसे इस अंकमें एक कड़ी बहुत कमज़ोर है। सुन्दरी तथागतसे मिलकर नन्दके वापस आनेकी आकुल प्रतिज्ञा करते-करते थोड़ी-सी उनींदी हो जाती है। इतनेमें श्वेतांग आता है। अलका हलके पैरोंसे उसके पास तक जाती है और उससे नन्दके सम्बन्धमें पूछती है। श्वेतांग अलकाको नन्दके भिक्षु बननेकी सारी कथा कह सुनाता है, और बताता है कि लोगोंका कहना है कि उसके बाद नन्द विक्षुब्ध हो कर घने जंगलकी ओर चले गये। इसपर अलका किसी बड़े अनिष्टकी आशंकासे डरकर सुन्दरीको जगाने लगती है, और तभी भिक्षु वेषमें नन्द-का प्रवेश होता है। अलका और श्वेतांगके वार्तालापके माध्यमसे नाटक-कारने दर्शकोंको यह तो बता दिया कि जो नन्द नदी-तटपर तथागतके पास अपनी धृष्टताके लिए क्षमा-याचना करने गये थे, वे वहाँ जाकर भिक्षु बन गये हैं, किन्तु नाटकीय प्रभावकी दृष्टिसे इसका परिणाम यह होता है कि जब नन्द सचमुच भिक्षु वेषमें प्रकट हो जाते हैं तो दर्शकोंपर तीव्र और तात्कालिक प्रभाव नहीं पड़ता जैसा कि ऐसी स्थितिमें पड़ना चाहिए।

एक ही दृष्य-बन्धपर और स्थान-अन्वितिका पूरा-पूरा निर्वाह करनेके कारण ही नाटककारको इस महत्त्वपूर्ण प्रसंगको रंगमंचपर दिखानेका मोह छोड़ना पड़ा। यदि नाटकीय घटनास्थल प्रासादसे हटकर नदी-तट-पर जा सकता तो कथानकमें अधिक विविधता आ जाती और साथ ही नन्दका अन्तर्द्वन्द्व भी शायद अधिक स्वाभाविक और स्पष्ट हो जाता। यह

एक बड़ा भारी मौलिक प्रश्न है जिसे नये नाटककारको सुलझाना है। नाटकमें स्थान-अन्वितिका आज कोई महत्त्व नहीं रह गया। नाटकीय प्रभाव और कुशल वस्तु-विधानकी दृष्टिसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कथाके व्यापारमूलक दृश्योंको रंगमंचपर दिखाया जाये, उन्हें सूच्य दृश्य न बना दिया जाये।

नाटकके अन्तके सम्बन्धमें भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है ? नन्द जब भिक्षु बनकर वापस लौटता है तो वह सुन्दरीसे बिना मिले ही लौट जाता है। इस प्रकारसे आकर लौट जानेके ही कथा-अभिप्रायका अनुसरण लेखकने 'आषाढ़का एक दिन' में किया है। यद्यपि यह कहना बहुत कठिन है कि यदि नाटककार इस कथा-अभिप्रायको न दोहराता तो और किस प्रकारसे नाटकका अन्त करता ? किन्तु फिर भी यदि नन्द सुन्दरीसे मिल लेता तो शायद नाटकका अन्त अधिक तीव्र और गहन हो जाता। यद्यपि, ऐसी नाटकीय स्थितियोंमें पात्रोंके कथनों और व्यवहारोंका निर्वाह नाटककारके लिए, बहुत बड़ी परीक्षा होती है क्योंकि तनिक-सी असावधानीमें स्थिति अतिनाटकीय लगने लग सकती है। नाटकका जिस प्रकारसे अन्त होता है उसमें नन्दका द्वन्द्व केवल हमारी दया उकसाता है। और सुन्दरीका द्वन्द्व भी सहसा अपना उद्दाम उद्वेग खो देता है, वह नितान्त पराजित भावसे इस स्थितिके सामने शीश झुका देती है, और तब लगने लगता है कि पात्र पूरी शक्ति और आस्थाके साथ अन्त तक नहीं लड़ सके। इस प्रकारकी अनुभूति नाटकके पाठक और दर्शकोंके लिए सबसे अधिक घातक होती है।

नाटकके रूपबन्धको सबसे अधिक कमज़ोर बनानेवाला तत्त्व श्यामांग-प्रसंग है। श्यामांग एक राजकर्मचारी है। उसे इस अपराधमें सुन्दरी अन्धकूपमें डलवा देती है कि उसने कमल-तालमें राजहंसोंपर पत्थर फेंके हैं। श्यामांग सुन्दरीसे क्षमा-याचना करता हुआ कहता है कि उसने राजहंसोंपर नहीं, किसी एक डरावनी छायापर पत्थर फेंके हैं। नाटकमें इस

छायाका संकेत स्पष्ट नहीं होता। जब श्यामांग अन्धकूपमें डाल दिया जाता है और उसका नाटकीय कथाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता और वह किसी प्रयोजनकी सिद्धि भी नहीं कर सकता, तो नाटककार जैसे बरबस नाटकमें उसके अस्तित्व और उसकी प्रयोजनशीलताको बनाये रखनेके लिए उसे एक प्रतीक बना देता है। इस प्रकार श्यामांग नाटकमें एक प्रतीक तो बन जाता है किन्तु वह पात्र नहीं रह जाता, और नाटक चाहता है सशक्त, जीवन्त पात्र; अस्पष्ट, निर्जीव प्रतीक नहीं। अब उसके संवाद क्रिया-व्यापारका वहन और उद्घाटन न करके प्रतीकात्मक, लाक्षणिक वक्तव्य बन जाते हैं। वह हर स्थितिमें बराबर अपने वक्तव्य नेपथ्यसे दोहराता है। तीसरे अंकमें नाटकका अन्त श्यामांगके प्रलापसे ही होता है—"यह अँधेरा मुझसे नहीं ओढ़ा जाता....मुझे एक किरण ला दो....बस एक किरण।"

नाटक साहित्यकी एक ऐसी विधा है जिसमें अस्पष्ट संकेतों और प्रतीकोंके लिए बहुत ही कम स्थान रहता है क्योंकि नाटक व्यक्तिपरक नहीं समूहपरक है, और वह एक व्यक्तिको नहीं एक पूरे समुदायको एक साथ कलात्मक अनुभूति और रसास्वादन देता है। दर्शक-समुदाय जब रंगशालामें बैठा हुआ नाटकका प्रदर्शन देखता होता है तो न तो उसे इस बातकी सुविधा ही होती है और न उसकी ऐसी मनोवृत्ति ही कि वह कथा-संकेतों और प्रतीकोंको और पात्रोंके गूढ़ और अस्पष्ट कथनों-को समझे।

श्यामांग प्रतीक बनकर नाटकीय कथाके सीधे, स्पष्ट द्वन्द्वको केवल अस्पष्ट और कुण्ठित ही नहीं बनाता, बल्कि वह नाटकके वस्तु-विधान और उसके रूपबन्धको भी खण्डित और कमज़ोर कर देता है। नेपथ्यसे संगीत-खण्डोंके समान जिस प्रकारसे श्यामांगका उपयोग किया गया है वह नाटकीय दृष्टिसे कभी भी वांछित नहीं है, क्योंकि रंगशालामें नाटकीय पात्र कभी भी केवल स्वरके रूपमें दर्शकोंको ग्राह्य नहीं हो सकता; वे

जिस पात्रकी आवाज़ सुनते हैं उसे देखना भी चाहते हैं। यह युक्ति प्रदर्शनको भी कमज़ोर बना देगी, और दर्शकोंकी अभिनयात्मिका वृत्तिको बाधित करती रहेगी।

छोटे-छोटे, सुघड़, संवेदनशील और तीव्र नाटकीय संवाद लिखनेमें मोहन राकेश अत्यन्त कुशल हैं। 'आषाढ़का एक दिन' में उन्होंने मल्लिका-के कुछ स्वगत-कथन बहुत ही सुन्दर लिखे हैं। वर्षों बाद हिन्दी नाटकके पाठकको ऐसे कोमल, काव्यमय नाटकीय संवाद पढ़नेको मिले, उसे 'स्कन्दगुप्त' की देवसेनाके संवादोंकी याद आ गयी। पाठकों और दर्शकों—दोनोंने ही इन संवादोंमें रस लिया, भले ही हिन्दीके नाट्य-समीक्षकने स्वगत-कथनोंको नाटकोंसे वर्जित कर रखा हो। 'लहरोंके राजहंस' के संवाद भी सुगठित, प्रयोजनशील और काव्य-श्रीसे समृद्ध हैं।

किसी भी लेखककी दो कृतियोंकी परस्पर तुलना न तो आवश्यक ही है और न उससे किसी विशेष बातकी सिद्धि ही होती है। फिर भी साहित्यके समीक्षक और पाठक दोनोंके ही लिए यह बात अपने-आपमें एक कुतूहलका विषय रहती है कि किसी भी लेखककी दो कृतियोंकी उपलब्धियोंमें क्या अन्तर है? 'लहरोंके राजहंस' इस दृष्टिसे 'आषाढ़का एक दिन' के आगेकी रचना है कि इसका कथानक अधिक नाट्यगर्भित है और उसके मूल द्वन्द्वका स्वरूप अधिक स्पष्ट और तीव्र है, किन्तु साथ ही इस दृष्टिसे इसकी उपलब्धियाँ 'आषाढ़का एक दिन' से छोटी हैं कि इसका साहित्यिक तत्त्व उतना समृद्ध नहीं है जितना 'आषाढ़का एक दिन' का।

● ●

शिवप्रसाद सिंह

एक व्यक्ति : एक युग

प्रेमचन्द हिन्दीमें सिर्फ़ एक व्यक्तिका नाम नहीं है, बल्कि यह एक पूरे युगका अभिधान हो गया है। उनका कथा-साहित्य हमारे समाजके एक युगका दर्पण है। इसीको लक्ष्य करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदीने लिखा था, "अगर कोई उत्तर भारतकी समस्त जनताके आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा; सुख-दुःख और सूझ-बूझको जानना चाहे तो प्रेमचन्दसे अधिक उत्तम परिचायक इस युगमें नहीं पा सकेगा। इसे इससे अधिक सच्चाईके साथ दिखा सकनेवाले परिदर्शकको हिन्दी और उर्दूकी दुनिया नहीं जानती।"

वस्तुत: प्रेमचन्दका युग परस्पर विरोधी अनेकानेक भाव-धाराओंसे क्रमित था। भारतीय पुनर्जागरणके वे वाक्-वाहक थे। कथा-साहित्य, किसी भी युगकी जाग्रत विकासशील चिन्तन-धारा और सामान्य जन-जीवन-के बीच एक भावकल्प-सेतुका काम करता है। प्रेमचन्द इस सेतुके निर्माता थे और उसके यान्त्रिक भी। इसी कारण उनके साहित्यमें समाज-सुधार, राष्ट्रीयता, मानववाद और व्यक्ति-मर्यादा आदि अनेक भावोंका अद्भुत समन्वय दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर इन नयी परिस्थितियोंसे उत्पन्न परिवर्तनोंको वे ख़ुद जीते और भोगते दिखाई पड़ते हैं। अनमेल विवाह, ग़रीबी, तंगदस्ती, विदेशी शासनके अत्याचार, टूटते हुए परिवारोंकी कसक और पीड़ा, विधवा-विवाह, ज़मींदार, कारिन्दा और पटवारीके हथकण्डे,

* प्रेमचन्द : क़लमका सिपाही : अमृतराय

शोषण, तत्कालीन शासनकी चापलूसी और व्यक्ति-सम्मानके विकेन्द्रीकरणके प्रश्न, जो उनके कथा-साहित्यके विषय बने, किसी-न-किसी रूपमें उनके व्यक्तिगत जीवनसे भी सम्बद्ध रहे। उन्होंने इन प्रश्नोंकी सारी भयावह और कष्टदायक पीड़ाको स्वयं झेला। उनका यह संघर्षशील व्यक्तित्व उनके चरित्रोंमें पूर्णतः निक्षिप्त दिखाई पड़ता है।

ऐसे व्यक्तिकी जीवनी स्वयंमें जितनी भी महत्त्वपूर्ण हो, सरल नहीं हो सकती। प्रेमचन्दने अपने जीवनके विषयमें लिखा है—"मेरा जीवन सपाट समतल मैदान है, इसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं; पर टीलों, पर्वतों घने जंगलों, गहरी घाटियों और खण्डहरोंका स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ोंकी सैरके शौक़ीन हैं, उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।" प्रेमचन्दका यह 'सपाट' जीवन किसी भी चित्रकारके लिए चुनौती हो सकता है, क्योंकि यह एक ऐसा 'लैण्डस्केप' है जिसमें प्रकृति अपनी वदान्यतासे चित्रकारको सहायता न पहुँचाकर उसे हतोत्साह ही करती दिखाई पड़ती है।

इस ज़मीन और खमीरको चुनौतीको स्वीकार करनेके लिए कई प्रकारकी अर्हताएँ चाहिए—१. व्यक्तिका ज्ञान, २. सामग्री और उसके आधारपर चरित्रको पुनः निर्मित कर सकनेकी क्षमता, ३. तत्कालीन युगकी मूल प्रवृत्तिसे वाकफ़ियत और व्यक्तिको उसको व्यापक सीमाओंसे जोड़ सकनेकी कुशलता।

अमृतरायने इस सपाट 'लैण्डस्केप'की चुनौती स्वीकार की और उन्होंने प्रेमचन्दकी जीवनीको अपनी पूरी योग्यताके साथ एक जीवन्त 'डाकुमेण्ट' बना दिया, यह उनकी बहुत बड़ी सफलता है।

जीवनी साहित्य—'दि रिनेसाँ' की देन माना जाता है। राजपुरुषोंकी ऐतिहासिक अथवा धर्म-प्रचारकोंकी सांस्कृतिक जीवनियाँ पहले भी लिखी जाती रही हैं, किन्तु ये या तो युद्धोंका इतिहास बन गयीं या धर्म-ग्रन्थोंकी प्रचारिकाएँ जिसे शिप्लेने Biographie a the'se कहा है।

व्यक्तिके व्यक्तित्वपर ज़ोर देनेवाली जीवनियाँ तो रिनेसाँकी ही देन हैं। और फिर प्रेमचन्दका जीवन तो भारतीय रिनेसाँकी एक जीवित तसवीर ही है, उनका पूरा जीवन ही इस रिनेसाँका परिणाम है।

जहाँ तक व्यक्तिको जाननेका प्रश्न है, अमृतरायकी योग्यता स्वतः-सिद्ध है। उन्होंने प्रेमचन्दके जीवनको क्रमबद्ध रूपमें उपस्थित करनेमें कुछ भी उठा नहीं रखा है। प्रेमचन्दके सम्बन्धमें जीवनी, संस्मरण, चिट्ठी-पत्री, नज़दीकी लोगोंकी साखी, गवाहियाँ, यह सब कुछ इस विशाल इमारतके लिए ईंट-पत्थरका काम करते हैं। लेखकका कौशल इस बातमें है कि उसने इस पूरी सामग्रीकी छानबीन की और उसे इस प्रकार सजा-सँवारकर उपस्थित किया कि प्रेमचन्दका जीवन—जन्मसे मृत्यु पर्यन्तका जीवन—धीरे-धीरे खुलता चला जाये। अमृतरायने निःसन्देह यह सब एक बड़ी आत्मीयता और महान् कर्तव्य-बुद्धिसे प्रेरित होकर किया है; किन्तु इसीके साथ खतरा, एक प्रत्यवाय भी चिपका हुआ था। नज़दीकी व्यक्ति प्रायः ही इस खतरेके शिकार हो जाते हैं। यह खतरा है अति मूल्ययनका। यह दुहरा होता है। एक तो निकटताके कारण जीवनीकार व्यक्तिको बहुत बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित करता है, दूसरे उसकी त्रुटियों और कमज़ोरियों-को तोप-ढाँककर उपस्थित करता है या यदि ऐसा न कर सके तो उन्हें दार्शनिक जामा पहनाकर बड़ी बातका रूप देनेकी कोशिश करता है। यह दोहरा खतरा अमृतरायके भी सामने था। परन्तु वे इससे काफ़ी हद तक बचनेमें सफल हुए हैं।

अमृतराय इससे पूरी तरह बच सके हैं, यह कहना तो शायद ठीक न होगा; पर इससे वे बचे रहे। इसलिए उन्होंने शायद आवश्यकतासे अधिक तटस्थताकी एक आन्तरिक चेतनाको सब जगह प्रधानता दी है। इसी कारण जब वे प्रेमचन्दकी ऐसी प्रवृत्तियोंका चित्रण करते हैं जो स्वयंमें अच्छी और महान् हैं, किन्तु व्यवहारमें उन्हें कमज़ोर या असफल सिद्ध करती हैं, तो एक हलके-से व्यंग्यका पुट अपने-आप आ जाता है।

यह जीवनीकार और वर्ण्य व्यक्तिके बीचकी तटस्थताको समाप्त कर देता है। उदाहरणके लिए कृष्णकुमार मुखोपाध्यायका प्रसंग। इस प्रसंगमें प्रेमचन्दकी कोई ग़लती थी तो सिर्फ़ यही कि "वे आँखें बिछाये बैठे रहते हैं कि कब कोई प्रतिभावान् दिखाई पड़े और वे उसका स्वागत करें"। बहरहाल इस बारका स्वागत उनके लिए बहुत महँगा पड़ा। "तब यह बात खुली कि यह सब मुन्शीजीके 'नये बेटे'की करतूत थी और मुन्शीजी थे कि झेंपके मारे उनकी आँखें बीबीके सामने न उठती थीं। 'नये बेटे'का यह व्यंग्य एक ऐसी तटस्थताका सूचक है जिसमें अनजाने ही 'पुराने या असली बेटे'का वाजिब आक्रोश भी थोड़ा-सा घुला-मिला लगता है, यह सही है कि ऐसा शायद इसलिए होता है कि पाठकोंको अमृत और प्रेमचन्दका रिश्ता पहलेसे मालूम है। ऐसा इस जीवनीमें अनेकशः हुआ है। जब लेखक एक आदर और प्यार-मिश्रित भावसे प्रेमचन्दपर फ़बतियाँ कसनेमें नहीं चूकता।

इस जीवनीकी सबसे करारी मुहिम शायद प्रेमचन्दका प्रथम पत्नीसे सम्बन्ध-विच्छेदकी है। जीवनीकार सर्वत्र प्रेमचन्दको पक्का गृहस्थ, किसान मानता है। पूरी जीवनीमें प्रेमचन्दको रूढ़ियोंसे निरन्तर जूझनेवाला संघर्षरत प्राणी कहा गया है। वे एक प्रबल सुधारकके रूपमें हमारे सामने आते हैं। प्रथम पत्नीका त्याग इनके इन सभी रूपोंके सामने प्रश्न-चिह्न लगा देता है। यह न तो सामान्यतः किसान करता है, न गृहस्थ और न तो सुधारक। जीवनीकार लिखता है—"विदाई हुई। और नवाब (!) अपनी शीरीं, अपनी लैलाको ऊँटगाड़ीपर बिठाकर [हाँ, ऊँटगाड़ी ! नियति कभी अधूरा व्यंग्य नहीं करती !] अपने घर ले चला। × × देखते ही शकलसे नफ़रत हो गयी, भद्दी, थुलथुल, फूहड़। इतना ही नहीं 'उनके' चेहरेपर चेचकके गहरे-गहरे दाग़ थे और एक टाँग कुछ छोटी थी, जिसके कारण ग़रीबको कुछ भचककर चलना पड़ता था। महीनेमें एकाध बार हबुआती भी ज़रूर थीं, जब इनपर भूत-प्रेत आते थे। सुनते हैं दिमाग़में कुछ खलल भी था। क्योंकि लड़ाई होनेपर अपने पतिसे कहती

थीं—हमें तुम्हें गदहा छाननेके पगहेमें बँधवाकर मँगा लेंगे। ऐसे-ऐसे जादू टोने हैं हमारे पास।''

इस चित्रमें, जिसे जीवनीकार 'औरतका कार्टून' कहता है, एक साथ ऐबोंकी इतनी बड़ी तालिका सामने आती है कि सहसा सन्देह हो जाता है कि क्या सच इतनी-इतनी 'ख़ूबियाँ' उस औरतमें एक साथ इकट्ठा हो गयी थीं। प्रमाणोंके बिना एक क़दम आगे न चलनेवाला लेखक यहाँ अपने 'सुनते हैं' पर भरोसा कर लेता है। बहरहाल यह प्रसंग प्रेमचन्दके जीवनका सबसे कमज़ोर अंश है और इस जीवनीके बाद भी वह अपनी जगहपर ही वर्तमान है। कमज़ोर यह इसलिए नहीं है कि एक लेखकके जीवनकी घटना है बल्कि इसलिए कि यह पूरी घटना प्रेमचन्दके व्यक्तित्वसे मेल नहीं खाती। इसलिए हमें इसे उनकी विवशता ही मान लेनी चाहिए जैसा कि लेखकने लिखा है, "अगर यह बात सच भी हो कि स्त्री जानकी मैयाके समान ही निर्दोष थी तो भी शायद इस मामलेमें प्रेमचन्दको मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रके समान दोषी ठहराना भी अन्याय हो, क्योंकि यह प्रसंग केवल दु:खकर है।''

इस जीवनीका दूसरा पक्ष है व्यक्तिको तत्कालीन परिवेशके साथ सही ढंगसे जोड़ने और प्रतिष्ठित करनेका। अमृतरायको यहाँ भी स्पृहणीय सफलता मिली है। उन्होंने भारतीय पुनर्जागरणके प्रत्येक पहलूका विशद परिचय इस एकाग्रताके साथ दिया है कि उससे प्रेमचन्दके जीवनके उस पहलूको चमकाया जा सके। राजनीतिक आन्दोलनोंके चित्रण और उद्धरण कई स्थानोंपर आवश्यकतासे अधिक विस्तृत और भारी प्रतीत होते हैं। सुधारवादी, आदर्शवादी प्रेमचन्दकी अन्तिम कहानियाँ 'क़फ़न', 'पूसकी रात' आदि गहन निराशामें समाप्त होती हैं। गोदानके होरीमें भी यह निराशा किसी-न-किसी रूपमें झलक जाती है। ये प्रश्न प्रेमचन्दके हर पाठकको परेशान करते हैं। ऐसा क्यों हुआ? जीवनीके अट्ठाईसवें प्रकरणमें राष्ट्रीय आन्दोलनोंकी विफलता और प्रेमचन्दकी निजी स्थितिको

विषमताका जो चित्रण किया गया है वह इस 'क्यों' का उत्तर भलीभाँति दे देता है। दर्दका हदसे गुज़रना है दवा हो जाना....।

चुनारमें खेलके मैदानमें गोरे सैनिकोंसे लड़ाई और गोरखपुरमें कलक्टर या इन्स्पेक्टरके साथ उनकी मुठभेड़के दो क़िस्सोंको छोड़कर उनके जीवनमें उग्रमतवादका प्रभाव ढूँढ़ना उचित नहीं मालूम होता। किसान स्वभावसे ही समझौतावादी होता है, और गान्धीवादीका तो यह फ़लसफ़ा है ही। तिलकका प्रभाव रहा होगा, क्रान्तिकारियोंसे सहानुभूति थी, पर वे मूलत: गोखले और गान्धीके शान्ति-पथके ही पथिक थे। वे क़लमके सिपाही थे; पर सत्याग्रही कोटिके, हिंसक कोटिके नहीं।

जीवनकी सामग्रीके रूपमें प्रेमचन्दकी कहानियोंका भी बहुत बार इस्तेमाल हुआ है। 'दफ़्तरी'-जैसी कुछ कहानियोंमें जहाँ प्रेमचन्दकी दृष्टिसे तख़य्युलका बहुत कम दख़ल है, भले ही जीवन सम्बन्धी कुछ सूत्र हाथ आ जायें। वैसे अमूमन उनकी कहानियोंके भीतर उनकी जीवन-चर्या ढूँढ़ना उनके साथ अन्याय करना कहा जायेगा। यह सही है कि परिवेश, चरित्र आदिके चित्रणमें लेखकके अनुभव और दृष्टिकोणकी पूरी छाप होती है; पर उसे जीवन मान लेना कथा-साहित्यमें 'तख़य्युल' के उचित अधिकारमें हस्तक्षेप करना कहा जायेगा। इसमें एक दूसरी तरहकी भी लाभ-हानि दिखाई पड़ती है।

अनेक अवसरोंपर उनकी कहानियों या उपन्यासोंको चरित्र या घट-नाओंके उनके जीवनकी असली घटनाओं या चरित्रोंसे जोड़ देनेके कारण एक नये अर्थकी सृष्टि हुई है। यह अर्थ कभी ज़्यादा सुन्दर तो कभी ज़्यादा बदतर भी हो सकता है। साहित्यको तटस्थ साहित्यके रूपमें पढ़ने-वाले पाठकके मनमें उत्पन्न सांकेतिक रूप-सौन्दर्य या अर्थ कभी-कभी क्षतिग्रस्त भी हो सकता है।

जो भी हो, प्रेमचन्दकी यह जीवनी प्रेमचन्दके पूरे व्यक्तित्व और साहित्यको एक व्यापक जीवन्त पृष्ठभूमि प्रदान करती है, इसमें सन्देह

नहीं।' प्रेमचन्दका व्यक्तित्व कहीं ज़्यादा स्थूल, स्पष्ट, धूल-माटीसे लिपटा, संघर्षरत, रोजमर्राकी समस्याओंसे जूझता, गिरता-उठता हमारे सामने खड़ा हो गया है। यह जीवनी एक प्रकारसे हिन्दीके आधुनिक युगके आरम्भका ज्ञान-कोश बन गयी है। इसके माध्यमसे अनेक समस्याएँ—राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक जो हमारे देशके इतिहासका अंग बन गयी हैं, नये सिरेसे एक व्यक्तिका सन्दर्भ बनकर उठी हैं और ये 'प्रेमचन्द व्यक्ति' को समझनेमें सहायक हुई हैं। इनसे हमारे साहित्यपर एक नया प्रकाश पड़ा है।

अमृतने इसे कथाकी शैलीमें लिखा है, इसे वे एक परिचित व्यक्ति पर आधारित उपन्यास कहना चाहते हैं। उन्हें अफ़सोस है, "घटना-प्रसंगोंका आविष्कार करनेकी मुझे छूट नहीं है, कितने ही मोटे-मोटे रस्सोंसे मैं अच्छी तरह खूँटेसे बँधा हुआ हूँ लेकिन मुझे उसकी शिकायत नहीं है।" वस्तुतः प्राप्त सामग्रीके आधारपर अमृतने प्रेमचन्दको पुनर्निर्मित नहीं तो पुनः अन्वेषित अवश्य किया है। वे अपने चरित्रके साथ इतने तन्मय हो रहे हैं कि उनका चित्रण जीवनसे स्पन्दित और अनुभूतियोंसे अनुप्राणित दिखाई पड़ता है। प्रेमचन्दके बचपनको तो जैसे उन्होंने 'अशिथिल' समाधिकी अवस्थामें पहुँचकर लिखा है, हिन्दीमें बचपनका इतना सुन्दर, मार्मिक भावपूर्ण वर्णन कम ही दिखाई पड़ता है।

'क़लमका सिपाही' अमृतरायकी प्रशंसनीय कथोपलब्धि मानी जायेगी। यह अद्भुत क़िस्सागोई और षट्रस ज़बान किसीको भी एक बार अपनी लपेटमें ले लेगी, इसमें तनिक सन्देह नहीं। हिन्दी भाषाकी शुद्धताके प्रेमी शायद भाषासे नाक-भौं सिकोड़ें; पर भाषाकी जीवनी-शक्तिसे जो परिचित हैं, वे इसकी प्रशंसा ही करेंगे और अमृतको हार्दिक बधाई देनेमें कभी संकोचका अनुभव न करेंगे।

● ●